भारत के स्त्री-रत्न

[वैदिक काल]

पहला भाग

अनुवादक

रामचन्द्र वर्मा : शंकरलाल वर्मा

१९४९

हिन्दी मंदिर, प्रयाग

प्रकाशक—

बृहस्पति उपाध्याय,

हिन्दी मंदिर, प्रयाग

छठी बार : १९४९

मूल्य

अढ़ाई रुपए

मुद्रक—

बालकृष्ण एम० ए०,

युगान्तर प्रेस, मोरी गेट,

दिल्ली।

प्रकाशक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक के अबतक हम तीन भाग प्रकाशित कर चुके हैं—पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई है कि पहिले भाग का यह छठा संस्करण हुआ है। इस भाग में वैदिक काल की पतिपरायणा सावित्री और अरुन्धती, जगन्माता पार्वती, वेदज्ञिनी रोमशा और विश्ववारा, ब्रह्मवादिनी सूर्या और जुहू, तर्क-प्रवीणा गार्गी, सदाचारिणी सुकन्या, त्यागमयी शर्मिष्ठा, ध्रुवमाता सुनीति तथा सत्यवादिनी शैव्या आदि अनेक आर्य देवियों के उज्ज्वल चारित्रों का सरल-सुबोध भाषा में दिग्दर्शन कराया गया है।

दूसरे भाग में रामायण और महाभारत-काल की आर्य ललनाओं तथा तीसरे भाग में जैन और बौद्धकालीन नारियों के चरित्रों का समावेश है।

काल-क्रमानुसार भारतीय इतिहास में से इसी प्रकार अन्य संग्रह तैयार किये जा रहे हैं, जिन्हें सुविधानुसार शीघ्र ही पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जाएगा।

हमें विश्वास है कि पहले भाग के इस नवीन और परिवर्धित संस्करण का पाठक हृदय से स्वागत करेंगे।

विषय-सूची

उपोद्घात

भारतीय सभ्यता का प्राचीनतम समय वैदिकयुग है। यदि हम इस युग को संसार की सभ्यता का श्रेष्ठतम युग भी कहें, तो अत्युक्ति न होगी। इस समय पृथ्वी में अनेक सुधरी हुई जातियाँ हैं, जिनका अनुकरण करने में हम अपना गौरव समझते हैं। परन्तु उस काल में तो इन अनेक जातियों का कहीं पता भी न था, तथापि हमारे पूर्व-पुरुषों ने उस प्राचीन समय में भी जीवन के उच्च आदर्श तथा परमात्मा और समाज-विषयक कई महान्-महान् कल्पनाओं और भावनाओं को जन्म दिया था।

इस वैदिकयुगीन समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था। वे स्वतंत्र थीं, उनकी शिक्षा आदि का भी अच्छा प्रबन्ध था, उन्नति के लिये ज्ञान और धर्म में विकास करने का पूरा मौक़ा मिलता था। स्त्रियाँ पुरुषों की क्रीड़ा और भोग की सामग्री नहीं समझी जाती थीं। समाज की सब तरह से उन्नति करने में हाथ बटाने का उन्हें अधिकार था। यजमान-पत्नी के बिना यज्ञ-कार्य अधूरा समझा जाता था। वैदिक-संस्कार और शिक्षा प्राप्त करने का भी उन्हें सम्पूर्ण अधिकार था। यम और हारीत के ग्रन्थों से पता चलता है कि प्राचीनकाल में कुमारिकाओं का भी उपनयन-संस्कार होता था। यज्ञोपवीत धारण करके वे वेदाध्ययन और अग्निहोत्र की अधिकारिणी बन जाती थीं। इस युग में ब्रह्मवादिनी स्त्रियों की भी कोई कमी नहीं थी। घोषा, सूर्या, विश्ववारा, लोपामुद्रा, इन्द्राणी आदि मन्त्रद्रष्ट्री देवियाँ इसी काल में हुई थीं, जिनके चरित्र भी इस चरित्र-माला में दिये हैं। इनके द्वारा जो सूक्त रचे गये उनके भाव बड़े ही ऊँचे हैं। वैदिक सूक्तों के अर्थ के विषय में बहुत भारी मतभेद है। हमने इन मन्त्र-द्रष्ट्रियों के सूक्तों का अर्थ एक आर्यसमाजी विद्वान् के मतानुसार दिया है। विवाहादि संस्कार-प्रसंगों पर आज भी भक्तिपूर्वक इन सूक्तों का पाठ किया जाता है। स्त्री-जीवन के किस आदर्श को इन कोमल-हृदया आर्य-महिलाओं ने प्राप्त किया था, यह

तो उनके चरित्र ही से ज्ञात होगा।

आचार्य श्री आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव के शब्दों में कहना चाहें तो, "ऋषियों की परमात्मा-सम्बन्धी प्राचीनतम भावना पुरुष-रूप में नहीं स्त्री-रूप में ही प्रकट हुई थी।

" 'अदिति' शब्द से ही 'आदित्य' शब्द बना है। इस अदिति की कल्पना किसी देवता की स्त्री के रूप में नहीं की गई है। इसे तो स्वतन्त्र आदि कारण—देवताओं की माता माना गया है फिर स्त्री की मूर्ति उन्हें कितनी मनोहर मालूम होती थी, यह तो उषा के असंख्य वर्णनों में कहे गये प्रत्येक शब्द से ज्ञात होता है। स्त्री और पुरुष यज्ञों में एकसाथ भाग लेते, स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर घर के मालिक (दम्पति=दमः—घर+पति—मालिक) समझे जाते थे। और न गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते—ईंट-मिट्टी का मकान गृह नहीं, गृहिणी गृह है। यह वचन बहुत आधुनिक लगता है, परन्तु इस बात के कई प्रत्यक्ष प्रमाण पाये गये हैं कि यह कोमल भाव वैदिक काल में भी था। मण्डल ३४–९३ में ऋषि जायेदमस्तं मघवन् सेदुयोनिः—'हे मघवन् (इन्द्र)! स्त्री ही घर है, वही सबकी मूलभूता है—' इस प्रकार स्त्री का महत्त्व बताकर इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि वह गृहस्थाश्रमी के यहाँ आवे।"

वैदिक काल में एकसाथ अनेक स्त्रियाँ रखने का रिवाज था या नहीं, इस विषय पर विचार करते हुए विद्वान् आचार्य ध्रुव कहते हैं—"बहुधा राजा अनेक स्त्रियों से विवाह करते होंगे, परन्तु जन-समाज में तो सामान्यतः एक ही पत्नी रखने का रिवाज रहा होगा (जैसे वशिष्ठ की अरुन्धती)। क्योंकि दसवें मण्डल में लग्न-सम्बन्धी जो सूत्र आया है उसमें पति-पत्नी के तत्कालीन सम्बन्ध के विषय में विचार पाये जाते हैं। वधू का उसमें निम्नलिखित आशीर्वाद दिया गया है—

सम्राज्ञीश्वशुरेभव सम्राज्ञीश्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञ्याधिदेवृषु॥

'श्वसुर पर तू महारानी-पद को प्राप्त कर, सास पर सम्राज्ञी-पद प्राप्त कर, इसी प्रकार ननद और देवर पर भी सम्राज्ञी-पद को प्राप्त करले।'

"इसमें सपत्नी (सौत) का उल्लेख नहीं है। यदि उस समय एक-साथ अनेक स्त्रियों से शादी करने की प्रथा होती, तो हम यह आशीर्वाद सबसे पहले पढ़ते कि तू सपत्नियों पर सम्राज्ञी-पद प्राप्त कर। इसी सूक्त में इस बात के समझने के लिए भी बहुत-से वचन हैं कि उस समय पति-पत्नी के स्नेह की भावना कितनी ऊँची रही होगी। वर-वधू देवताओं से प्रार्थना करते हैं कि वे उनके हृदयों को एक-दूसरे के साथ जोड़ दें—मिला दें। पाणि-ग्रहण के समय वर कहता है, 'सौभाग्य के लिए मैं तेरा हाथ पकड़ता हूँ। मेरे साथ तू वृद्धा हो। भग, सविता, पुरंध्रि और अर्यमा इन देवताओं ने गृहस्थाश्रम भोगने के लिए तुझको मेरे अर्पण किया है।'

"पति-पत्नी साथ-साथ हों, इससे बढ़कर सुख संसार में नहीं है। यह पवित्र भाव आर्य ऋषियों को बड़ा प्रिय लगता था। इसी सूक्त में वर फिर कहता है, 'हे अर्यमा हमें ठेठ वृद्धावस्था के अन्त तक के लिए एकसाथ जोड़ दो।' किसी दूसरे सूक्त में कहा है, 'इस घर में अपने प्यारे पति को प्रजा देकर सुखी कर। इस घर में अपने गृहपत्नीपन का उपभोग करने के लिए जगती रह। इस पति के साथ अपना शरीर जोड़ दे और ठेठ वृद्धावस्था तक तुम एकसाथ ही परमात्मा की ज्ञानभरी प्रार्थना करो।'

"अच्छे दिलवाली, अच्छे शरीरवाली, वीर माता, देवकामा अर्थात् धार्मिक वृत्तिवाली, सर्वत्र शान्तिदायक आँखोंवाली और घर के सभी मनुष्य और पशुओं के लिए कल्याणकारी स्त्री की चाह ऋषि हमेशा किया करते हैं। पत्नी का सम्बन्ध केवल इस लोक के लिए ही नहीं. परलोक में भी पति के साथ पत्नी का वास कहा गया है। शुक्ल यजुर्वेद-संहिता में भी सर्वोपरि द्यु लोक में पत्नी-सहित जाने की इच्छा प्रकट

की गई है। अथर्ववेद में पत्नी को उपदेश दिया गया है कि पति के साथ धर्माचरण करके वह अमृतत्त्व के लिए तैयार रहे।

"×× ऋग्वेद-संहिता के समय की एक उच्च भावना को अथर्ववेद-संहिता के समय अधमता को पहुँची हुई देखकर हमें बड़ा शोक होता है। अथर्ववेद में आते-आते हम सपत्नी के दुःख को इतना बढ़ा हुआ देखते हैं कि स्त्रियों की तरफ से हमारे कानों पर यह प्रार्थना आती है, 'मेरी सपत्नी को पीछे हटा; मेरे पति को मुझ अकेली का ही पति बना दें।"

"लग्न-सूक्त में सास-ससुर और ननद-देवर पर साम्राज्य प्राप्त करने के मंत्र के साथ यह भी जोड़ दिया गया है कि सिन्धु नदी के समान पति के घर जाकर साम्राज्य-पद प्राप्त कर। साथ ही पति को वश में करने के लिये तथा सपत्नी को निकालने के लिए जड़ी-बूटी खोदने का एक मलिन मंत्र भी अथर्ववेद में पाया जाता है इससे प्रतीत होता है कि मूल में जो परिवर्तन हुआ वह अनार्यों की संगति का परिणाम होगा। अथवा अभी वह शायद केवल नीचे के वर्ग के लोगों के लिए ही होगा।

"ब्राह्मण—आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों के काल में पाया जाता है कि स्त्री की प्रतिष्ठा तत्त्वज्ञान की सहायता से प्रतिपादित की गई है।

"हम देखते हैं कि ऋग्वेद के समय में स्त्रियों ने मंत्रों की रचना की है। उपनिषत्काल में मैत्रेयी, गार्गी जैसी सुप्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ हो गईं और इसके बाद के काल में—यदि भागवत का प्रमाण लेकर चलें तो—हम देखते हैं कि वपुना और धारिणी नामक दो अविवाहित स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी हो गई हैं। सबसे विशेष जाननेयोग्य बात तो यह है कि इस काल में यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित हो गया था कि सुयोग्य माता के बिना ब्रह्मविद् होना असम्भव है।

"×× स्वयं शंकराचार्य ने कहा है कि जिस पुत्र को अनुशासन-

शिक्षा आदि देनेवाली माता हो वही मातृमान है।"

"×× उपनिषद् के समय से देश में वैराग्य की भावना फैलने लग गई। इसलिए यह स्वाभाविक है कि याज्ञवल्क्य जैसे विरागी तत्त्ववेत्ता को संसार-निरता कात्यायनी की अपेक्षा अमृतत्त्व की इच्छा करनेवाली मैत्रेयी अधिक प्रिय थी। धीरे-धीरे यह कल्पना रूढ़ होने लगी कि स्त्री स्वभावतः ही संसार में विशेष आसक्त रहती है। इसलिए कात्यायनी को स्त्री-प्रजा अर्थात् स्त्री-बुद्धिवाली कहा गया। मालूम होता है कि पुत्र के अभाव तथा ऐसे ही अन्य कारणों से एकाधिक पत्नी करने का रिवाज पहले की अपेक्षा अब अधिक ज़ोर-शोर से प्रचलित हो चला था। पर इस बात में अपने पूर्वजों की कड़ी टीका करने के पहले हमें दो बातें विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिएँ। एक तो यह कि समस्त आर्य-जाति की प्रजा में स्वभावतः और परिस्थिति के कारण भी पुत्र के लिए बड़ी उत्कट अभिलाषा रहती थी और दूसरे यह कि अन्य देशों की जातियों के समान तलाक देकर अनिष्ट पत्नी के भरण-पोषण की चिन्ता से सिर चुराने तथा नाम-मात्र के एकपत्नी-व्रत की अपेक्षा वे अनेक पत्नियों को एकसाथ रखना अधिक बुरा और अप्रामाणिक व्यवहार नहीं समझते थे। तीसरे, प्राचीन काल में हमारे देश में वेश्याएँ नहीं थीं। इसलिए यदि किसी पुरुष को एक से अधिक स्त्रियों से शादी करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी तो वे उसे बुरा नहीं मानते थे। पर यह खुलासा इसलिए नहीं दिया जा रहा है कि हम बहु-पत्नी वाली प्रथा की प्रशंसा या बचाव करना चाहते हैं। हम तो केवल यही बताना चाहते हैं कि कुछ कारणों से वह कुप्रथा भी क्षन्तव्य हो गई थी।"

"वेदांग के समय में आने पर हमें यास्क का निरुक्त एक मुख्य ग्रन्थ दिखाई देता है। इसमें देवर का अर्थ बताते हुए लिखा है कि स्त्री देवर के साथ बाजी खेलती है (दीव्यतेः) इसलिए उसे देवर कहा जाता है। इसपर से कुटुम्ब में देवर-भौजाई आपस में किस तरह

रहते थे, इसका हमें ख़याल हो सकता है। दूसरे, इसमें एक स्थान पर इस प्रश्न की भी चर्चा की है कि पुत्र और पुत्री दोनों अपने पिता के एकसे वारिस हो सकते हैं या नहीं। एक जगह यह भी लिखा है कि दोनों अपने माता-पिता के शरीर से उत्पन्न होते हैं इसलिए दोनों उनके एकसे उत्तराधिकारी हैं। अन्त में यह तय किया कि जिस लड़की के भाई न हों उसे दाय का अधिकार है। यह बात तो स्वभावतः जानने योग्य है कि दोनों का अधिकार समान हो। परन्तु लड़की को वारिस न बनाने के लिए यास्क ने जो कारण पेश किया है उसे जानकर दुःख होता है—"लड़की को फेंक देते हैं, लड़के को नहीं; स्त्रियों का दान, व्यापार किया जाता है, पुरुषों का नहीं।" सचमुच यह स्थिति दुःखद है। जैसा कि टीकाकार कहता है, यदि यह दान, बिक्री या त्याग भिन्न-भिन्न प्रकार के विवाह हों तो वह इतने दुःख का कारण नहीं है। पर मुझे भय है कि आजकल स्त्रियों की जो अवमानना होती है उसका आधार कहीं यही वाक्य न हो! फिर दुहिता शब्द का निर्वाचन करते हुए यास्क कहता है कि साझे में रखी हुई, दूर देश अथवा पराये घर की शादी की हुई, अथवा दोग्धेः अर्थात् माता-पिता के पैसे दुहने वाली, या जैसा कि ओरियेंटल स्कालर कहते हैं गायों का दूध दुहने वाली। ये दो व्युत्पत्तियाँ तो ठीक हैं; किन्तु दुर्हिता अर्थात् बुरी आई हुई, जिसका आना दुःख-रूप है और दुरेहिता (दूसरे के घर ही भली) का अर्थ तो दुःखद ही है। हाँ, यदि ससुराल में लड़की के दुःखों को देखकर माता-पिता के मुँह से दया के कारण ये वचन निकलते हों तो हमें माता-पिता पर रोष न होगा। परन्तु ससुराल के लोगों पर तो फिर भी ज़रूर रोष होगा।

"यास्क का समय वेद के समय से कितना भिन्न था, इसका ठीक-ठीक अनुमान इसीपर से हो सकता है कि ऋग्वेद-संहिता की कितनी ही ऋचाओं में लड़की के दायित्व की चर्चा की गई है। परन्तु इसमें लड़की को वारिस न बनाने के लिए यह कारण पेश नहीं किया है कि

लड़की लड़के से किसी प्रकार कम महत्त्व रखती है, बल्कि उसने तो यह कहा कि गर्भ में आते ही लड़की दामाद का धन हो जाती है। यदि उसकी माँ के लड़का होते हुए भी वह अपनी लड़की को ही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनावे तो यह परिस्थिति खड़ी हो जायगी कि वंश का कल्याण तो करे लड़का और सम्पत्ति का उपभोग करे लड़की, जो अनुचित है।

"धार्मिक बातों में भी यास्क का समय असन्तोषजनक था। वेद के अर्थ से धार्मिक तेज चला गया था। अतः यदि संसार की आदि-देवता स्त्री के विषय में भी निकृष्ट विचार उत्पन्न हो गये हों तो इसमें आश्चर्य की क्या बात? इस समय की धर्म-हीनता से देश का निस्तार दो प्रकार से हुआ। एक तो बुद्ध और महावीर द्वारा जगाई हुई वैराग्य की नवज्योति और दूसरे भगवान् कृष्ण-प्रवर्तित कर्मज्ञान और भक्ति की अद्भुत एकता वाले उपदेश।"

(नारी-प्रतिष्ठा : वसन्त, पु० ७ अंक १)

रामायण के समय में स्त्रियों की जो दशा थी उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय विद्वान् रा० ब० चिन्तामणि विनायक वैद्य अपने मराठी ग्रन्थ में लिखते हैं, "स्त्रियों के कर्त्तव्य की कल्पना भी उस समय बड़ी ऊँची थी। आर्य स्त्रियों के मानी थे सुशीला स्त्रियाँ। वे अपने पति को ही अपना देवता, गुरु और सर्वस्व समझती थीं। पति के साथ वे खुशी-खुशी जंगलों में जातीं। यह मानतीं कि पति के सहवास में जो सुख प्राप्त होता है वह स्वर्ग में भी नहीं मिल सकता, उसके बिना राज्य-वैभव भी नरक के समान है। पति की सेवा करने में उन्हें अत्यन्त आनन्द होता था। राजैश्वर्य में नौकरों की क्या कमी? पर फिर भी जब रामचन्द्रजी बैठते तो सीताजी खड़ी रहकर उनपर पंखा झलतीं।" इस भावना और बर्ताव वाली स्त्रियाँ कितनी तेजस्वी होंगी, इसकी कल्पना हम आसानी से कर सकते हैं। अतः यदि हम यों कहें तो अत्युक्ति न होगी कि ऐसी स्त्रियों के आस-पास सद्गुणों का एक अभेद्य

कवच ही बना रहता था। लोगों में यह मान्यता थी कि ऐसी पतिव्रता स्त्रियों का अपमान करने से हमपर भयंकर ईश्वरी कोप होगा। पतिव्रता के अश्रु ज़मीन पर व्यर्थ नहीं पड़ेंगे। मतलब यह कि उस ज़माने की स्त्रियाँ अपने पातिव्रत सद्‌गुण के कारण अपनी जाति, स्वामी और समाज के लिए भूषण-रूप थीं। अन्य बातों में भी उस समय की स्त्रियों की—खासकर ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्रियों की—योग्यता बहुत ऊँची थी। वे घर पर रहकर वेदाध्ययन कर सकती थीं। संध्यावन्दन, होम वगैरा वैदिक क्रियाएँ करने का अधिकार उन्हें प्राप्त था। क्षत्रिय स्त्रियाँ क्षत्राणियों के योग्य विद्याएँ सीखतीं। यह पढ़कर किसे आश्चर्य नहीं होगा कि कैकेयी ने रण-संग्राम में कैसे समय पर दशरथ के सारथी का काम किया था? यद्यपि स्त्रियाँ बहुधा बाहर जाती-आती नहीं थीं, तथापि उत्सव अथवा यज्ञ-विवाह जैसे शुभ प्रसंगों पर स्त्रियों को बाहर निकलने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं थी। इस प्रकार स्त्रियों को उचित शिक्षा भी दी जाती थी और आवश्यक स्वतन्त्रता भी उन्हें प्राप्त थी। वे संसार में हर प्रकार अपने पति की सहायिका रहती थीं।

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि भारतवर्ष में स्त्रियाँ अविवाहित रह सकती थीं। कन्याओं का विवाह भी होता था, परन्तु इतनी कम उम्र में नहीं जितनी में कि आजकल होता है। रूप, गुण और कुल में समान वर को ही कन्या दी जाती थी। बाल-विवाह और अनमेल विवाह तो हमारी अधोगति के ज़माने में ही प्रचलित हुए हैं। कन्या के लग्न के सम्बन्ध में मनु भगवान् कहते हैं—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विदेत सदृशं पतिम्॥ (मनु ९-९०)

अर्थात्—कन्या रजस्वला होने पर तीन वर्ष तक पति की खोज करती रहे और अपने योग्य पति को प्राप्त करे।

इन्हीं मनुजी ने यह भी कहा है कि ऋतुमती कन्या भले ही

जीवन भर घर में कुमारी रहे परन्तु गुणहीन पुरुष से कदापि शादी न करे।

स्त्री-जाति का आदर करने के लिए मनुस्मृति में ख़ास तौर पर उपदेश दिया गया है। कहा है कि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवताओं का निवास होता है; जहाँ उनका निरादर होता है वहाँ सभी शुभ क्रियाएँ निष्फल होती हैं। पति-पत्नी को एक-दूसरे के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए, यह बताने के लिए स्मृतिकार लिखते हैं—जिस कुल में स्त्री पुरुष से और पुरुष स्त्री से सदा प्रसन्न रहते हैं उस कुल में आनन्द, कीर्ति और लक्ष्मी निवास करती है और जहाँ उन दोनों में लड़ाई-झगड़ा या विरोध होता है वहाँ दुःख और दारिद्र्य हमेशा बसते हैं।

प्राचीन काल के वैद्य भी आरोग्य की दृष्टि से बाल-विवाह का निषेध करते थे। सुश्रुत में लिखा है—"सोलह वर्ष से कम उम्र वाली स्त्री से पचीस वर्ष से कम उम्र वाला पुरुष यदि गर्भ-स्थापना करे तो गर्भ कोख में ही कष्ट पाता है—अर्थात्, गर्भ-पात हो जाता है। यदि कहीं उस गर्भ में सन्तानोत्पत्ति हुई भी तो वह दीर्घायुषी नहीं हो सकती। यदि संयोग-वश बच्चा जीता बचा रहा तो वह दुर्बल और नित्य रोगी बना रहता है। इसलिए कम उम्र की स्त्री में कभी गर्भ-स्थापना नहीं करनी चाहिए।" धन्वन्तरि जैसे आर्य-भूमि के जलवायु तथा देशवासियों की प्रकृति से सुपरिचित वैद्यराज का यह स्पष्ट अभिप्राय है। तथापि ईसवी सन् १८९१ तक हमारे देश में विवाह योग्य लड़की की आयुमर्यादा १० वर्ष की मानी जाती थी और जब सन् १८९१ में यह क़ानून बना कि १२ वर्ष से कम उम्र वाली लड़की से कोई शादी न करे तब लोगों ने उसका घोर विरोध किया था। अभी भी शारदा-बिल पर कुछ अन्धविश्वासी लोगों को आपत्ति है। जब डा० गौड़ ने धारा-सभा में एक इस आशय का क़ानूनी मसविदा पेश किया कि लड़की की विवाह-योग्य उम्र १४ वर्ष की समझी जाय, तब इसमें

भी कितने ही विद्वान् सभासदों का मत था कि पर-पुरुष को ज़रूर १४ साल से कम उम्र वाली लड़की के साथ सम्बन्ध करने के अपराध में सज़ा दी जानी चाहिए, परन्तु पति के लिए तो इतनी छूट देना ज़रूरी है कि वह बारह वर्ष की उम्र वाली पत्नी के साथ भी सम्बन्ध कर सकता है, क्योंकि अभी तक हिन्दुओं का अधिकांश हिस्सा इस बात को मानता है कि रजस्वला होते हुए स्त्री को पति के पास रहना चाहिये। बीसवीं सदी की हालत को देखते हुए हम अनुमान कर सकते हैं कि हमारे प्राचीनकालीन पूर्वज इस विषय में कितने उन्नत और उचित विचार रखते थे। हमें यह मानना होगा कि प्राचीनकाल में आर्य ललनाएँ जो बड़े-बड़े वीरता के काम और अद्भुत पराक्रम करती थीं इसका कारण बाल-विवाह का अभाव ही था। उनमें बाल-विवाह प्रचलित न होने के कारण उनके शरीर, अवयव और बुद्धि पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाते थे। आजकल की बारह-बारह वर्ष की गुड़ियों की सन्तान क्या तो बलवान विदेशियों के साथ जूझेगी और क्या देश का उद्धार करेगी ? देश के नेताओं को परस्पर इसपर विचार करना चाहिए।

बुद्ध भगवान् का आविर्भाव होते ही देश में धर्म का एक नवीन आन्दोलन शुरू हुआ। सभी संसार को दुःखरूप मानने लग गये। संसार दुःखमय है, जीवन क्षण-भंगुर है, सुख-दुःख की भावनाएँ केवल मोह हैं, मनुष्य का मुख्य उद्देश्य तो निर्वाण अथवा मुक्ति ही है, इत्यादि भाव लोगों के दिल में बैठ गये। बौद्ध परिव्राजकों ने समाज में यही उपदेश दिया। इस उपदेश के कारण लोग संसार को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। सांसारिक कर्तव्यों की ओर से लोगों का ध्यान हट गया। अनेक ने घर-संसार का त्याग किया और लोग निर्वाण की खोज में जंगलों और संघों में जाने लगे।

इस आन्दोलन से स्त्री-जाति भी अछूती न रह सकी। इस स्वाधीनता के युग में अबलाएँ भी पुरुषों के समान निर्वाण-मार्ग पर अग्रसर

होने लगीं। पहले-पहल तो बुद्ध भगवान् भिक्षु-संघ में स्त्रियों को स्थान देने के लिए तैयार नहीं थे। परन्तु उनकी धात्री माता महाप्रजावती गौतमी के आग्रह तथा शिष्य आनन्द की सिफ़ारिश से उन्होंने स्त्री-जाति को भी संघ में स्थान देना मंजूर कर लिया। नये जोश में ऊँचे वर्ग से लेकर नीचे वर्ग तक की अनेक कुमारिकाएँ, सधवाएँ तथा विधवाएँ भिक्षुणी-संघ में शामिल हो गईं। अनेक कुलटाएँ पश्चात्ताप से पवित्र हो पुण्यमय जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करके संघ में आ मिलीं। इन स्त्रियों ने शुरू-शुरू में उपदेश का काम बड़ी अच्छी तरह किया और अपने चरित्र में उच्च गुणों का विकास कर समाज के सामने बड़ी अच्छी मिसालें पेश कीं। स्थल-संकोच के कारण इस रत्नमाला में केवल ३१ बौद्ध स्त्रियों के चरित्र ही दिये गये हैं।* उनके अवलोकन से उन भिक्षुणियों के विचार और जीवन का परिचय होगा। परन्तु समय बीत जाने पर प्रत्येक अच्छी संस्था में कोई-न-कोई दोष उत्पन्न हो ही जाता है। वही हाल इस भिक्षुणी-संघ का भी हुआ। आचार्य श्री आनन्दशंकर ध्रुव लिखते हैं—"उच्च मनोवृत्ति वाली स्त्रियाँ संसार को छोड़कर भिक्षुणियाँ बनीं कि उनकी अनुपस्थिति के कारण संसार अन्धकारमय हो गया। सामान्य जन-समाज में अधम वृत्ति बहुत जल्दी प्रबल हो जाती है। अतः समाज से ऊँची आत्माओं के अलग होते ही विकार स्वतन्त्र हो गया। जहाँ-तहाँ वेश्याएँ दिखाई देने लग गईं। शनैः शनैः इस विकारमय वायु-मण्डल का असर भिक्षुणियों पर भी पड़ने लगा। इस समय देश में धन खूब था और व्यापार भी धड़ाके से चल रहा था। विकार समृद्धि के साथ-साथ रहता है। तदनुसार ईसवी सन् के प्रारम्भकाल में रचे हुए वात्स्यायन के कामसूत्र में अनेक कलाओं में निपुण गणिकाओं के वर्णन हमें मिलते हैं। पर हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि सभी गणिकाएँ दुष्ट ही होती थीं। नारी-हृदय की उच्चता

---

* देखो 'भारत के स्त्री-रत्न : तीसरा भाग।' मूल्य १)

तो गणिकावस्था में भी प्रकट हो ही जाती है।" (नारी-प्रतिष्ठा)

इसी कारण उच्च हृदय वाली उन गणिकाओं को भी इस रत्नमाला में स्थान देने में हमने संकोच नहीं किया है, जिन्होंने उचित प्रसंग के आते ही अपने पापमय जीवन को तिलांजलि देकर जीवन को सफल बनाना अपना कर्तव्य समझ लिया। श्री ध्रुव की कल्पना है कि जिस प्रकार कितने ही आदमियों के मतानुसार फलित ज्योतिष बाबिलोन से भारत में आया है, उसी प्रकार शायद यह गणिकाओं की संख्या भी ग्रीस से यहाँ आई होगी। वात्स्यायन-कामसूत्र को देखने पर पता चलता है कि गणिकाएँ, राज-पुत्रियाँ तथा महामात्य की लड़कियाँ किसी विशेष शिक्षा को प्राप्त करती थीं। कला-विषयक शिक्षा तो अनुमानतः अधिक सामान्य रही होगी। क्योंकि लिखा है कि—

"तथा पतिवियोगे च व्यसनं दारुणं गता।
देशान्तरेऽपि विद्याभिः सा सुखेनैव जीवति॥"

इस तरह कला को मुसीबत के समय में आजीविका का साधन भी बताया है। हाँ, इतना जरूर हमें ध्यान में रखना चाहिए कि कला का विकास तो जरूर हुआ, परन्तु जैसा कि हम उसके विषय में महाभारत के समय में पढ़ते थे कि कृष्णा और विदुर के समान ही कुन्ती नीतिशास्त्र में प्रमाणभूत थी, सो बात अब नहीं रही।

वात्स्यायन-कामसूत्र के तीसरे खण्ड के पहले अध्याय में लिखा है, कि एक गृहिणी के लिए ये कलाएँ जानना जरूरी है—(१) उद्यान-कला—पुष्प-शय्या बनाना, साग-तरकारी तथा गृह-देवता की पूजा के लिए फूल तैयार हो सकें इस तरह की छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाना और उनका सींचना। (२) पाक-शास्त्र। (३) दही बिलोकर घी और मक्खन निकालना। अचार और मुरब्बे बनाना। (४) नौकरों को तनख्वाहें देना तथा घर-खर्च का हिसाब रखना। आय के अनुसार ही व्यय हो इसके लिए वार्षिक हिसाब करना। (५) पालतू पशु-पक्षियों की रक्षा करना। (६) पुराने चिथड़ों की गुदड़ी आदि बनाना।

(७) रस्सियाँ तथा किनारे गूथना। और (८) सबसे आवश्यक बात है चरखे पर सूत कातकर उसे अपने घर पर ही बुन लेना। हमारे सौभाग्य से महात्मा गाँधी द्वारा इस प्राचीन कला का पुनुरुद्धार हो रहा है और यह भी आशा बँध रही है कि इसे स्त्री-शिक्षा में उचित स्थान दिया जायगा। उस समय उच्च घरों की स्त्रियों को संगीत, नृत्य, वाद्य और चित्रकला की शिक्षा भी दी जाती थी, यह इस रत्नमाला के अनेक चरित्रों से पाठकों को भली-भाँति ज्ञात हो जायगा। शरीर को निरोग और मजबूत बनाने के लिए वात्स्यायन मुनि ने स्त्रियों से व्यायाम की सिफ़ारिश भी एक पृथक् प्रकरण में की है जिसे 'व्यायामिकी विद्या' कहा है। (प्रो० भवानीभूति विद्याभूषण एम० ए० का कलकत्ता की ओरियेण्टल कान्फ्रेन्स में पढ़ा हुआ निबन्ध देखिए।)

इस ग्रन्थ में महाभारत के समय के अनेक स्त्री-रत्नों के चरित्र लिखे गये हैं। उनके चरित्रों की समालोचना करते हुऐ रा० ब० चिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए० एल एल० बी० अपने 'महाभारत की समा-लोचना' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं:—

"महाभारत के स्त्री-पात्र इलियड के स्त्री-पात्रों की अपेक्षा बढ़कर हैं। हेलन और एँड्रोमिशा भी द्रौपदी की तुलना में खड़ी नहीं रह सकतीं। द्रौपदी का स्वभाव-चित्रण करते हुए महाभारतकार ने हमें स्त्री-स्वभाव की उस उच्चता का दर्शन कराया है, जिसका वर्णन करने के लिए हमें शब्द ढूँढ़े नहीं मिलते। द्रौपदी एक साध्वी है। वह अपने आत्मगौरव के ख़याल को कभी भूलती ही नहीं। कठिन-से-कठिन विपत्तियों में भी वह धीरज नहीं छोड़ती। वह इतनी पवित्र और निर्मल है कि मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। पर फिर भी वह मानुषी है। कई बार चर्चा करते समय उसमें स्त्री-सहज विकार और सत्याग्रह भी पाया जाता है। कई बार वह हठ भी करती है, जिसे उसके पतियों को पूरा करना पड़ता है। पर फिर भी वह स्त्री असाधारण थी। हेक्टर जिस प्रकार अपनी स्त्री को केवल घर-गृहस्थी के कामों के

योग्य समझता है, उस प्रकार इसे तुच्छ कदापि नहीं कहा जा सकता। यह एक राजपूतनी है। राजपूत का शौर्य और मनोबल इसके चेहरे पर चमकता है। अरे! कीचक और जयद्रथ जैसे नराधम जब इसे पकड़ कर इसपर बलात्कार करने का प्रयत्न करते हैं, तब यह उन्हें एक आदर्श राजपूतनी की नाईं ऐसे जोर से धक्का लगाती है कि वे जमीन पर गिर पड़ते हैं। इसका प्रसंगावधान भी ऐसा है कि यदि पुरुषों के पास वैसा प्रसंगावधान आ जाय तो उसपर वे फूले न समाएँ। इससे जब कहा गया कि 'जूआ खेलते समय तू बाजी में हारी गई है।' तब इसने एक ऐसा सवाल किया कि दुर्योधन के तमाम दरबारी भौंचक्के-से रह गये। इसका वह उदार संकल्प अप्रतिम था, जब स्वयंवर के समय यह ग़रीब ब्राह्मण का वेश धारण करनेवाले अर्जुन को प्राप्त हुई और इसने अर्जुन को अपने सुख-दुःख का साथी बनाने का निश्चय किया। दीर्घकाल के वनवास में पाण्डवों के साथ रहने की इसकी तत्परता और इसका असीम धीरज हमेशा हिन्दू स्त्रियों के अन्तःकरण में संतोषपूर्वक एवं भक्तिपूर्वक पति के साथ रहने की प्रेरणा करते आए हैं।"

"महाभारत का दूसरा प्रतापशाली स्त्री-पात्र कुन्ती है। पाण्डव अपनी स्त्री को लेकर बारह वर्ष के लिए बनवास को जाते हैं उस समय माता कुन्ती विदुर के घर रहने लगीं। तथापि वहाँ रहते हुए भी वह कृष्ण के मुख से अपने पुत्रों को जो सन्देश कहलाती हैं, वह सचमुच एक वीर क्षत्राणी को शोभा देने योग्य है। वह युद्ध करने के लिए प्रबल उत्साह उत्पन्न करनेवाला है। वह अपने पुत्रों से कहती है—'विजय प्राप्त करो या मर मिटो!' इस तरह वह अपने लड़कों को युद्ध के लिए उत्तेजित करती है, परन्तु अपने स्वार्थ के लिए नहीं। जब पाण्डवों को राज्य मिल जाता है, वे सिंहासन पर बैठ जाते हैं, तब कुन्ती उन्हें छोड़कर धृतराष्ट्र के साथ वन को चली जाती हैं और उस बूढ़े अन्धे की सेवा करते-करते अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर देती

हैं। जब वह जाने लगीं तब भीम ने माता की खूब प्रार्थना की और कहा—'माँ, तुम हमारे साथ रहो; तुम्हारी शिक्षा के अनुसार चलकर हमें जो कुछ मिला उसका उपभोग तुम भी हमारे साथ में रहकर करो।' पर माता कुन्ती ने साफ़ कह दिया, 'मैंने अपने पति के जमाने में सभी भोग भोग लिये। अब मुझे भोगने की इच्छा नहीं रही। युद्ध के लिए तो मैंने तुम्हें इसलिए उत्तेजित किया कि मैं तुम्हें भीख माँगकर पेट भरने देना पसन्द नहीं करती थी।' विदा होते समय उसने जो शब्द कहे वे सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। उसने कहा, 'अपनी मति को हमेशा धर्म की तरफ रखो और बुद्धि को उदार।' यह एक पंक्ति समस्त महाभारत का निचोड़ है।"

घूँघट और परदे के विषय में श्री आनन्दशंकर ध्रुव लिखते हैं— "यह मानने के लिए हमारे पास अनेक कारण हैं कि वेदकाल में तथा उसके बाद भी घूँघट और परदे का रिवाज नहीं था। परन्तु मालूम होता है कि कालिदास के समय में कुछ-कुछ था। साधारणतः परदे की तमाम जिम्मेदारी मुसलमानों पर ही रक्खी जाती है। परन्तु हमें तो मालूम होता है कि कालिदास के समय में भी वह कुछ-कुछ विद्यमान था। 'शुद्धान्त' और 'अवरोध' ये दो शब्द इस विषय के काफी प्रमाण हैं। इन शब्दों के पढ़ने पर हम यह नहीं कह सकते कि पहले परदा जरा भी नहीं था। हाँ, यह हो सकता है कि उस समय परदे का रिवाज सारी प्रजा में न रहा हो। आज भी जिस प्रकार विदेशी रीति-रिवाजों का असर विशेषकर ऊपर के वर्ग के लोगों पर ही होता है, उसी प्रकार मेरा खयाल है कि कालिदास के समय में भी ग्रीस देश के रिवाजों का प्रभाव राजा और राजा के समान धनिकों के यहाँ सबसे पहले पड़ा होगा। ग्रीस में जिस प्रकार कुलांगनाएँ छत से नीचे नहीं उतरती थीं उसी प्रकार शायद भारत में भी कालिदास के समय में लोगों में मान्यता फैल गई होगी कि राजा की रानियों को जनाने में रहना चाहिए। संसार में स्त्री के उपयोग के विषय में कालिदास की भावना बड़ी ऊँची थी—

गृहिणी सचिवः सखा प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणा-विमुखेन मृत्युना हरता त्वा वद किं न मे हृतम् ॥

श्री इन्दुमति ! विद्वानों का कथन है कि गृहधर्मों का सम्पूर्ण अनुसरण करनेवाली धर्मपत्नी संसार के जटिल प्रश्नों को हल करते समय उत्तम सलाह देनेवाली मंत्री-रूप है, विनोद के समय प्रीति-पात्र मित्र-रूप है, और संगीतादि कलाओं का अनुशीलन करते समय स्नेह-पात्र शिष्या के समान है। इस कथन के अनुसार, हे प्रिये ! अनेक सम्बन्धों के आधाररूप तुझे हरण कर उस कराल काल ने मुझसे क्या-क्या नहीं छीन लिया ? अर्थात्, सब कुछ छीन लिया।

इसी प्रकार उत्तर-रामचरित्र में भवभूति ने कहा है:—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासुयद् ।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ॥

स्वधर्म-सम्पन्न दाम्पत्य-प्रेम सुख और दुःख में एक-सा होता है। जो सभी अवस्थाओं में हृदय का विश्राम-स्थान है, वृद्धावस्था में भी उसका रस अक्षय होता है।

प्राचीन ऋषियों के हृदय में दाम्पत्य सुख की जो परमभावना प्रतीत होती थी, उसे इस श्लोक ने हमारे सामने उपस्थित कर दिया है। इसके उदार हृदय से निकलने वाले उद्गार—'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः'—तो डाक्टर भांडारकर की बनाई पुस्तकें पढ़नेवाले प्रत्येक विद्यार्थी की जबान पर पहुँच गये हैं। परन्तु बहुतों को शायद यह मालूम न होगा कि राजशेखर कवि की (नवीं सदी की) 'विद्दशाल भंजिका' नामक नाटिका में मृगांकावलि कंदुक—गेंद—खेलती है। यह खेल हमारे देश में बहुत प्राचीन था। नवशिक्षित स्त्रियों का बेडमिण्टन खेलते हुए देखकर आग-बबूला होनेवाले टीकाकारों को जरा अपने प्राचीन साहित्य को भी देख जाना चाहिये।"

आचार्य श्री आनन्दशंकर ध्रुव, ग्वालियर के भूतपूर्व न्यायमूर्ति रा० ब० चिन्तामणि वैद्य, श्री नारायणचन्द्र वन्द्योपाध्याय एम० ए० आदि के

लेखों के आधार पर (वेदकाल से लेकर बौद्धयुग तथा संस्कृत नाटकों के काल तक) हमने आर्य स्त्रियों के जीवन का अवलोकन किया। इससे पाठकों को ज्ञात होगा कि हमें अपनी इन पूर्वजाओं के लिए अभिमान होना चाहिए। केवल पातिव्रत में ही नहीं बल्कि वीरता, शौर्य, स्वदेश अथवा स्वजाति के अभिमान, दया, परोपकार, स्वार्थत्याग, विद्वत्ता, चातुर्य आदि अनेक गुणों में भारतीय आर्य महिला अन्य किसी भी देश की अपनी बहिनों से किसी प्रकार कम नहीं थी। इन आर्य माताओं के चरित्रों को केवल स्त्रियाँ ही नहीं बल्कि पुरुष और खास कर नवयुवक भी इस गरज से पढ़ें कि अपनी माताओं की महिमा जान लें।

साधारणतया मैंने ऐसे कई पुरुषों को देखा है जो ऐसे ग्रन्थों को स्त्री-उपयोगी समझकर स्त्रियों के सुपुर्द करके निश्चिन्त हो जाते हैं, स्वयं कभी नहीं पढ़ते। इसलिए नम्रतापूर्वक प्रार्थना करना चाहता हूँ कि केवल स्त्री-समाज ही नहीं, बल्कि पुरुषवर्ग भी यदि इन ग्रन्थों में वर्णित चरित्रों को पढ़ने का कष्ट उठावेगा तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा।

शिवप्रसाद दलपतराय पण्डित

भारत के स्त्री-रत्न

[पहला भाग]

वैदिक काल

दक्ष-कन्या

सती

हरिद्वार में जिस स्थान पर गङ्गा नदी हिमालय से भूमि पर अवतीर्ण हुई है, उसके सामने के मैदान को कनखल कहते हैं। जिस समय का ज़िक्र है, उस समय दक्ष प्रजापति इस प्रदेश का राजा था।

राजा दक्ष का प्रताप खूब बढ़ा-चढ़ा था। ऐश्वर्य और पराक्रम में उसका मुक़ाबला करनेवाला उस समय कोई न था। यही नहीं बल्कि वह महातपस्वी भी था। उसने कितने यज्ञ, कितने दान, कितने व्रत और अनुष्ठान किये, इसकी तो कोई गिनती ही नहीं। इसीलिये सर्वसाधारण कहा करते थे कि धर्म और कर्म में राजा दक्ष के साथ और किसीकी तुलना नहीं हो सकती।

दक्ष की राजधानी कनखल सुन्दरता में अमरावती को मात करती थी। हज़ारों वर्ष बीत गये, किन्तु आज भी कनखल के प्राकृतिक सौन्दर्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। गिरिराज हिमालय, शिखर पर शिखर चढ़ाकर, मेघमाला के सदृश उसके पास खड़ा है। उसके बीच में होकर गङ्गा का स्रोत एक विशाल सर्प की नाईं बल खाता हुआ वेगपूर्वक नीचे की ओर बहा जाता है। कनखल में गङ्गा की ऐसी अपूर्व शोभा है जिसका वर्णन नहीं किया

जा सकता। जल स्फटिक के समान स्वच्छ है। यहां तक कि नदी की सतह में क्रीड़ा करने वाली छोटी-छोटी मछलियां भी उसमें स्पष्ट देखी जा सकती हैं। किसी जगह जल पारे-जैसा सफेद है तो किसी जगह मेघ के समान शुभ्र। आंखों को तो उसे देखने से ही ठण्डक पहुंच जाती है।

गङ्गा का जो श्रोत कनखल के आगे होकर बहता है, उसका नाम नीलधारा है। मणि-मुक्ताओं से जटित राजा दक्ष का महल इस नीलधारा के तट पर ही था। वर्षा ऋतु में नदी का स्रोत इस महल को धोता हुआ बहता था और महल में रहनेवाले लोग उस प्रवाह से रात-दिन होने वाले कलकल-नाद का श्रवण करते हुए निद्रा-मग्न होते थे।

राजा दक्ष के अनेक पुत्रियां थीं। जिस प्रकार सरोवर खिले हुए कमलों से और आकाश ज्योतिर्मय तारों से सुशोभित रहता है, राजा दक्ष का राजभवन भी राजकुमारियों के अपूर्व सौन्दर्य से वैसा ही सुशोभित रहता था। राजमहिषी को कन्याओं के मनोमोहक रूप देख-देखकर इतना आनन्द होता जिसका कुछ ठिकाना नहीं।

राजकुमारियां प्रतिदिन नीलधारा में स्नान करने जातीं। नदी के स्निग्ध जल में स्नान करके वे जल-क्रीड़ा करतीं। नदी के किनारे की रेत में वे दौड़ लगातीं और नदी के प्रवाह में से रंग-बिरंगे छोटे-छोटे पत्थर इकट्ठे करके घर लातीं। माता उन्हें देखकर हँसती और कहती—"अपने घर में अनेक मणिमुक्तादि रत्न भरे पड़े हैं; उन्हें छोड़ इन पत्थरों को तुम क्यों इकट्ठा करती हो?"

राजकुमारियाँ कुछ जवाब तो न देतीं, पर मणि-मुक्ताओं की उपेक्षा कर इन पत्थरों से ही अपने खेल के घर सजातीं।

धीरे-धीरे राजकुमारियां बड़ी हुईं। खूब समारोह के साथ प्रजापति दक्ष ने उनके विवाह किये। मनचाहे समधी और जँवा-

इयों के मिलने से राजा-रानी के आनन्द की सीमा न रही। विवाह के बाद, एक-एक करके, राजकुमारियां अपनी-अपनी ससुराल गईं और आनन्दपूर्वक अपने घर-बार सम्हालने में लगीं।

परन्तु दक्ष की एक कन्या अभीतक कुआँरी थी। इसका नाम सती था। सती सब कन्याओं से छोटी होने के कारण, सती पर माता-पिता का सबसे अधिक स्नेह था। राजा-रानी की इच्छा थी कि सती सयानी हो जाय तब दूसरी सब कन्याओं से ज्यादा ठाटबाट से और अच्छे वर के साथ उसका विवाह करें।

सती के रूप-गुण का तो कहना ही क्या ? वैसे तो राजा दक्ष की सभी कन्याएँ अनुपम सुन्दरियाँ थीं; परन्तु सती के साथ तो किसीका मुक़ावला नहीं हो सकता था। सती का सौन्दर्य उसके शरीर के वर्ण अथवा उसकी आँख या कानों की बनावट में न था। उसका सौन्दर्य तो था उसके भाव में, उसके शरीर की दिव्य ज्योति में। जिस किसीकी भी उसपर नज़र पड़ जाती, एकटक उसे देखता ही रह जाता। साधु-संन्यासियों को तो उस बालिका को देखकर जगत्-जननी के स्वरूप का भान होने लगता और भक्ति के साथ वे उसे प्रणाम करने लगते थे।

सती का स्वभाव भी अन्य राजकुमारियों से बिलकुल भिन्न था। अन्य राजकुमारियाँ तो वस्त्राभूषण और खाने-पीने में मग्न रहतीं, पर सती का इस ओर ज़रा भी ध्यान न था। राजकुमारियों में से कोई तो इन्द्र-धनुष के रंग की साड़ियां पसन्द करतीं, कोई कमल-पत्रों से बनाये गये वस्त्रों से शरीर को अलंकृत करतीं; पर सती की रुचि और ही तरह की थी। उसे गेरुआ रङ्ग पसन्द था। अन्य कन्याओं के गले में जहां मोती की मालाएँ और हाथों में हीरे के कङ्कण सुशोभित रहते, वहां सती के गले में स्फटिक की सफेद माला रहती और कोमल हाथों में रुद्राक्ष के दाने। अन्य राज-

कुमारियां जहां अपने शरीरों पर चन्दन और कस्तूरी का लेप करतीं, वहां सती के ललाट में पिता के यज्ञकुण्ड की भस्म शोभा पाती। दासियां सावधानता से बाल गंथतीं, पर सती कुछ ही देर में उन्हें बिखेर डालती और जटा की तरह बांध लेती। किशोर और कुआँरी कन्या की शरीर के अलंकारों के प्रति ऐसी लापरवाही देखकर भला किस माता के हृदय को दुःख न होगा? अतः रानी को अपनी लाड़ली बेटी की ऐसी दशा देखकर दुःख होना स्वाभाविक ही था। कभी-कभी तो वह कुछ खिन्न होकर सती से कह भी बैठती—"सती! तू दिनोंदिन बड़ी होती जाती है, पर तुझे कुछ शऊर क्यों नहीं आता? न तो ढंग से कपड़े पहनती है, न अच्छे-अच्छे आभूषण पहनती है और न दासियों से जूड़ा ही बँधवाती है। तमाम दिन बाल बिखेरे फिरती है। इतनी बड़ी लड़की ऐसे आचरण करे तो लोग उसे पगली कहते हैं। ऐसी लड़की से कोई विवाह भी नहीं करता। भला, तू कबतक ऐसी नादान रहेगी?"

माता की ऐसी बातें सुनकर सती हँस पड़ती और कहती—"कोई विवाह नहीं करेगा तो अच्छा ही है; मैं तुम्हारे ही पास रह जाऊँगी।"

माता को तो वह ऐसा जवाब दे देती, पर बाद में उसके मन में नाना प्रकार के विचार उठते। लेकिन वह कहती, "वस्त्राभूषण और जूड़े की शोभा देखकर ही जो मेरे विषय में अपने विचार बनावेगा, उसके साथ तो मैं हर्गिज़ अपना विवाह नहीं करूँगी।"

राजा दक्ष ने जब सती की यह हालत देखी तो उन्हें भी बड़ी मनोवेदना हुई। परन्तु सती सरल और आनन्दमयी देवी थी, इससे राजा दक्ष को उससे कुछ कहने का साहस न हुआ। सती में एक दोष और था। वह यह कि उसका स्वभाव बड़ा भावुक था। उसे कोई ज़रा भी कुछ कहता तो उसकी कमल-जैसी आँखों में

आँसू भर आते। दक्ष जब उसकी ऐसी दशा देखता तो रानी से कहता—"जाने भी दो! हमारी बेटी तो पगली है। अच्छा हो, भगवान् किसी पागल के साथ इसका पल्ला न बाँधें।"

होते-होते सती विवाह-योग्य हो गई। तब उसके लिये वर तलाश करने को राजा दक्ष ने अपने भाई देवर्षि नारद को बुलाया। राजा ने उनसे कहा—"नारद! तुम बहुत घूमते रहते हो। ग़रीब-अमीर, गृहस्थ-संन्यासी, सब लोगों में तुम्हारी पैठ है। अपने मित्रों की सहायता से, सती के लिए, अगर तुम कोई योग्य वर ढूंढ़ लाओ तो बड़ा अच्छा हो।"

"अच्छा!" कहकर नारदजी वर ढूंढ़ने चल दिये। बहुत-कुछ खोज के बाद, वह फिर कनखल आये। राजा-रानी से उन्होंने कहा—"तुम्हारी सती के लिए मैंने एक बहुत योग्य वर तलाश कर लिया है। सती के लिए उससे अधिक योग्य वर मुझे और कोई नहीं मिला।"

दक्ष ने उत्कण्ठा से पूछा कि "वह कौन है?" तब नारद ने जवाब दिया—"कैलासपति शङ्कर।"

नारद का यह कहना था कि राजा दक्ष का सिर चढ़ गया। पर वह कुछ कहें, इससे पहले ही रानी बोल उठी—"कैलासनगरी? वह तो बहुत दूर है। रास्ता भी बड़ा विकट है। सती को अगर इतनी दूर ब्याह देंगे तो जब चाहेंगे उससे मिल नहीं सकेंगे और न हाल-चाल ही मालूम कर सकेंगे।"

नारद ने कहा—"रानी! तुम्हें कमी किस बात की है, जो इच्छा होने पर भी, केवल दूर होने के कारण, तुम सती से न मिल सको? गाड़ी, घोड़ा, रथ, हाथी, विमान—जो कुछ चाहिए वह सब तुम्हारी सेवा में हाज़िर है; फिर फ़ज़ूल बहाना करने से क्या लाभ? फिर यह भी तो सोचो कि तुम हमेशा अपनी कन्या से मिलती रहो, यह ठीक है या उसे अच्छा वर मिले, यह ठीक है?

तुम्हारी सती को सुख मिलना चाहिए ; फिर अगर तुम उससे न भी मिल सको तो क्या हुआ ? मां-बाप को तो इसी बात में सन्तुष्ट रहना चाहिए कि उनकी पुत्री सुखी रहे।"

नारदजी की यह बात राजा-रानी दोनों को पसन्द आई। दक्ष बोले—"यह तो ठीक। पर वर की विद्या-बुद्धि कैसी है ?"

नारद ने कहा—"विद्या-बुद्धि में तो उनकी बराबरी करने वाला आज और कोई नहीं है। वेद, पुराण, तंत्र आदि कोई भी शास्त्र या विद्या ऐसी नहीं जिसमें वह प्रवीण न हों। उनकी बुद्धि कितनी तीव्र है, इसका अनुमान तुम इसीसे लगा सकते हो कि स्वयं वशिष्ठ मुनि ने उनसे ऋक्, यजु तथा सामवेद का अध्ययन किया है ; परशुराम ने धनुर्विद्या सीखी है ; और मैंने गान-विद्या का अभ्यास किया है।"

नारदजी की ये बातें सुनकर दक्ष का चेहरा खिल उठा। उन्होंने कहा—"वर का बल-वीर्य कैसा है ?"

नारद—"बल का परिचय तो उनके धनुष से ही मिल सकता है। उसकी डोरी चढ़ाना तो दूर, दूसरा तो कोई उसे हिला-डुला भी नहीं सकता। इस धनुष से निकले हुए बाण से ही त्रिपुरासुर राक्षस की मृत्यु हुई थी।"

रानी ने पूछा—"उनका रूप-रंग कैसा है ?"

नारद—"उनके रूप-रंग का तो पूछना ही क्या ? हृष्ट-पुष्ट लम्बा-चौड़ा शरीर है, घुटनों तक लम्बी भुजाएँ हैं, विशाल नेत्र हैं, तेजस्वी गौर वर्ण है और मुख सदैव खिला रहता है। ये सब बातें और किसी व्यक्ति में नहीं दीखतीं। ऐसा रूप सती के दाहिनी तरफ़ विराजने ही के योग्य है।"

सती की सखी विजया किसी काम से रानी के पास आई थी। यहां सती के विवाह की बातें होती देख, सुनने की ग़रज़ से, वह यहीं

बैठ गई थी। परन्तु नारद मुनि से वर की ऐसी प्रशंसा सुनकर उससे न रहा गया। वह तुरन्त दौड़ी हुई सती के पास गई और कहने लगी—"सती! अब तेरी मनोकामना पूरी होगी। इतने दिनों से तू जिनकी पूजा कर रही थी, उन्हीं कैलासपति के साथ तेरा विवाह करने की चर्चा नारदजी कर रहे हैं।"

सती कुछ न बोली। दोनों हाथ जोड़, ऊपर को मुँह करके, सर्वव्यापी परमेश्वर को उसने प्रणाम किया।

इधर रानी ने नारद से फिर पूछा—"वर की धन-सम्पत्ति कैसी है?"

नारद ने कहा—"कैलास तो रत्नों का एक अटूट भंडार है और स्वयं यक्षराज कुबेर उनके भंडारी हैं।"

रानी ने पूछा—"उनके माँ-बाप भाई-बहिन आदि को तुम जानते हो?"

इसपर नारद ने मुस्कराते हुए कहा—"बस, वर में केवल एक यही कमी है कि उनका अपना सगा कोई नहीं। पर रानी! तुम्हें तो इस बात से दुःखी होने के बजाय खुश ही होना चाहिए। क्योंकि विवाह के बाद हमारी सती तुरन्त ही अपने घर की मालकिन बन जायगी।"

नारदजी की यह बात रानी को ज़रा अखरी और उन्होंने नारद की ओर एक तीखी नज़र डाली। नारदजी बोले—"रानी! वर के व्यवहार के बारे में मुझे तुमसे दो-एक बातें स्पष्ट कह देना ज़रूरी हैं। फिर तुम उन्हें दोष समझो या गुण, यह तुम्हारी मर्जी है। पर बाद में तुम मुझे बुरा-भला कहो, इससे मैं पहले ही साफ़ किये देता हूँ। वर संसार के प्रति बिलकुल उदासीन है। घर और स्मशान, चन्दन और चिता की भस्म—ये दोनों उसके लिये समान हैं। वह सदैव चिन्तामग्न रहता है; परन्तु उसकी चिन्ता किसी

पार्थिव वस्तु के लिए नहीं होती, बल्कि वह रात-दिन संसार के कल्याण की ही चिन्ता में लगा रहता है। श्मशान में मुर्दों की परीक्षा करने में, जंगल में वनस्पतियों के गुण-दोषों का विवेचन करने में, और कन्दराओं में खनिज पदार्थों का तत्त्व-निरूपण करने के लिए, वह हलाहल विषपान करने अथवा जहरीले सांपों को गले में धारण करने में भी नहीं हिचकता। यही कारण है कि गृहस्थ होते हुए भी वह संन्यासी है और राजा होते हुए भी भिखारी। उसमें जो-कुछ गुण-दोष या आचार-व्यवहार हैं, वे सब ये हैं। अब जो-कुछ तुम्हें ठीक जान पड़े, वह तुम जानो और वैसे ही करो।"

सब बातें सुनकर दक्ष ज़रा गम्भीर हो गये। वह बार-बार शिव के सम्बन्ध में विचार करने लगे। रानी भी कुछ चिन्तित हो गई। यह देख रानी की एक चतुर दासी, जो वहां खड़ी थी, चुप न रह सकी। उसने रानी से कहा—"रानीजी! आप इतनी चिन्ता क्यों करती हैं? जिनके माँ-बाप न हों, ऐसे तो अनेक लड़के देखने में आते हैं। घर-गृहस्थी या दीन-दुनिया में मन न लगाकर गुफाओं और श्मशानों में घूमते रहते हैं। इसकी परवाह न करें; क्योंकि अगर हमारी सती में गुण होंगे तो वह महीने भर में ही अपने पति को ठिकाने ले आयगी।"

दासी की बात से रानी को सन्तोष हुआ और कहने लगी—"ठीक तो है; सभी गुण तो किसीमें हों भी कैसे? माँ-बाप को तो यही चाहिए कि कन्या का विवाह किसी योग्य वर के साथ करदें। हमें तो अपने इसी कर्त्तव्य की पूर्त्ति करनी चाहिए; पीछे यह जाने और जाने इसका भाग्य। वर जब रूप-गुण, धन-ऐश्वर्य, इन सबमें अपना सानी नहीं रखता, तो मेरी इच्छा तो इसीके साथ सती का विवाह करने की है। आगे जैसी महाराज की इच्छा हो।"

दक्ष ने कहा—"रानी ! जो तुम्हारी इच्छा है, विधाता भी उसीके अनुकूल जान पड़ता है। मुझे पहले से ही यह आशङ्का थी कि जैसी भोली-भाली यह छोकरी है कहीं वर भी इसे वैसा ही भोला-भाला न मिल जाय। अन्त में मेरी वह आशङ्का सच ही हुई। ख़ैर ! अगर तुम इस वर के साथ सती का विवाह करना चाहती हो, तो ख़ुशी से करो; मुझे भी इसमें कोई एतराज़ नहीं है।"

इसके बाद और कोई बातचीत नहीं हुई। कैलासपति के साथ सती का विवाह निश्चित हो गया। राजा दक्ष ठाटबाट से विवाह की तैयारी में जुट गये।

शुभ दिन देखकर अन्त में सती का विवाह भी हो गया। राजमहल जगमगाती हुई रोशनी से और उससे भी अधिक राज-कुमारियों के उज्ज्वल मुखारविन्दों से जगमगाने लगा। वर के सम्बन्ध में नारद ने जो-कुछ कहा था, वह सब सच निकला; किन्तु एक बात से राज-महिषी को कुछ क्षोभ हुआ। वह सोचने लगी कि नारद ने वर के ऐश्वर्य की जो बातें कही थीं, क्या वे बिलकुल निराधार थीं ? क्योंकि विवाह के समय भी उनके गले में रुद्राक्ष की ही माला थी, शरीर पर भस्म का लेप था और कमर पर व्याघ्रचर्म। रानी सोचती—"यह क्या ! ऐसे शुभ प्रसंग में भी अगर यह मेरी सती को सुन्दर वस्त्राभूषण नहीं पहनायगा तो फिर कब पहनायगा ?" परन्तु फिर उन्हें विचार होता कि "नारद ऐसा है तो नहीं जो झूठ बोलकर धोखा दे। तब क्या नारद को शिव की वास्तविक परिस्थिति का पता न लगा होगा ?"

रानी को इस प्रकार के विचारों में उद्विग्न देख विवाह में बाहर से आई हुई स्त्रियों से न रहा गया। उनमें से एक बोल ही उठी—"बेचारे जँवाई के माँ-बाप तो कोई हैं ही नहीं, तब भला

विवाह के वक्त अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण कौन पहनावे ? बेचारा वर अपने-आप तो सजधजकर आने से रहा। इसीलिए जैसा वह हमेशा रहता है वैसा ही यहां चला आया है। अतः इस विषय में आपको अधिक चिन्ता न करनी चाहिए।"

एक दूसरी स्त्री बोली—"सती के भाग्य में यदि धन-वैभव का सुख भोगना बदा होगा तब तो वह उसे भोगेगी ही, चाहे जो हो ! हमारे यहां भी तो किसी चीज की कमी नहीं है। यह एक तो क्या, हमारे लिए तो ऐसी दस कन्याओं का पालन-पोषण भी कोई बड़ी बात नहीं।"

परन्तु रानी को ये बातें न सुहाईं। तब नारदजी की बुलाहट हुई। रानी ने उनसे कहा—"नारदजी ! तुमने तो वर के वैभव की इतनी प्रशंसा की थी, पर यहां तो उसका कोई भी चिह्न दिखाई नहीं देता। और तो और, पर मेरी सती को हाथ में पहनने के लिए कङ्कण तक तो इन्होंने दिये नहीं ! विवाहित कन्या को भला रुद्राक्ष की माला ! यह क्या ? मेरी बेटी कोई संन्यासिनी तो है नहीं।"

नारद ने कहा—"रानी ! मेरी बात झूठ तो बिल्कुल भी नहीं है। तुम्हारी सती आज सचमुच पूर्णतः राजराजेश्वरी हुई है। अभी कुछ मत बोलो, थोड़ा धीरज रक्खो; जब सती एकबार ससुराल होकर आवे तब देखना कि तुम्हारे जँवाई का वैभव कितना बढ़ा-चढ़ा है।"

नारद के इस जवाब से महारानी तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों को कुछ आश्वासन हुआ और उन्हें ढाढ़स बँधा।

परन्तु वर की विवाह-समय की पोशाक और उनके साथियों के रंग-ढंग को देखकर दक्ष को भी सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि उसके दूसरे जँवाई तो हाथी, घोड़े, रथ और गाजे-बाजे के साथ विवाह

करने आये थे; किन्तु इस नये जँवाई के साथ तो सिर्फ एक बड़ा शंख और सवारी के लिए मोटा बैल था। दूसरे जँवाइयों के साथ जहाँ सुनहरी वर्दी वाले सुघड़ नौकर-चाकर थे, वहाँ इस नये जँवाई के साथ थे त्रिशूलधारी, लम्बे और डरावनी सूरतवाले नन्दीगण। बरातियों के ऐसे भयङ्कर रूप और अद्भुत हाव-भाव देखकर कनखल-निवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे एक-दूसरे से कहने लगे—"राजा ने जँवाई तो खूब ढूँढ़ा है।" लेकिन जो लोग ज़रा भी समझदार थे, वे उन्हें समझाते कि "भाई! इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। बात यह है कि ये लोग पहाड़ों के रहने वाले हैं और पहाड़ियों का रहन-सहन इसी क़िस्म का होता है।" बाद में जब नगर-निवासियों ने वर का सदा-आनन्दी स्वभाव, सरल-मधुर व्यवहार और हमेशा खिला रहने वाला चेहरा देखा तो धीरे-धीरे उनका क्षोभ दूर हो गया।

राजा-रानी और नगर-निवासियों के तो ऐसे भाव थे, परन्तु सती का इस समय क्या भाव था, यह भी जान लेना आवश्यक है। साधु-संन्यासियों से प्रशंसा सुनकर रात-दिन जिनकी पूजा में वह लगी रहती थी उन्हीं शिवजी के साथ आज अपना प्रत्यक्ष पति-पत्नी-सम्बन्ध होते देख उसके हृदय में जो अगाध आनन्द हो रहा था, उसका वर्णन भला कौन कर सकता है? आंख-से-आंख मिलते ही उसने तो अपना हृदय कैलासपति के चरणों में समर्पित कर दिया। उनके सुन्दर मुख, भस्म लगे हुये शरीर, विशाल चक्षु आदि के सौन्दर्य को सती एकटक निहारने लगी। अन्त में उन्हें सम्बोधन करके बोली—"स्वामी! सती के स्वामी! मेरा जीवन आप ही के लिए है। भगवान् मुझे बल दें कि मैं आपकी सहधर्मिणी होने के योग्य बनूँ।"

इस प्रकार सती का विवाह हो गया और अपने पति के साथ वह कैलासपुरी चली गई। कैलासपुरी में सती के पहुंचने पर पुष्पों में पहले से अधिक सौरभ प्रतीत होने लगा, पक्षी अधिक मधुर राग गाने लगे और संन्यासी कैलासपति सती के विवाह के बाद संसारी बन गये। सती भी धर्म और कर्म में अपने पति की पूर्णतः अर्द्धाङ्गिनी बनी। इसी प्रकार आनन्दपूर्वक समय बीतने लगा।

एक समय की बात है कि कैलास में पूर्ण वसन्त छा रहा था और उससे कैलास की अपूर्व शोभा हो रही थी। बर्फ़ लगातार गिरते रहने से कैलास के जो वृक्ष-लताएँ पत्र-पुष्प हीन एवं शोभा-विहीन हो गये थे, ऋतुराज वसन्त का ऐन्द्रजालिक स्पर्श होते ही नवीन फूल-पत्तों से वे ऊपर से नीचे तक सज गये थे। गिरिराज ने बर्फ़ की सफ़ेद पोशाक उतार कर नीले वस्त्र धारण कर लिये थे। पर्वत पर जगह-जगह सफ़ेद, लाल, पीले इत्यादि भिन्न-भिन्न रंगों के फूल खिल रहे थे। पिघले हुए बर्फ़ से सैकड़ों झरने निकल पड़े थे, जो कलकल नाद करते हुए रात-दिन नीचे की ओर बहते थे। घोर शीत के कारण जो जानवर कैलास से नीचे के गर्म प्रदेश में चले गये थे, उनके वापस आजाने से अब फिर चहल-पहल रहने लगी थी। जङ्गलों के भौंरे कैलास को फिर से गुञ्जारने लगे थे और हिंसक जन्तु अपनी गर्जनाओं से कँपकँपी पैदा कर रहे थे। कस्तूरी-मृग नई घास खाने के लोभ से फिर पहाड़ पर आगये थे और पर्वत के ऊपर से चन्दन के वृक्ष अपनी सुगन्धि फैलाकर पर्वत-निवासियों की घ्राणेन्द्रिय को तृप्त कर रहे थे। सारांश यह है कि ऋतुराज वसन्त के आगमन से कैलास के तरु-लता और पशु-पक्षी इत्यादि सभी में नई स्फूर्ति और नया जीवन आ रहा था।

पर्वत के एक उच्च शिखर पर कैलासपति का स्फटिक—महल था। राजमहल के चारों तरफ देवदार के मोटे-मोटे वृक्ष लगे थे, जिससे अपने आप ही चारों ओर एक प्राकृतिक कोट बन गया था। राजमहल के चारों ओर स्निग्धता, विशालता और रमणीयता दिखाई देती थी। तपोवन की गम्भीरता के साथ उपवन-सौन्दर्य का संयोग हो जाने से यह स्थान तपस्या और गृह-सुख, दोनों के लिए उपयोगी हो गया था। महल से कुछ ही दूर देवदार का एक पुराना वृक्ष अपनी शाखा-प्रशाखाएँ फैलाये खड़ा था। पेड़ के नीचे प्राकृतिक पत्थरों की ही एक वेदी भी थी। संध्या का सुहावना समय था। शेर की खाल का आसन बिछाये कैलासपति इस वेदी पर बैठे थे। कैलासपति की बाईं ओर सती विराजमान थीं। वृक्ष पर एक बेल छाई हुई थी। संध्या-वायु के चलने पर यह कोमल वनलता भी उसके साथ हिलती थी और उस झकोरे से इसके सुगन्धित कोमल पुष्प इस देव-दम्पती के शरीर पर इस प्रकार पड़ रहे थे, मानो वृक्ष और लता भी इन युगल प्रेमियों को भक्तिपूर्वक प्रेम-पुष्पाञ्जलि चढ़ा रहे हों। कैलासपति के सिर पर जटा थी, गले में रुद्राक्ष की माला, शरीर पर विभूति और कमर पर व्याघ्र-चर्म। यही वेश सती का था। वह भी अपने पति के साथ शरीर पर गेरुए वस्त्र पहने बैठी थी। गले में रुद्राक्ष की माला थी, हाथ में रुद्राक्ष के दाने और गर्दन, पीठ तथा कमर तक बिखरे हुए बाल थे। दोनों के सम्मुख हाथ में महान् त्रिशूल लिए नन्दी खड़ा था। अस्ताचल-गामी सूर्य की किरणें इनके मुख पर पड़ रही थीं, जिनसे इनका सौन्दर्य अत्युत्कृष्ट प्रतीत हो रहा था। नन्दी आनन्दपूर्वक टकटकी लगाये इनकी ओर निहार रहा था। इस देव-दम्पती को नन्दी ठीक उसी भाव से एकटक निहार रहा था जिस प्रकार कि पितृवत्सल पुत्र अपने माता-पिता को देखता है या प्रजा अपने राजा-रानी को अथवा परमभक्त अपने इष्ट देवता या देवी को। कैलासपति और

सती में परस्पर जीवधारियों के सुख-दुःखों की चर्चा हो रही थी। उपवन के पशु-पक्षी और तरु-लता तक इस समय ऐसे शान्त थे मानो इनकी बातचीत में उन्हें भी रस आ रहा हो। अपनी किरणों से पर्वत के शिखर को जगमगाता हुआ सूर्य इनकी बाईं ओर अस्त हो रहा था। उसकी ओर सङ्केत करके कैलासपति सती से बोले—

"देवी! इसे देखो। जो सूर्य अभी-अभी अपनी उज्ज्वल रश्मियों से संसार को प्रकाशमान कर रहा था, अब उसमें वह तेज और प्रकाश नहीं रहा; और कुछ ही देर में वह बिलकुल प्रकाश-हीन होकर अदृश्य हो जायगा। देवी! संसार के मनुष्यों का जीवन भी ठीक ऐसा ही है। जो लोग आज ज्ञान और गौरव से प्रकाशित हैं, कौन जानता है कि कल ही वे किस अन्धकार में विलीन हो जायँगे? मनुष्य ऐसा मूर्ख और अल्पबुद्धि है कि इस क्षण-भंगुर जीवन के सुख-दुःख को भी चिरस्थायी समझता है!"

सती ने कहा—"स्वामी! जैसे सूर्य उदय और अस्त होता है, क्या मनुष्य के लिए भी वैसा ही नियम है?"

कैलासपति—"हाँ; जिसे साधारण लोग जन्म और मृत्यु कहते हैं, ज्ञानियों के लिये वही उदय और अस्त है। भेद केवल यही है कि सूर्य के दैनिक उदय-अस्त से उसकी ज्योति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, पर मनुष्य के विषय में यह बात नहीं है। मनुष्य तो प्रत्येक नये जन्म के साथ उत्तरोत्तर ज्ञान प्राप्त करके अधिकाधिक उन्नत होता है। दिनों-दिन अधोगति को तो सिर्फ वही प्राप्त होते हैं जो धर्महीन हैं।"

सती—"धर्महीन प्राणी की तो तब कोई गति ही नहीं! उसका क्या सदैव अधःपात ही होता चला जायगा?"

कैलासपति—"नहीं, देवी! ऐसा नहीं है। आत्मा और शिव एक ही है। प्रकृति का यह नियम है कि अपने-अपने कर्मों के

अनुसार पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए हरेक मनुष्य फिर से शिवत्व प्राप्त करता ही है।"

दोनों में इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि इतने में दूर से वीणा की अत्यन्त मधुर ध्वनि सुनाई दी। कोई गायक सुन्दर गीत के द्वारा कैलासपति और सती का गुणगान कर रहा था।

सती के लिए यह स्वर नया न था। वह तो बचपन से ही इससे परिचित थी। कानों में भनक पड़ते ही उसका समस्त शरीर रोमाञ्चित हो उठा। हर्ष से गद्गद् होकर उसने कैलासपति से कहा—"स्वामी! यह तो देवर्षि नारद यहाँ आ रहे हैं। यह स्वर तो उनके सिवा और किसीका नहीं हो सकता।"

कुछ ही देर में दिव्यमूर्ति नारदजी स्वयं वहाँ आ पहुंचे। आपस में यथायोग्य नमस्कार और आदर-सत्कार की बातें होजाने पर, देवर्षि नारद को एक शिला पर बैठाकर, सती ने पूछा—"देवर्षि! कनखल के क्या हाल-चाल हैं? पिता, माता आदि सब राजी-खुशी तो हैं न?"

नारद ने कहा—"सब कुशल है। तुम्हारे माता-पिता, बहिनें आदि सब अच्छी तरह हैं।"

सती—"इतने दिन हो जाने पर भी पिताजी ने मेरी सुध क्यों नहीं ली?"

नारद—"तुम्हारे पिता इन दिनों काम में बहुत व्यस्त हैं। आजकल वह एक बड़े भारी यज्ञ की तैयारी में लगे हुए हैं। भारत भर के अमीर-ग़रीब, पण्डित और मूर्ख सभीको उन्होंने इस यज्ञ में आमंत्रित किया है। मुझे तो यह मालूम पड़ता है कि इस बड़े भारी यज्ञ की तैयारी के ही कारण उन्हें तुम्हारे हाल-चाल पूछने तक की फ़ुरसत नहीं मिली होगी।"

सती ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—"देवर्षि! क्या आप पिताजी

की आज्ञा से मुझे उस यज्ञ में लिवा ले जाने के लिए ही तो नहीं आये हैं?"

नारद—"नहीं, तुम्हारे माता-पिता को तो मेरे यहाँ आने की खबर भी नहीं। मैं तो इधर होकर जा रहा था, तुम्हें देखे बहुत दिन हो गये थे, इसलिए साधारण तौर पर तुमसे मिलने ही के लिए चला आया हूं।"

सती—"पिताजी ने यज्ञ के लिए इतनी अधिक तैयारियां की हैं कि देश-विदेश तक से मनुष्यों को उसमें बुलाया है, तब फिर मुझको क्यों नहीं खबर दी? मुझे निमन्त्रण नहीं भेजा!"

नारद—"इसका मैं क्या जवाब दूं? तुम्हारे पिता की मति ही मारी गई है। क्योंकि जैसा मैंने सुना है उसके अनुसार तो वह तुम्हें बुलावेंगे भी नहीं।"

नारद की इस बात को सुनकर सती आश्चर्य में रह गई। उसका गला भर आया और शोकातुर होकर वह पूछने लगी—"देवर्षि! यह क्यों? हमने ऐसा क्या अपराध किया है?"

नारद—"सुना तो यह है कि कैलासपति के व्यवहार से वह नाराज़ हुए हैं। उनका ऐसा ख्याल है कि कैलासपति ने उनका अपमान किया है। उस अपमान का बदला लेने ही के लिए उन्होंने इस यज्ञ में और सब सगे-सम्बन्धियों को बुलाया है, पर तुम्हें और कैलासपति को निमन्त्रण नहीं भेजा।"

सती—"क्या माताजी को यह मालूम है।"

नारद—"हां, वह भी जानती हैं। उन्होंने राजा दक्ष को बहुत समझाया भी; पर दक्ष ने किसीका कहना नहीं माना। इसी बात पर खिन्न होकर रानी ने खाना-पीना छोड़ दिया है। पर इन बातों की चर्चा से क्या लाभ? मुझे और भी काम हैं। अब मैं चलता हूं।"

नारद तो इतना कहकर चले गये। तब सती ने नम्रता के साथ कैलासपति से पूछा—"स्वामी! पिताजी को आपका व्यवहार बुरा लगा, इसका क्या मतलब?"

कैलाशपति ने कहा—"देवी! मैंने तो उनका कोई अपमान नहीं किया। किसीका अपमान करने का मेरा स्वभाव ही नहीं है। असल बात तो यह है कि कुछ दिन पहले देवताओं के साथ मैं भी एक सभा में गया था। वहां प्रजापति के आने पर और देवताओं ने उनकी जैसी आव-भगत की वैसी मैं न कर सका। इसी बात पर, सुना है, वह मुझसे बहुत बुरा मान गये और मेरा अपमान करने की फिक्र में हैं। तुम्हें यह सुनकर दुःख होता, इसीसे मैंने आजतक तुमसे इसकी चर्चा नहीं की।"

सती—"स्वामी! मेरी एक प्रार्थना है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं एक बार कनखल हो आऊं। मैं वहां जाऊंगी तो पिताजी को सब बातें समझाकर उन्हें मना लूगी।"

कैलासपति—"देवी! और किसी समय अगर तुमने जाने को कहा होता तो कोई बात न थी। परन्तु ऐसे यज्ञ के समय अगर तुम वहां जाओगी तो निश्चय ही सबके सामने वह तुम्हारा अपमान कर बैठेंगे।"

सती—"भला मेरा अपमान वह क्यों करने लगे? मैंने तो उनका अपमान कभी नहीं किया।"

कैलासपति—"सती! तुम तो बिल्कुल भोली हो। तुम प्रजापति को नहीं पहचानतीं। वह ऐसे हैं कि अपने अभिमान में चाहे जो कर सकते हैं। जब उन्होंने मेरा अपमान करने की ठान ली है तो ऐसा सहज मौका पाकर मेरे बदले तुम्हारा अपमान करने में वह जरा भी संकोच नहीं करेंगे। असल बात तो यह है कि मेरा अपमान करने के लिए ही यह यज्ञ रचा गया है। ऐसी

दशा में, बिना बुलाये यज्ञ में जाना तुम्हें शोभा नहीं देता। आगे जैसी तुम्हारी इच्छा हो, विचार करलो।"

सती—"स्वामी! भला मैं आपको क्या समझाऊं? पर लड़की को पिता के घर जाने के लिए निमन्त्रण की क्या जरूरत, यह मेरी समझ में नहीं आता। फिर नारदजी ने जो-कुछ कहा वह क्या आपने नहीं सुना? मेरे लिए माताजी ने अन्न-जल त्याग दिया है; यह जानकर भी अपमान के ख्याल से अगर मैं माता की सेवा करने न जाऊँ तो क्या यह ठीक होगा?"

कैलासपति—"खैर; इस बारे में अधिक वाद-विवाद की क्या जरूरत है। जब तुम जाना ही चाहती हो तो खुशी से जाओ। पर इतना ख़याल रखना कि जो कुछ करना वह समय को देखकर ही करना। क्योंकि मुझे तो भारी शङ्का है कि इस यज्ञ का परिणाम तुम्हारे, मेरे तथा प्रजापति दक्ष—तीनों के लिए अच्छा न होगा।"

नन्दी ने यथासमय कनखल जाने की तैयारियां करदीं। किन्तु मायके जाते वक्त सती ने कोई विशेष शृङ्गार नहीं किया। जिस तपस्वी वेष में वह कैलास में रहती थी, उसी वेष में वह कनखल चली गई। उसके हाथ में त्रिशूल था, गले में स्फटिक की माला थी, हाथ में रुद्राक्ष के दाने थे, शरीर पर भस्म का लेप था, ललाट में भस्म का तिलक था, कमर तक लहराते हुए खुले बाल थे और वस्त्र गेरुए थे। इसी वेष में वह कनखल गई। जिन कनखलवासियों ने बचपन में उसे देखा था, अब उसके पूरे यौवन से प्रफुल्लित सौन्दर्य को देखकर वे चकित हो गये और झुक-झुककर इसे प्रणाम करने लगे। पर सती किसीसे कुछ न बोली। वह तो सीधी राजमहल की उस कोठरी में पहुंची, जहां उसकी माता अन्न-जल त्याग जमीन पर पड़ी-पड़ी रोया करती थी। माता को शोक-ग्रस्त देखकर वह बड़ी मृदुता से बोली—"मां! मैं आई हूं।"

ये शब्द रानी के कानों में संजीवनी के समान पहुंचे। यह सुनते ही वह तुरन्त उठ खड़ी हुई और सती को छाती से चिपका कर बोली—"बेटी! तू आ गई?" और यह कहकर बार-बार वह सती का चुम्बन करने लगी। दोनों के नेत्रों से प्रेमाश्रु-धारा बह निकली। अंत में सती बोली—'मां! मैं एकबार पिताजी से मिलना चाहती हूं। इसीके लिए मैं यहां आई हूं।" रानी ने कहा—"ना बेटी! महाराज अभी यज्ञ-सभा में हैं। इस समय वहां जाने की जरूरत नहीं।"

पर सती कब माननेवाली थी। यह कहती हुई कि "मां, मैंने बहुत दिनों से पिताजी को नहीं देखा है; जरा खड़ी-खड़ी उनसे मिल तो आऊं," रानी के उत्तर की प्रतीक्षा किये बग़ैर ही दौड़ती हुई वह यज्ञ-सभा में जा पहुंची।

यज्ञ-मण्डप राजमहल के सामने वाले विशाल मैदान में बनाया गया था। अनेक देशों के साधु-संन्यासी और दर्शक उसमें एकत्र हुए थे। राजा दक्ष का ऐश्वर्य असीम था। कोई भी व्यवस्था बाक़ी नहीं रखी गई थी। ऊपर भगवे रङ्ग का चन्दोवा था, नीचे यज्ञ की वेदी, और वेदी के आसपास हवन करनेवाले ऋत्विज लोग कुण्डलाकार बैठे हुए थे, जिनके बीचोबीच प्रजापति दक्ष विराजमान थे। हवन का पवित्र धुआं चारों तरफ फैल रहा था। अग्नि में आहुतियां पड़ रही थीं और उनसे प्रज्ज्वलित अग्नि के ताप से राजा दक्ष का मुख तपकर लाल हो रहा था। इसी समय सती वहां पहुंची। सती को देखते ही वहां बैठे हुए लोगों ने सम्मान के साथ उसके लिए रास्ता छोड़ दिया। सती सीधी यज्ञवेदी के पास चली गई और वहां पहुंचकर पिता को साष्टांग नमस्कार किया। क्षणभर के लिए ऋत्विजों के मुँह बन्द हो गये, वेदमन्त्रों की ध्वनि रुक गई और होताओं ने आहुति के लिए जो हाथ बढ़ाये थे

वे जहाँ-के-तहाँ रह गये। दक्ष ने इसका कारण जानने के लिये जो आंख उठाकर देखा तो सामने हाथ जोड़े सती को खड़े पाया। सती को देखते ही उनका चेहरा खिल उठा। स्नेह से गद्गद् होकर उन्होंने पूछा—"सती! तू आ गई?"

परन्तु दूसरे ही क्षण उनका भाव बदल गया। उनकी आँखें चढ़ गईं। अग्नि के ताप से तपा हुआ मुख अब अस्त होते हुए सूर्य की नाईं लाल हो गया। स्वर कठोर हो गया। कर्कश स्वर से वह बोल उठे—"सती! तू यहां क्यों आई? यहां आने के लिए तुझसे किसने कहा था?"

सती ने अपने जीवन में पिता के मुँह से कभी ऐसे शब्द नहीं सुने थे। इसलिए ज़हरीले बाण की नाईं ये शब्द उसके हृदय में चुभ गये। उसकी आंखों से अविरल अश्रु-धारा बह निकली। पर किसी तरह अपने आंसुओं को रोककर वह बोली—"पिताजी! बहुत दिनों से मैं आपसे मिली नहीं थी; इसीसे आपसे मिलने के लिए आई हूं।"

सती के करुण-स्वर से यज्ञ में उपस्थित सब लोगों के हृदय द्रवीभूत हो गये। पर दक्ष पर इसका कोई असर न हुआ। वह तो पहले की तरह ही कठोर-स्वर से बोले—"तुझसे क्या किसीने आने को कहा था जो तू चली आई? मैंने तो तुझे निमन्त्रण भी नहीं भेजा था।"

सती—"पिताजी! सन्तान को माता-पिता से मिलने के लिए निमन्त्रण या बुलावे की क्या जरूरत? मैं तो बिना निमन्त्रण ही आई हूं।"

दक्ष—"सती! प्रजापति दक्ष की कन्या के लिए ऐसा बहाना शोभा नहीं देता। ये शब्द तो उस निर्लज्ज की पत्नी के ही लायक़ हैं, जिसके साथ विधाता ने तेरा पल्ला बांधा है।"

सती—"पिताजी ! आप बिना किसी कारण उन्हें क्यों गाली देते हैं ?"

दक्ष—"क्या निर्लज्ज कहने ही में गाली हो गई ! आकाश ही जिसके वस्त्र हैं उस तेरे पति को निर्लज्ज कहा, इसमें गाली क्या हो गई ? घर और श्मशान, चन्दन और चिता की राख, अमृत और विष को जो एक समान समझता हो, ऐसे तेरे पति को यदि मैंने निर्लज्ज कहा तो उसमें झूठ क्या कहा ? तेरे पागल-जनूनी पति को निर्लज्ज कहा, इसमें इतना गुस्सा काहे का ?"

सती—"पिताजी ! वह निर्लज्ज हों या पागल, अथवा और कुछ; पर मेरे तो वही देवता हैं। आप उनकी निन्दा न कीजिए।"

सती की यह बात सुनकर दक्ष का सारा शरीर क्रोध से कांपने लगा। वह कुछ कहना ही चाहते थे; पर क्रोध से इतने उन्मत्त हो गये कि उनके मुँह से एक भी शब्द न निकल सका।

तब सती ने कहा—"पिताजी ! आप इतने नाराज़ क्यों हैं ? अगर हमसे कोई अपराध हुआ हो तो वह हमें बतला दीजिए और प्रसन्न होकर हमें क्षमा कर दीजिए। क्या हमारा अपराध ऐसा है जिसका कोई प्रायश्चित ही नहीं है ?"

दक्ष—"प्रायश्चित्त तो है; पर वह तेरी मृत्यु से ही होगा। जिस दिन मैं तेरी मृत्यु की खबर सुन लूँगा उसी दिन से उस अधम के साथ मेरा जो सम्बन्ध है उससे मैं मुक्त हो जाऊँगा और सम्बन्ध छूट जाने पर फिर उसके साथ मुझे कोई राग-द्वेष भी नहीं रहेगा।"

सती—"अच्छा। अगर आपकी ऐसी ही इच्छा है तो यही सही। यदि मेरी मृत्यु से ही आपका वैर-भाव मिटता हो और हमारे अपराधों को आप क्षमा करने को तैयार हों तो फिर मेरे लिए भला मृत्यु से अधिक और क्या सुख हो सकता है ? अतः मैं खुशी के साथ आपकी आज्ञा का पालन करूँगी।"

इतना कहकर सती यज्ञ-कुण्ड के पास ही योगासन लगाकर बैठ गई। एकचित्त होकर सिर से पैरों तक अपने तमाम शरीर को उसने गेरुए वस्त्र से ढक लिया। उपस्थित समुदाय चकित होकर एकटक उसे निहारने लगा। पर कोई यह नहीं समझ सका कि उसके इस प्रकार योगासन लगाकर बैठने का प्रयोजन क्या है? इतने में, देखते-देखते, सती के सुन्दर शरीर से एक अपूर्व आभा निकली जिसके प्रकाश के सामने हवन-कुण्ड की अग्नि भी निस्तेज प्रतीत होने लगी। यह आभा सती के ब्रह्माण्ड से निकलती हुई उसकी आत्मा-रूपी दिव्य-ज्योति के साथ मिलकर अनन्त आकाश में विलीन होगई।

इसके बाद दक्ष के यज्ञ का क्या परिणाम हुआ, इसका लिखना व्यर्थ है। माता की हत्या करने वाले को पुत्र जिस दुर्दशा के साथ मार डालता है, उसी प्रकार कैलासपति के गणों ने आकर दक्ष का संहार कर डाला। मणि-मुक्तादि से सज्जित दक्ष के सुन्दर राजमहल को उन्होंने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, जिसके चिह्न उस स्थान पर आज भी दिखाई देते हैं। जिस स्थान पर सती का शरीरान्त हुआ था, वहां पर अभी तक कुण्ड मौजूद है। कनखल में अब पहले-जैसी अपूर्व शोभा नहीं रही। उसके निवासी अब आशाहीन, निरुत्साही और निर्धन हैं। सती के अपमानरूपी पाप के फल-स्वरूप यह सुन्दर स्थान अब श्मशान-सा हो गया है। परन्तु पुण्य-सलिला भागीरथी आज भी कनखल में पहले की तरह ही कलकल-नाद करती हुई बहती है और संसार को सती के महान् आत्म-त्याग की कथा सुना रही है।

शिवजी की जो दशा हुई, वह भी देखिए। तूफ़ान के बाद प्रकृति जैसे शान्त हो जाती है, उसी प्रकार सती की चिन्ता छोड़-कर बेल के वृक्ष के नीचे वह शान्ति के साथ ध्यानमग्न बैठे थे।

ध्यानावस्थित होने के कारण इस समय संसार के सुख-दुःख की उन्हें किञ्चित् परवा न थी। इतने में उनके पांव से ब्रह्मा के कमण्डलु और विष्णु के सुदर्शन चक्र का स्पर्श हुआ, जिससे उनका ध्यान भंग हो गया। ध्यान का भंग होना था कि उनके हृदय में सती के वियोग की तीव्र ज्वाला सुलग उठी। पर सामने ब्रह्मा और विष्णु को मौजूद पाया। तब बोले—"क्या आप दक्ष के लिये आये हैं? नन्दी की चिल्लाहट सुनकर कुछ देर के लिए तो मुझे बड़ा क्रोध हो आया था; फिर क्या हुआ, यह मुझे नहीं मालूम। पर अगर दक्ष का संहार किया गया होगा तो वह अखिल विश्व के कल्याण ही के लिए। क्योंकि दक्ष ने मेरा जो अपमान किया उसे मैं व्यक्तिगत नहीं मानता। उसने तो मेरा अपमान करके संसार के वैभवों की परवा न करने वाले उन तमाम लोगों का अपमान किया है, जो सादा होते हुए भी मुमुक्षु हैं। इसलिए जो लोग दैहिक सुख के पक्षपाती नहीं, संसार की भलाई ही जिनका मूलमंत्र है, ऐसे अनेक ऋषि इस यज्ञ में शरीक ही नहीं हुए थे। मुझे छोड़कर दक्ष ने न केवल मेरा बल्कि इन लोगों का भी अपमान किया है। यही नहीं बल्कि मेरा अपमान करके उन्होंने ग़रीबी के प्रति तिरस्कार प्रकट किया है। सादगी धारण किये बिना, केवल दिखावटी दरिद्रता से, हृदय की शोभा नहीं बढ़ती। फिर पतिव्रता सती का अपमान करके उस उच्च प्रेम का तिरस्कार किया गया है जो स्त्री का पति के प्रति होना चाहिए। ऐसा आदमी दुनिया में रहने क़ाबिल ही नहीं था।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! दक्ष की यज्ञशाला एकबार आप अपनी आंखों से तो देख आइये। स्वर्ग की प्रतिमा-सरीखी आपकी सती हवन-कुण्ड के पास पड़ी है, कम-से-कम उसे तो देख ही लीजिए।"

सती का नाम सुनते ही महादेवजी ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। कैलास में जितने फूल थे, वे सब इस लम्बी सांस से सूख गये। इसके बाद ब्रह्मा और विष्णु के साथ भोलानाथ सती की हालत देखने के लिए यज्ञशाला में पहुंचे।

वहां जाकर देखा तो तमाम यज्ञ-मण्डल युद्धभूमि-सरीखा भयङ्कर प्रतीत हो रहा था। दक्ष का धड़ और मस्तक अलग-अलग पड़े थे, ऋषि लोग बेहोश थे, हवन-कुण्ड से रक्त के जलने की दुर्गन्धि आ रही थी और अन्तःपुर में हाहाकार मच रहा था। नन्दी 'मां'-'मां' कहता हुआ चिल्ला-चिल्लाकर रो रहा था। वीरभद्र, चण्डेश आदि शिवजी के साथी यज्ञ का नाश करके लाल-पीली आंखें किये बैठे थे। तदुपरांत वेदी से कुछ फासले पर उन्होंने जमीन पर पड़े हुए सती के शरीर को देखा। कैलास से विदा होते समय उसके सिर में जो फूल थे वे ज्यों-के-त्यों मौजूद थे। पत्नी के इस मृत-शरीर को महादेवजी ने अपने तीनों नेत्र फाड़कर देखा। पर उन्हें किसी प्रकार का रोष न हुआ। उलटे वे सब लोग, जो यज्ञभूमि में घायल पड़े हुए थे, उनके वरदान से मृत्यु से बचकर उठ खड़े हुए। हां, दम्भी दक्ष का मस्तक दण्डस्वरूप बकरे का कर दिया गया। यज्ञ को स्वयं हरि ने पूरा किया और उसका शेष भाग महादेवजी को अर्पण कर उन्हें सन्तुष्ट किया गया।

अब महादेवजी ने सती के इस पवित्र शरीर को अपनी गोदी में उठा लिया और उसके ऐंठे हुए दोनों हाथों को अपने गले में डालकर, उसे लिये-लिये, पर्वतों की गुफाओं में घूमने लगे। यहां तक कि मृत शरीर के स्पर्श से ही वह अपना विरह-दुःख भूल गये। इस अपूर्व मिलन के आनन्दावेश में वह पागल-सरीखे होगये और अपना सब काम-काज छोड़ रात-दिन सती के शरीर को ही लिये हुए, उसे निरखते और खिलाते हुए, घूमने लगे।

संसार को इससे बड़ा कष्ट हुआ। देवता भी घबरा गये। उन्होंने विचार किया कि जबतक इनके कन्धे पर सती का मृत-शरीर रहेगा तबतक इनका मन ठिकाने नहीं आ सकता। अन्त में लाचार होकर विष्णु ने सब देवताओं की एक सभा की और तीर-कमान से सती के शरीर को ऐसा वेध डाला कि उसके सैकड़ों टुकड़े हो गये। कहा जाता है कि ये टुकड़े भारत के १०८ स्थानों में पड़े और जहां-जहां ये पड़े बताते हैं वे स्थान आजतक प्रसिद्ध देवी-पीठ कहे और माने जाते हैं। विन्ध्याचल, काशी, कामाक्षा, पंजाबान्तर्गत ज्वालामुखी, हिंगलाज, काश्मीर आदि स्थानों में इस घटना के स्मरणस्वरूप आज भी देवी के मन्दिर विद्यमान हैं। यह भी सम्भव है कि सती के अन्तिम स्मरण के रूप में उसकी पवित्र अस्थियों को उसके भक्त आर्यों ने भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में ले जाकर वहां-वहां उनके स्मारकस्वरूप मन्दिरों की स्थापना कर दी हो। जो हो, पर उसी दिन से पवित्र भारतवर्ष में पातिव्रत-धर्म की प्रतिष्ठा हो गई। तभी से जो स्त्री पति-प्रेम से विह्वल होकर अपने प्राण छोड़ती है उसे 'सती' कहा जाने लगा है और आज भारतवर्ष में सैकड़ों ही नहीं बल्कि हजारों अनजान गांवों तक में पति-भक्ति के लिए आत्म-बलिदान करने वाली सतियों के चबूतरे और छत्रियों की लोगों द्वारा पूजा होती है। सती का अनुसरण कर आर्य स्त्रियां अभीतक अपने पति की निन्दा सुनना पसन्द नहीं करतीं—पति चाहे कैसा ही क्यों न हो। सच्ची सहधर्मिणी के प्रति पुरुष का कैसा गहरा स्नेह होना चाहिए, इसका परिचय भोलानाथ शिवजी ने बहुत समय तक अपने कन्धे पर सती की लाश डाले हुए घूम-फिरकर दे दिया।

जिस पत्नी के लिए महादेवजी ने इतना अधिक शोक और त्याग किया, उसके सद्गुणों की पूरी कल्पना भी भला हम किस

तरह कर सकते हैं? सच तो यह है कि शिव और सती ने दाम्पत्य-जीवन के उच्च आदर्श का उदाहरण भारतवासियों के सम्मुख रख दिया है। सती के समान पतिव्रता स्त्री और महादेव के समान पतिव्रता-धारी पुरुष ही, सच पूछो तो, विवाह की पवित्रता का पालन कर सकते हैं। अतः भारत में घर-घर शिव और सती जैसे दम्पती हों, यही जगदीश्वर से हमारी प्रार्थना है।

२

जगत्-जननी

पार्वती

पूर्व-जन्म में वह दक्ष प्रजापति की कन्या थीं। तब इनका नाम सती था। पति के अपमान से दुःखी हो अपना शरीर-त्याग करने के पश्चात् फिर से उन्हीं महादेव से विवाह करने के अभिप्राय से, इन्होंने हिमालय के घर जन्म लिया था। इनकी माता का नाम मेनका था, जो महाप्रतापी राजा हिमालय के समान ही सद्गुणी थीं। पार्वती इस प्रतापी दम्पती की द्वितीय सन्तान थी। यह कन्या भी अपने माता-पिता के ही अनुरूप थी। बाद में जब यह तपस्या के लिए गईं, तब इनका नाम 'उमा' पड़ा। शरीर का वर्ण उज्ज्वल होने से इन्हें 'गौरी' तथा पर्वतराज की कन्या होने के कारण 'पार्वती' कहते हैं। प्रतापी माता-पिता की यह कन्या आज भी जगत्-जननी, आदि-शक्ति और सर्व-व्यापिनी के रूप में भारतवर्ष में पूजी जाती है। जिस दिन इनका जन्म हुआ था उस दिन प्राणी और वनस्पति, सबके सुख-सूर्य का उदय हुआ था। चारों दिशाएँ जगमगा रही थीं और चारों ओर पवित्र वायु फैल रही थी। शुक्ल पक्ष में जैसे चन्द्रमा दिनोंदिन अपनी नई कलाओं के साथ ज्योत्स्नापूर्वक बढ़ता जाता है, उसी प्रकार आयु के साथ-साथ इनका मनोरम शरीर भी उत्तरोत्तर अपूर्व लावण्य से खिलने लगा। माता-पिता का इनपर अपूर्व स्नेह था। इन्हें देख-देखकर वे प्रेम से विह्वल हुए जाते थे. और इनके लाड़-

प्यार में कुछ कसर न रखते थे। उनकी यह धारणा थी कि इस बालिका के पैदा होने से ही हमारा घर पवित्र और सुशोभित हुआ है। पार्वती अपनी सखी-सहेलियों के साथ नदी-किनारे जाती और वहां वे सब रेत के घर बनातीं या गेंद और गुड़ियों से परस्पर खेलतीं। पूर्व-जन्म में इन्होंने जो विद्या प्राप्त की थी, उसका लेश-मात्र भी नाश न होने से विद्यारम्भ का समय आने पर वे तमाम विद्याएँ अपनेआप ही इन्हें आ गईं। फिर धीरे-धीरे बचपन समाप्त होकर यौवन का आरम्भ हुआ। यौवन का उदय होते ही इनका शरीर ऐसा सर्वाङ्ग-सुन्दर हो गया, जैसे सूर्य की किरणों से खिला हुआ कमल। बोली ऐसी मीठी कि इनके मधुर-स्वर के सामने कोयल की कूक भी कर्कश मालूम होती थी। हरिणी के समान चपल चाल थी। और इनके अपूर्व सौन्दर्य एवं अगाध लावण्य का तो वर्णन ही क्या किया जाय? इस सम्बन्ध में तो, अधिक न लिखकर, यही कहना बस होगा कि उपमा-योग्य समस्त पदार्थों को एकत्र कर देने से कैसा अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न होता है, मानो इसे बताने के लिए ही पार्वती के शरीर में उन सबको यथास्थान लगाकर विधाता ने बड़ी सावधानी के साथ इन्हें रचा था।

देवर्षि नारद एकबार घूमते हुए हिमालय के घर जा पहुंचे। वहां पिता के पास इस रूप-गुण-धारी पार्वती पर नज़र पड़ते ही, एकाएक, उनके मुँह से निकल पड़ा—"निःसन्देह यह कन्या एक-न-एक दिन महादेव की अर्द्धाङ्गिनी होकर रहेगी!" माता-पिता को देवर्षि की इस बात से बड़ा सन्तोष हुआ। वे ऐसे निश्चिन्त-से हो गये कि कन्या के पूर्ण युवती हो जाने पर भी उसके लिए और किसी वर को खोजने की फिक्र उन्होंने नहीं की। क्योंकि इस बात को वे भलीभांति जानते थे कि उनकी कन्या को महादेव से अधिक योग्य वर और कोई नहीं मिल सकता। परन्तु भले आदमियों का

नियम है कि अपनी बात के अस्वीकृत होने के अपमान की आशंका से अपने इच्छित विषयों में भी वे प्रायः उपेक्षा-भाव ही दरसाया करते हैं। तदनुसार पर्वतराज को भी यह शंका थी कि मैं जाकर महादेवजी से कहूं और वह मेरी प्रार्थना स्वीकार न करें तो मेरा अपमान होगा। फिर वह यह भी सोचते थे कि कन्या के रूप-गुण की प्रशंसा तो चारों ओर फैल ही गई है; अतः सम्भव है कि महादेव स्वयं ही इसके लिए इच्छा प्रकट करें। परन्तु न तो महादेवजी की तरफ़ से मँगनी आई और न पर्वतराज ही उनके पास कन्या को अर्पित करने की इच्छा प्रकट करने गये।

पर पार्वती और हिमालय के लिए तो स्वयं देव ही अनुकूल अवसर ला रहा था। संयोग की बात कि इसी समय तारकासुर नामक राक्षस देवताओं को बहुत सताने लगा। तारकासुर को ब्रह्मा का वरदान था, जिससे देवता लोग उसका वध नहीं कर सकते थे। अतः शक्तिशाली होकर वह देवताओं को स्वर्ग से निकालने और नाना प्रकार से तग करने लगा। तब देवताओं को एक सेनापति की जरूरत हुई और वे ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने कहा—"आप लोग तो तारकासुर का वध नहीं कर सकते; हां, महादेवजी के जो बालक होगा वह उसे मार सकेगा। पर कठिनाई तो यह है कि महादेवजी ध्यानावस्थित हैं। वह अपनी प्रथम पत्नी दक्ष-कन्या सती के शरीरान्त के बाद विषय-भोग की वासना का परित्याग कर एकान्तवास करने लगे हैं। मेरी या विष्णु की उनके सामने न तो कुछ चल सकती है और न हममें इतना साहस ही है कि उनसे विवाह के लिए कह सकें। हां, हिमालय के घर जो अपूर्व रूपवती कन्या पार्वती है, वह उनके मनको जरूर आकर्षित कर सकती है। अतः आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि महादेव पार्वती के रूप पर मोहित होकर उसके साथ विवाह करलें; जिससे

उनके पुत्र उत्पन्न हो और वह तारकासुर का संहार करके आपके दुःखों का नाश करे।"

पर्वतराज को जब यह मालूम हुआ कि महादेवजी उनके प्रदेश के पास ही कहीं तपस्या कर रहे हैं तो उन्होंने सोचा कि तपस्वी का आदर-सत्कार करना तो राजा का धर्म है, अतः वह उनकी सेवा में प्रस्तुत हुए और अर्घ्य-पाद्य आदि अर्चना करने के उपरान्त अपनी कन्या पार्वती को रात-दिन उनकी सेवा में रहने के लिए वहीं छोड़ आये। पार्वती महादेवजी की पूजा के लिए पुष्प, दर्भ आदि ला देती, हवन की वेदी को होशियारी के साथ लीप-पोत कर साफ़ कर देती तथा और भी कई प्रकार से उनकी तपस्या में सहायता करके उनकी सेवा में लगी रहती। पशुपति महादेव की इस प्रकार निरन्तर सेवा करते हुए जब कभी उसे थकावट मालूम होने लगती तब शिवजी के ललाट पर स्थित चन्द्रमा की किरणों से अपने शरीर को शीतल कर लेती।

इसी प्रकार अनेक दिन बीत गये; किन्तु महादेवजी की तपस्या भंग होने के कोई लक्षण प्रतीत न हुए। उधर देवता लोग प्रतीक्षा करते-करते अधीर हो उठे। तब उनके राजा इन्द्र ने सभा करके मदन (कामदेव) को बुलाया। देवताओं के कष्टों का वर्णन कर इन्द्र ने उससे कहा—"सखा, अब तुम किसी तरह महादेवजी की समाधि को भंग करके हमारी रक्षा करो।" मदन ने 'जो आज्ञा' कह कर अपनी सहमति प्रकट की और ऋतुराज वसंत को अपनी मदद के लिए बुलाकर अपनी पत्नी रति के साथ वह महादेवजी के आश्रम में जा पहुंचा।

हिमालय में वसन्त छा गया। तरु-लताएं नवजीवन से लहरा उठीं। रति ने नारी-जगत् में प्रवेश किया। कामदेव ने अपने अद्भुत स्पर्श से संसार की सूरत बदल दी। स्थावर और जंगम समस्त

पदार्थ, मिलन की आशा से पुलकित और प्रफुल्लित हो उठे। आश्रम के आस-पास फूल खिल गये। पशु-पक्षी अपने-अपने जोड़े बनाकर घूमने लगे। किन्नर-किन्नरियां मिलकर गाने लगे। परन्तु महादेवजी पर इनका कुछ भी असर न हुआ। वह तो अपने ध्यान में वैसे ही मग्न रहे। हां, नन्दी बाहर आया और मुँह पर अंगुली लगाकर इशारे से उसने कामदेव को समझाया कि 'खामोश! यह नादानी ठीक नहीं है। किसी प्रकार की चपलता मत करो।' नन्दी का इतना कहना था कि सारा वन एकदम शान्त होगया। वृक्ष निश्चल हो गये, भौंरों ने गूंजना छोड़ दिया, पक्षी शान्त हो गये, हिरणों ने अपनी क्रीड़ा और उछल-कूद बंद कर दी। परन्तु इसी समय नन्दी की नजर बचाकर पिछले दर्वाजे से कामदेव चुपचाप महादेवजी के आश्रम में घुस गया। वहां जाकर उसने देखा कि महादेवजी व्याघ्रचर्म धारण किये हुए वेदी पर ध्यान-मग्न हैं। उनके शान्त किन्तु तेजस्वी स्वरूप को देखकर कन्दर्प भी भय से कांप उठा। घबराहट के मारे उसके हाथ-पांव ढीले पड़ गये। धनुष-बाण भी हाथ से गिर पड़े। संयोगवश इसी समय दो सखियों के साथ भूधरराज-नन्दिनी पार्वती भी महादेवजी की आराधना के लिए वहां आ पहुँचीं। वसन्त के रंगबिरंगे, सुगंधित पुष्पों के आभूषणों से वह सज्जित थीं; जिनसे उनका अपूर्व लावण्य और भी खिला पड़ता था। कामदेव ने समझा कि पार्वती का आगमन देव-कार्य की सिद्धि का शुभ शकुन है; अब निराश होने की जरूरत नहीं। उसने सोचा कि त्रिलोचन भगवान् कितने ही जितेन्द्रिय क्यों न हों, फिर भी इस देवी की आड़ में मैं उनपर अपना बाण चला ही लूँगा।

जिस समय पार्वती आश्रम में पहुंचीं, उसी समय परमयोगी महादेव अपने अन्तःकरण में परमज्योति परमात्मा का दर्शन करके

ध्यान से निवृत्त हुए। नन्दी ने उन्हें प्रणाम करके कहा—"नगराज-नन्दिनी आपकी सेवा के लिए आई हुई हैं।" महादेवजी ने संकेत द्वारा उन्हें अन्दर बुला लेने को कहा। पार्वतीजी आईं और उनकी दोनों सखियों ने अपने हाथों से चुने हुए वसन्त-काल में शोभा पाने वाले तमाम फूल-पत्तों को त्रिलोचन शङ्कर के चरणों में चढ़ा दिया। तदुपरान्त पार्वती ने उन्हें प्रणाम किया। प्रणाम करने के लिए जैसे ही वह झुकीं, उनके जूड़े में सुशोभित कर्णिक का पुष्प और हाथ का पल्लव उनकी भौंह पर खिसक आये। इसी समय महादेवजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया—"तुझे ऐसा पति प्राप्त होगा जिसने और किसी स्त्री का चिन्तन न किया हो।" पार्वतीजी यह सुनकर लज्जा से सकुचा गईं और उनका सिर झुक गया। थोड़ी देर बाद उन्होंने बड़े प्रेम से गूंथी हुई कमल के बीजों की एक मनोहर माला शिवजी को भेंट की।

मदन चुपचाप यह सब देख रहा था। यह प्रसंग उसे अपने अनुकूल जान पड़ा। अतः 'सम्मोहन' नाम के अपने अचूक बाण को धनुष पर चढ़ाकर उसने शिवजी पर चलाया; जिससे शिवजी का भी मन चञ्चल हो उठा। वह कुछ विचित्र भाव से बार-बार पार्वतीजी के होठ और मुंह को निहारने लगे, यहां तक कि उनके मनोभाव को बदला देख पार्वतीजी ने भी सकुचाकर मुंह फेर लिया।

तब शिवजी को होश आया। अपने मन में इस प्रकार एकाएक विकार को उत्पन्न होते देख उन्होंने चित्त की चञ्चलता को रोका और उसका कारण जानने के लिए चारों ओर दृष्टिपात किया। तब उन्होंने देखा कि एक वृक्ष पर भयभीत मदन बैठा हुआ है। वह अपना धनुष ताने हुए बाण छोड़ने की तैयारी ही में था। यह देख कर महादेवजी को इतना क्रोध आया कि उनके तीसरे नेत्र से आग की एक लपट निकल पड़ी, जिसने देखते-देखते मदन को

जलाकर भस्म कर दिया। इसके बाद शिवजी ने सोचा, यह सब गड़बड़ पार्वतीजी के यहां आने से ही हुई है; अतः या तो उनका यहां आना रोक देना चाहिए या मुझे स्वयं ही यहां से चला जाना चाहिए। अन्त में वह स्वयं ही अपने गणों के साथ एकदम वहां से अन्तर्धान हो गये।

पार्वती को शिवजी के इस प्रकार अन्तर्धान हो जाने से बड़ा दुःख हुआ; यहाँ तक कि उन्हें अपना कुछ होश-हवास भी न रहा। उन्हें तो यह विश्वास था कि सेवा-शुश्रूषा से इस महापुरुष को प्रसन्न करके मैं इसकी पत्नी बनूंगी; पर अब तो उनकी सारी आशा व्यर्थ हो गई। अतः उन्हें इतनी निराशा हुई कि वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ीं। जब घर पर खबर पहुंची तो पर्वतराज दौड़े हुए वहां आये और समझा-बुझाकर उन्हें घर ले गये।

परन्तु घर पहुंच जाने पर भी पार्वतीजी की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। वह दिनोंदिन सूखने लगीं। आखिर लज्जा को छोड़ एक दिन उन्होंने अपनी माता से कहा—"मां! मैं अपने हृदय में शङ्कर भगवान् को वर चुकी हूं। अतएव, उनके दर्शनों के बिना मुझसे एक घड़ी भी नहीं रहा जाता। मैं उन्हें चाहती हूं। अतः उनकी प्राप्ति के लिए तपस्या करने को किसी वन में जाऊँगी और उन्हींका ध्यान करूँगी। मुझे आशा है कि मेरी भक्ति और प्रेम को देख अन्त में वह मेरी ओर आकर्षित हो जायँगे।"

पार्वती की यह बात सुनकर माता ने उन्हें छाती से चिपटा लिया और कहने लगीं—"बेटी! बहुत-से देवता तो मेरे घर में ही रहते हैं। तू उन्हींको क्यों नहीं पूजती? तेरे मनोरथ तो उन्हीं-की पूजा से पूरे हो जायेंगे। भला कहां तपस्या और कहां तेरा यह कोमल शरीर! सरसों का फूल भौंरे का भार चाहे सहले, पर

पत्नी का भार तो उससे कदापि नहीं सहा जा सकता।"

परन्तु दृढ़ संकल्पवाली पार्वती पर माता की सिखावन क्या असर करती ? उन्होंने माता-पिता दोनों को राजी कर लिया और अन्त में तपस्या के लिए दोनों की सम्मति प्राप्त करली।

माता-पिता की आज्ञा मिलते ही पार्वती ने अपने सब आभूषण उतार डाले और वल्कलवस्त्र धारण कर लिये। जूड़े को खोलकर बालों की जटा कर ली। इसके बाद पर्वत के एक उच्च शिखर पर जाकर वह घोर तप करने लगीं। अब वह नियमपूर्वक स्नान करतीं, हवन करतीं, स्तोत्रादि का पाठ करतीं और रात-दिन शिव के नाम की माला जपतीं। धीरे-धीरे तपस्या और भी कठोर होने लगी।

वैसाख-जेठ की सख़्त गर्मी के दिनों में पार्वती अपने चारों तरफ़ धूनी जलाकर बैठतीं। ऊपर से सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से आग को और भी भयङ्कर कर देता। इस प्रकार पार्वती को पंचाग्नि में तपते हुए देखकर बड़े-बड़े तपस्वी भी चकित रह जाते।

सावन-भादों की मूसलाधार वर्षा में पार्वती खुले मैदान में चुपचाप एक शिला पर बैठी रहतीं और वर्षा व बिजली की ज़रा भी परवा न करते हुए अपने ध्यान में मग्न रहतीं। सर्दियों में पहाड़ों पर बर्फ़ जम जाती, ठण्डी हवा चलती, पर पार्वती उस वक़्त तालाब के अन्दर बैठकर तपस्या करतीं। यही नहीं, बल्कि यह उग्र तपस्या करते हुए उन्होंने फल-फूल या कन्द-मूल आदि किसी चीज़ का भोजन भी नहीं किया; केवल जल और वायु से ही अपने शरीर का निर्वाह किया।

इस प्रकार तपस्या करते हुए पार्वती को बहुत दिन हो गये। तब, एक दिन, एक ब्रह्मचारी उनके पास आया। ब्रह्मचारी के सिर

पर लम्बी जटा थी, हाथ में पलाश की लकड़ी और बगल में मृगछाला। उसे देखते ही ऐसा प्रतीत होता था, मानो साक्षात् ब्रह्मचर्य का अवतार हो।

ब्रह्मचारी को देखकर पार्वती उत्साहपूर्वक उठीं और प्रणाम करके कुशल-मङ्गल पूछा। तदुपरान्त अर्घ्य-पाद्य आदि से उसका सत्कार किया। ब्रह्मचारी पार्वती के दिए हुए कुशासन पर बैठ गया और पार्वती से ऐसी कठोर तपस्या करने का कारण पूछने लगा। उसने कहा—"तुम्हें रूप, गुण, ऐश्वर्य, सुख आदि किसी भी प्रकार की कमी नहीं; फिर अपने यौवन के आरम्भ ही में तुम ऐसा कठोर तप क्यों कर रही हो? कहीं योग्य पति प्राप्त करने के लिए तो तुम ऐसा नहीं कर रही हो? यदि ऐसा हो तो आज ही इस तपस्या को समाप्त करदो। क्योंकि तुम-जैसा रत्न ग्राहक को खोजता फिरे, यह तो बिलकुल उल्टी बात हुई। ग्राहक तो खुद ही रत्न की खोज में फिरता रहता है। भला रत्न ग्राहक के पास क्यों जाय?"

तब पार्वती के सङ्केत और उनकी सखियों के कहने से ब्रह्मचारी को मालूम हुआ कि पति-प्राप्ति ही के लिए यह तपस्या है और जिस भाग्यशाली पुरुष को पार्वती ने पसन्द किया है वह और कोई नहीं स्वयं महादेव शङ्कर हैं। यह जानकर वह बोला—"अरे! तुम्हारा यह संकल्प है? यह तो बड़े दुःख की बात है। क्योंकि अगर उसके साथ तुम्हारा विवाह हुआ तो बस यही समझना कि तुमपर आफ़त का पहाड़ टूट पड़ा। तुम्हारा जोड़ा बेमेल होगा। भला कहां तो तुम्हारा सुन्दर कोमल शरीर और कहां सर्पों से आच्छादित उसका भयानक रूप! विवाह के दिन से ही ऊपर आफ़तें आने लगेंगी। तुम सुन्दर महलों में पली हुई हो, पर वह तुम्हें श्मशान में रखेगा। तुम भला उसके किस गुण पर मोहित हो पड़ी हो? उसकी सूरत-शक्ल तो ऐसी है कि देखते

ही भय से चिल्ला उठोगी। कुल का ठिकाना नहीं। धन-दौलत का नाम नहीं। बस, व्याघ्रचर्म की लंगोटी लगाकर रोज इधर-उधर घूमता रहता है। भला, कहाँ तो तुमसी सी मंगलमयी राजकुमारी और कहां अमंगल की साक्षात् मूर्ति शिव! पार्वती, इस अशुभ और अनुचित विचार को तुम हृदय से निकाल ही दो।"

कोई भली स्त्री अपने भावी पति की इस प्रकार बुराई भला कैसे सुन सकती है? पार्वती को भी ब्रह्मचारी की बातों पर बड़ा क्रोध आया। उससे न रहा गया और वह बोल उठी—"बस, क्षमा कीजिए; अब ज्यादा बोलने की जरूरत नहीं है। शिवजी के गुण भला तुम क्या जानो? साधारण मनुष्यों की समझ में महात्माओं के चरित्र नहीं आया करते; इसीसे वे उनकी निन्दा किया करते हैं। भला तुमने यह कहां सुना है कि शिवजी निर्धन हैं? तमाम संसार जिनसे ऐश्वर्य पाता है, वे स्वयं निर्धन या भिखारी भला कैसे हो सकते हैं? सच बात तो यह है कि वह वैभव-ऐश्वर्य को ज़रा भी महत्त्व नहीं देते—इनको ही सब कुछ नहीं समझते! धनहीन होते हुए भी समस्त सृष्टि को वह धन प्रदान करते हैं। श्मशान में रहते हुए भी तीनों लोकों का पालन-पोषण, रक्षण और शासन करते हैं। डरावनी सूरत-शक्ल के होते हुए भी अत्यन्त मंगलमय और कल्याणकारक हैं। अधिक क्या कहूं, वह तो विश्वमूर्ति हैं। तुमने जितनी बातें कही हैं, सब बिना सोचे-समझे कही हैं। फिर दुनिया उन्हें चाहे जैसा समझती हो, मेरे मन में उनके प्रति जो प्रेम और श्रद्धा का भाव है वह तो किसी भी तरह कम नहीं होगा। मैं तो जो संकल्प कर चुकी हूं उसे हर्गिज न छोड़ूँगी।"

ब्रह्मचारी पार्वती की इस बात पर कुछ कहने ही वाला था कि पार्वती ने उसे रोक दिया और अपनी सखी से कहा—"सखि!

जान पड़ता है कि यह ब्रह्मचारी फिर भी कुछ बोलना चाहता है; क्योंकि इसके होंठ हिल रहे हैं। अतः तू इसे मना करदे कि यह और कुछ न बोले। क्योंकि महात्माओं की निन्दा करनेवाला ही पाप का भागी नहीं बनता, निन्दा सुनने वाले भी पाप के भागी होते हैं।"

पार्वती इतना कहकर जाने लगीं। इतने में आगे बढ़कर ब्रह्मचारी ने उनका हाथ पकड़ लिया। अब तो पार्वती ने एक विचित्र चमत्कार देखा। ब्रह्मचारी तो न-जाने कहां गायब हो गया, उसके बजाय स्वयं शङ्कर भगवान् खड़े दिखाई दिये! पार्वती उन्हें देखते ही सकुचा गईं। शिवजी बोले, "आज से तुम मुझे अपना ही समझो। तुम्हारे गुणों पर मैं शुद्ध अन्तःकरण से मुग्ध हूं। तुम्हारी तपस्या ने मुझे पूरी तरह तुम्हारे हाथों में सौंप दिया है। बस, आज ही से मैं तुम्हारा हूँ।"

शङ्कर के मुख से अपने मनोरथ के सफल होने की बात सुनकर पार्वतीजी को अपार हर्ष हुआ। वर्षों की तपस्या की थकावट पलमात्र में उतर गई। अपनी सखी के द्वारा उन्होंने शिवजी से कहलाया—"मेरे लिए अगर आप मेरे पिता से प्रस्ताव करें तो उत्तम हो; क्योंकि कन्या-दान पिता द्वारा ही होना चाहिए।"

शिवजी ने इस बात को स्वीकार कर लिया और वशिष्ठ, अङ्गिरा आदि सात परम तेजस्वी ऋषियों को इसके लिए बुलाया। थोड़ी ही देर में ये सातों ऋषि आ पहुँचे और अपने साथ वशिष्ठजी की परम विदुषी पत्नी अरुन्धतीदेवी को भी ले आये। शिवजी ने सप्तऋषियों का तो आदर-सत्कार किया ही, किन्तु देवी अरुन्धती का आदर-सत्कार भी उनसे कुछ कम न किया। यह नहीं कि स्त्री होने के कारण उनके आदर-सत्कार में जरा भी कमी की गई हो। ऐसे विचार तो अज्ञानियों में ही होते हैं कि अमुक पुरुष है

इसलिए उसका अधिक आदर करना चाहिए और अमुक स्त्री है इसलिए उसका कम। ज्ञानवान ऐसे भेदभाव नहीं रखते। वे तो केवल शुद्धचरित्र का सम्मान करते हैं अस्तु, अरुन्धती को देखकर, शिवजी की विवाह करने की इच्छा और भी दृढ़ होगई। अब उन्हें यह मालूम पड़ गया कि एक सुशील विदुषी एवं व्यवहार-कुशल पत्नी पति की सहधर्मिणी होकर नाना प्रकार से उसके लिए कितनी उपयोगी हो जाती है। यह भी वह समझ गये कि धार्मिक क्रियाओं का मूल कारण पत्नी ही है और पतिव्रता पत्नी के मिलने से धर्मनिष्ठा उत्तमता के साथ हो सकती है।

पार्वती के साथ विवाह करने में भी शिवजी का उद्देश्य विषय-भोग नहीं, किन्तु धार्मिक संस्कारों एवं कर्मों को रीत्यनुसार कर सकना ही था। उन्होंने ऋषियों से अपना विचार प्रकट किया और कहा—"आप हिमालय के पास जाकर मेरे लिए उनकी कन्या का प्रस्ताव कीजिए। देवी अरुन्धती आपके साथ हैं ही, इससे यह काम बड़ी सुगमता से हो जायगा; क्योंकि ऐसी बातों में स्त्रियों की बुद्धि बड़ी तेज हुआ करती है।"

भगवान् महादेव की इच्छानुसार, सप्तर्षि हिमालय की राजधानी औषधिप्रस्थनगर में पहुँचे। ऋषियों और देवी अरुन्धती का हिमालयराज ने यथोचित आदर-सत्कार किया और उनसे अपने देश को पवित्र करने का कारण पूछा। उत्तर में योग्य शब्दों में शिवजी का परिचय देकर ऋषियों ने कहा—"बड़े-बड़े देवता जिनके चरणों में सिर नवाते हैं, उनके साथ यदि आप अपनी कन्या का विवाह कर दें तो आप सहज ही में जगद्गुरु शङ्कर के भी गुरु बन जायेंगे। आपके सौभाग्य का पार न रहेगा।"

ऋषि लोग जिस समय हिमालय से बातें कर रहे थे, पार्वती चुपचाप पिता के पास खड़ी थीं। हर्ष के मारे उनका कलेजा उछला

पड़ता था; पर शर्म के मारे, कमल के पत्तों को गिनने के बहाने, वह उसे छिपाने का यत्न कर रही थीं।

ऋषियों की बातें सुनकर हिमालय ने अपनी पत्नी मेनका की राय पूछी। मेनका पतिव्रता थी और पतिव्रता स्त्रियों का यह स्वभाव ही ठहरा कि वे अपने पति के विरुद्ध कोई बात नहीं करतीं। वे तो पति के मन की बात जानकर सदैव उनकी इच्छानुसार ही चलती हैं। अतः मेनका ने भी यही कहा—"ठीक तो है। शङ्कर सरीखा वर भला और कहाँ मिलेगा ? मेरी तो यही सलाह है कि इस सम्बन्ध को सम्पन्न करने में हमें जरा भी विलम्ब न करना चाहिए।" इस प्रकार जब पत्नी की भी सम्मति मिल गई तो उन्होंने अपनी पुत्री पार्वती का हाथ पकड़ कर कहा—"बेटी यहाँ आओ। विश्वात्मा शिव ने मुझसे तुम्हारे लिए प्रार्थना की है। मँगनी के लिए ये लोकमान्य और पूज्य ऋषिराज आये हैं। भला मेरे लिए इससे अधिक सौभाग्य और क्या हो सकता है ?" तदुपरान्त महर्षियों की ओर लक्ष्य करके उन्होंने कहा—"यह कन्या आपको नमस्कार करती है। आज ही से आप इसे त्रिलोचन शिव की पत्नी समझिए।"

इसपर ऋषियों ने पर्वतराज को धन्यवाद दिया और पार्वती को अनेक आशीर्वाद। देवी अरुन्धती ने भी स्नेह के साथ मस्तक पर हाथ फेरकर पार्वती को आशीर्वाद दिया। इसके बाद, ऋषियों की सम्मति से, उसके बाद का चौथा दिन विवाह के लिए निश्चित किया गया।

यह शुभ दिन भी यथासमय आ पहुँचा और शुभ मुहूर्त्त में पुरोहितों तथा ऋषियों के समक्ष हिमालय ने शिवजी को अपनी लाड़ली बेटी पार्वती का कन्यादान कर दिया। ब्रह्मा आदि देवता भी इस पवित्र विवाह में उपस्थित थे। ब्रह्मा ने पार्वती को वीर

माता होने का आशीर्वाद दिया; और देवताओं की प्रार्थना पर, शिवजी ने मदन के शाप का निवारण कर उसे फिर से जीवित कर दिया।

यथासमय वर-कन्या की विदा हुई और पार्वती के साथ शिवजी कैलासपुरी जा पहुँचे। पार्वती के पहुँचने से शिवजी के अन्धेरे घर में रूप की अपूर्व ज्योति जगमगा उठी। पार्वती जैसी सुशिक्षित, सुसंस्कृत एवं विविध कला-निपुण स्त्री के आगमन से शिवजी का निवास-स्थान स्वर्गधाम से भी श्रेष्ठ बन गया। आश्रम के चारों तरफ़ उन्होंने सुगन्धित फूलों की क्यारियाँ लगादीं, जिससे वायु के साथ आनेवाली मीठी सुगन्ध से तमाम आश्रम सुगन्धित हो उठा। पर्णकुटी के आस-पास छाई हुई वेलों की रचना कुछ विचित्र ही शोभा देने लगी। जहाँ नज़र डालो, सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य दिखाई देने लगा। कहीं भौंरे गूंज रहे हैं, तो कहीं पक्षी अपने मधुर राग से क़लरव मचा रहे हैं, मानो वह सब कैलास की इस सुन्दर रचना के लिए पार्वतीजी को धन्यवाद ही न दे रहे हों!

पार्वती के आगमन से शिवजी को जो आनन्द हुआ उसका तो कहना ही क्या! जब दो अद्भुत आत्माओं का मिलन होता है, तब चित्त में कुछ विचित्र प्रकार के आनन्द का होना स्वाभाविक है। पार्वती ने पति के विशालहृदय में हृदयेश्वरी का स्थान पाया। दोनों ही नम्र, सुशील एवं शुद्ध-हृदय थे। दोनों ही के हृदयों में ईश्वर के अनुराग, प्रेम और वैराग्य की सरिता बहती थी—दोनों ही की शुद्ध आत्माएँ संसार की क्षणभंगुर वासना को तुच्छ मानकर यथाशक्ति अपने कर्त्तव्य का पूर्णरूपेण पालन करती थीं।

शिवजी को जंगल में घूमने का बड़ा शौक़ था। इधर हिमालय-जैसे सुन्दर प्रदेश में पली होने के कारण पार्वती भी प्रकृति-

देवी की उपासिका थीं। अतएव, विवाह होने पर पति-पत्नी ने कितना ही समय तो भिन्न-भिन्न स्थानों के भ्रमण में ही व्यतीत किया। किसी दिन सुमेरु पर्वत के रम्य शिखर पर तो किसी दिन मन्दराचल की गुफाओं में, कभी मलयाचल की उपत्यकाओं में तो कभी नन्दन-वन के कुञ्जों में और कभी गन्धमादन पर्वत के घोर वन में—इस प्रकार विहार करते हुए यह देव-दम्पती सुखपूर्वक अपना कालक्षेप करने लगे। कुछ दिन बाद पार्वतीजी गर्भवती हुईं और यथासमय उन्होंने एक बालक प्रसव किया। बालक ऐसा सुन्दर था कि देखते नजर लगे। समुद्र में जैसे रत्न उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पार्वतीजी का यह पुत्र भी देवताओं में रत्न के समान ही हुआ। देवताओं की अभिलाषा इसके जन्म से फलीभूत हो गई। इसके द्वारा अपने शत्रुओं का नाश होने की आशा से देवताओं ने इसपर पुष्प-वृष्टि की। माता-पिता ने बालक का नाम 'कार्त्तिकेय' रखा।

बालक बड़ा सुलक्षणों वाला निकला। किशोरावस्था में पहुंचने के पूर्व ही उसने शस्त्र और शास्त्र दोनों में प्रवीणता प्राप्त कर ली। इतनी छोटी उम्र में उसकी विलक्षणता, वीरता तथा विद्वत्ता आदि गुण देखकर लोग चकित रह जाते थे। धीरे-धीरे किशोरावस्था भी समाप्त हुई और युवावस्था आ गई। तब देवताओं ने आकर शिवजी से प्रार्थना की—"महाराज! आपके पुत्र के द्वारा ही हम लोग तारकासुर के अत्याचारों से त्राण पा सकते हैं। अतः आप अपने पुत्र को आज्ञा दीजिए कि वह हमारे सेनापति बनकर राक्षसों का संहार करें।" यह सुनकर, शिवजी ने अपने पुत्र को रणक्षेत्र में जाने के लिए कहा। तदनुसार कार्तिकेय रण में जाने के लिए विदा मांगने माता के पास गये। वीर माता पार्वती ने उन्हें गोद में लेकर स्नेह से उनका सिर सूँघते हुए कहा—"जाओ बेटा! मैं बड़ी खुशी के

साथ तुम्हें रण में जाने की आज्ञा देती हूं। भगवान् करें, तुम रण में शत्रुओं को पराजित करके मेरा 'वीरमाता' नाम सार्थक करो।"

जिस समय पार्वतीजी ये शब्द कह रही थीं उस समय उनके मुख पर अपूर्व उत्साह, अलौकिक तेज, अद्भुत आनन्द और प्रबल आत्मगौरव के भाव स्पष्ट झलक रहे थे, जैसे कि अपने बालक को धर्मयुद्ध में अथवा देश या जाति-सेवा के लिए भेजते समय किसी भी वीर माता के चेहरे पर झलका करते हैं।

कार्त्तिकेय के नेतृत्व में तारकासुर और उसकी राक्षस-सेना के साथ देवताओं का भयङ्कर युद्ध हुआ। दोनों ओर से खूब बल और कौशल प्रकट किया गया। परन्तु अन्त में कुमार कार्त्तिकेय ने तारकासुर को मार डाला और देवताओं की विजय हुई। तब देवताओं द्वारा खूब सम्मान प्राप्त कर कार्त्तिकेय घर लौटे। उस समय माता-पिता को इतना हर्ष हुआ कि जिसकी कोई हद नहीं। पार्वतीजी ने आज अपने को सच्चे अर्थों में पुत्रवती समझा।

पार्वतीजी के दूसरे पुत्र गणेश थे, जो तमाम शुभ कार्यों में और सब देवताओं में पहले पूजे जाते हैं।

नारी-जीवन का पूर्ण विकास मातृ-पद की प्राप्ति के उपरान्त ही होता है। पुत्रोत्पत्ति के बाद पार्वतीजी भी जगत्-माता कहलाने के योग्य हो गईं। अब सारा संसार उन्हें पुत्रवत् दीखने लगा और पति अथवा माता-पिता के संकुचित दायरे से बढ़कर सृष्टि-मात्र पर उनका स्नेह हो गया। संसार भर में उनकी करुणा और सेवा-रूपी गङ्गा बहने लगी। पति के साथ जब वह घूमने निकलतीं, तो अनेक दुःखी-दरिद्रों के कष्ट निवारण करतीं। प्रवास में किसी दुःखी का आर्त्तस्वर सुनाई पड़ा नहीं कि उधर जातीं और कहतीं,

"अरे! कोई दुखिया रो रहा है। वहाँ चलकर देखें कि उसपर क्या मुसीबत है।" शिवजी कहते—"ऐसे दुखिया तो संसार में अनेक पड़े हैं; तुम किस-किसके कष्टों का निवारण करोगी?" पार्वतीजी जवाब देतीं—"यह तो ठीक; पर नाथ! दया, करुणा और विश्व-सेवा भी तो मनुष्य के स्वाभाविक गुण हैं।" तब पति-पत्नी दुःखी मनुष्य के पास जाते, उसके हाल-चाल मालूम करते और यथाशक्ति उसकी मदद करते। पार्वतीजी को हुए अनेक युग बीत गये; मगर उनकी उदारता दया, विद्वत्ता और नीति-सम्बन्धी बातें हिन्दू बहिनों में आज भी बड़ी श्रद्धा के साथ सुनी जाती हैं और उन्हें सुन-सुनकर वे अपने कर्त्तव्य-कर्मों की शिक्षा प्राप्त करती हैं।

पार्वती की जीवनी लिखने बैठें तो एक छोटा-मोटा पोथा ही तैयार हो सकता है। क्योंकि, यदि प्राचीन ग्रन्थों पर विश्वास रखा जाय तो कहना होगा, वह परम विदुषी भी थीं। शिवजी के समाधि से उठने के बाद पति-पत्नी में विद्या-सम्बन्धी खूब चर्चा हुआ करती थी। पार्वतीजी प्रश्न करतीं और शिवजी नम्रता एवं प्रेम के साथ उत्तर देते। यह तमाम शास्त्र-चर्चा अधिकतर वैराग्य एवं मोक्ष के विषय में हुआ करती थी। तदुपरान्त सांसारिक विषयों पर भी अनेक बातें होती थीं। पुराणों में यह वार्त्ता-विनोद पढ़कर बड़ा आनन्द आता है।

पार्वती संगीत-शास्त्र में भी बड़ी निपुण थीं। संगीत के ताण्डव और लास्य नामक जो दो प्रकार हैं उनमें ताण्डव तो शिवजी का चलाया हुआ है और गुजरात में 'गरबा' का (गोल घेरा बनाकर नाचते हुए गाना) जो प्रकार प्रचलित है उसे पार्वती ने चलाया बताते हैं।

पार्वती में स्त्रियों को शोभा देने वाले गुण तो थे ही, देश-

व्यवस्था का कार्य भी वह भलीभांति जानती थीं। युद्ध-कला में भी वह दक्ष थीं। जगदम्बा, महामाया, शक्ति आदि नामों से पुराणों में उनके पराक्रम की कहानियां वर्णित हैं; और उनके इस वीर स्वरूप को आज भी हिन्दू श्रद्धा-भक्ति के साथ पूजते हैं। स्त्रियां पुष्प से भी अधिक सुकुमार होने पर भी, अन्याय और अत्याचार का मुक़ाबला करने का प्रसंग आ पड़ने पर, कितनी वीरता, साहस और प्रचण्डता दिखा सकती हैं, इन कहानियों पर से इस बात का अन्दाजा सहज ही में लग सकता है। देश-रक्षा में स्त्री और पुरुष दोनों का काम वह स्वयं करती थीं।

एक वार शुम्भ और निशुम्भ नामक दो राक्षसों ने अफ़गानिस्तान के रास्ते से आकर आर्यावर्त्त (भारत) पर चढ़ाई की। उन्होंने आर्यों के खेतों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, गांव-के-गांव उजाड़ दिये और नगरवासियों पर नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे। आर्यों ने कई बार उनका सामना किया, पर उन्हें हरा न सके। एक-एक करके आर्यों के तमाम योद्धा लड़ाई में मारे गये। शूरवीरों के हृदय कांपने लगे। शेष आर्यों ने जब देखा कि हमारे सजातीय वीर तो सब शत्रुओं द्वारा मारे गये और अब हमारे पास शत्रु से लड़ने-योग्य कोई योद्धा नहीं है, तो वे इधर-उधर भाग गये। फिर दो-चार दिन बाद इकट्ठे होकर उन्होंने राजर्षि दधीचि को युद्ध के लिए आमन्त्रित करने का निश्चय किया। दधीचि ऋषि वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके थे। उनकी कमर टेढ़ी पड़ गई थी; मगर आखिर थे तो वीर। भला देश के रक्षार्थ युद्ध करने से वह कैसे आनाकानी करते? अतः आमन्त्रण पाते ही, तपोवन का त्याग कर, देशरक्षा के लिए रणक्षेत्र में आ डटे। उनका वहाँ आना था कि क्षत्रियों में भी जीवन आगया। फिर से वे सब उनके झण्डे के नीचे आ इकट्ठे हुए

और संग्राम करने को कटिबद्ध हो गये। परन्तु वृद्धावस्था तो थी ही; दधीचि मारे गये और आर्यों को फिर से पराजय ही मिली।

अब क्षत्रियों में कोई ऐसा प्रतापी और शूरवीर राजा न रहा जिसे नेतृत्व सौंपा जाता। अन्त में सबने मिलकर खूब विचार के बाद निश्चय किया कि देश की रक्षा के लिए शिवजी को आमन्त्रित किया जाय। तदनुसार कुछ क्षत्रिय-पुत्र कैलास पहुंचे। पार्वतीजी ने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया। जब उन्होंने देश-रक्षा का सन्देश कहा तो पार्वती बोलीं—"शिवजी तो समाधि में हैं। उनको जगाने की मुझे इजाजत नहीं है। वह समाधि से कब उठेंगे, यह भी मैं नहीं जानती। आप कहते हैं कि हमारी सेना में अब कोई नेता नहीं रहा। समस्या विकट है। समय सचमुच बड़ा नाजुक आ पहुंचा है। अच्छा, चलिए; मैं स्वयं आपके साथ चलकर शत्रुओं को परास्त करूँगी।"

पार्वती की यह बात सुनकर वीर युवकों का हृदय भर आया। 'भला शक्तिशाली शत्रु के साथ यह कोमलांगी देवी क्या युद्ध करेगी ?'— इन्हीं विचारों में कुछ देर तक वे मौन रहे। पार्वती उनके मन की बात ताड़ गईं और बोलीं—"क्या आप यह सोचते हैं कि स्त्रियाँ निर्बल होती हैं; वे युद्ध करना नहीं जानतीं ? यह आपकी भारी भूल है। भला जिसके उदर से आप पैदा हुए हैं, जिसके रज एवं मांसादि से आपका शरीर बना है, जिसके दूध से आपके शरीर का पोषण हुआ है, वह स्त्री नहीं तो कौन है ? सच तो यह है कि संसार में आप जितना प्रकाश पाते हैं, उसका कारण भी स्त्री ही है। अतएव इन भ्रान्त विचारों को आप सर्वथा अपने मन से निकाल डालिए। मैं दो कारणों से आपके साथ चलने को तैयार हुई हूं। एक तो इसलिए कि मेरे स्वामी (महादेवजी) इस

समय समाधि में हैं, दूसरे यह बताने के लिए कि रणक्षेत्र में मौजूद रहकर स्त्री एक-एक योद्धा से दस-दस योद्धा का काम करा सकती है। एक माता की आज्ञा से सैनिकों के हृदय में जितना उत्साह पैदा होगा उतना और किसी भी तरह नहीं। आप लोग मेरी बात पर अविश्वास न कीजिए। मुझे साथ ले चलिए; फिर आप स्वयं देखेंगे कि मैं शत्रु-सैन्य को कैसे तितर-बितर किये डालती हूं।"

वीर युवकों ने पार्वतीजी की तमाम बातों को बड़ी सावधानता के साथ सुना। अन्त में विनयपूर्वक बोले—"अच्छा माताजी! आप चलने की कृपा करती हैं तो बड़ी अच्छी बात है, पर चलिए जल्दी ही। अब विलम्ब करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि शत्रुओं ने बड़ी निर्दयता और निष्ठुरता के साथ हमारा पराजय किया है। वे खेतों, जंगलों व गांवों में आग लगाते हैं; और हमारे ग़रीब देशबन्धु घरबार और धन-दौलत से रहित होकर दुःख और कष्ट पा रहे हैं।"

युवकों की यह बात सुनते ही पार्वतीजी तुरन्त उठ खड़ी हुईं। योगियों के वस्त्र उन्होंने उतार दिये और युद्ध का राजसी वेष धारण किया। इसके बाद कैलास के वीरों को साथ लेकर एक वीर सेनानायिका की तरह वह रणभूमि को रवाना होगईं।

प्रभात का समय था। सुगन्धित पवन बह रहा था। इस समय राक्षस-सैन्य के पड़ाव के सामने की रम्य वाटिका में एक कोमलांगी नवयौवना स्त्री फूल बीनती हुई दिखाई दी। उसकी प्राकृतिक कान्ति को देख कर लोग हैरान थे। उसका शरीर ऐसा सुन्दर था मानो परमात्मा ने अपनी सारी कारीगरी उसीमें खर्च कर दी हो। उसके सौन्दर्य के सामने आंखें मिची जाती थीं। बहुतों के मन में यह खलबलाहट मच रही थी कि यह ऐसी कौन-सी मृगनयनी है, जो

शत्रु का जरा भी भय न करते हुए प्रभात के समय इस पुष्पवाटिका में फूल बीन रही है ? किन्तु उस तेजस्वी स्त्री के सामने जाकर बातचीत करने का साहस किसीको न होता था। होते-होते शुम्भ-निशुम्भ नामक राक्षसों के कानों में भी यह बात पहुंची। उन्होंने पता लगाने के लिए अपने दो-चार आदमियों को वहां भेजा। उन्होंने वाटिका में आकर उससे पूछा—"सुन्दरी! तुम कौन हो? महाराज शुम्भ तुम्हें देखना चाहते हैं। उन्होंने सम्मानपूर्वक तुम्हें वहां ले चलने के लिये कहा है। इसीलिये हम यहां आये हैं।" उस रमणी (पार्वतीजी) ने हँसकर कहा—"मुझे लड़ाई में जो हरा दे मैं तो उसीकी हूं। अतः जो मुझे चाहता हो वह आकर मुझसे युद्ध करे।"

यह बात शुम्भ तक पहुंचा दी गई। उसने यह सुनकर एक बलवान आदमी को भेजा कि वह उसे जीतकर ले आवे। उसे यह समझा दिया गया—"देखो, सुन्दरी का वध न करना; जहां तक हो, उसे ज़िन्दा ही बांध लाना।" शुम्भ की आज्ञानुसार वह वीर रण-क्षेत्र में पहुंचा और उसने देवी को शस्त्र चलाने के लिए प्रेरित किया। परन्तु देवी ने उसे चेताकर कहा—"देखो, मेरा वार खाली नहीं जाता;इसलिए संभल जाओ।" और साथ ही कमर से जगमगाती हुई तलवार निकाल कर बात-की-बात में उसका सिर धूल में मिला दिया। तब दूसरे शूरवीर आये और उनकी भी यही गति हुई।

जब यही खबर शुम्भ के पास पहुंची तो इस तरुण स्त्री की वीरता और अद्भुत पराक्रम पर उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने अपने खास कुटुम्बियों को भेजा, पर देवी पार्वती ने उन्हें भी तलवार के घाट उतार दिया। यह देख प्रत्येक मनुष्य भय और आश्चर्य से एक-दूसरे का मुंह ताकने लगा। प्रत्येक सोचने लगा कि यह कैसी स्त्री है कि देखते-देखते रण-देवी का खप्पर भर देती

है। शुम्भ का हृदय क्रोध से जलने लगा। उसने अपने सेनापति रक्तबीज को हुक्म दिया—"अब तू रणभूमि में जा; या तो उसे मार डाल या ज़िन्दा ही पकड़कर मेरे सामने हाज़िर कर। मैं ज़रा देखूं तो सही कि वह कौन स्त्री है जिसका सिर ऐसा घूम गया है।"

राजा का हुक्म मिलना था कि रक्तबीज भी वहां जा पहुंचा। अपने समय के योद्धाओं में वह अद्वितीय माना जाता था। राक्षस लोग उसीके पराक्रम से बारम्बार आर्य सेना को पराजित करते थे। रणभूमि में आकर कुछ देर तक तो वह देवी के मुखारविन्द की कान्ति और सूर्य-समान उसके तेज को देखता रहा, पश्चात् तलवार निकाली और दोनों ओर से खूब वार होने लगे। रक्तबीज ने अपने जीवनभर में किसी योद्धा को ऐसी कुशलता से लड़ते न देखा था। देवी की शस्त्र-विद्या ने उसे चकित कर दिया। देवी का वध करने का उसने बहुतेरा प्रयत्न किया, पर हर बार उसे असफलता ही मिली। अन्त में देवी ने गरजकर कहा—"दुष्ट! अब सावधान हो जा। देख, अब मेरा वार विफल न जायगा।" रक्तबीज ने छल-कपट से अपने को बचाने का प्रयत्न किया; पर देवी ने एकदम तलवार का ऐसा वार किया कि गेंद की तरह उछलकर उसका मस्तक नीचे जा ही पड़ा।

शुम्भ को जब अपने सेनापति के मारे जाने की खबर मिली तो वह बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ा और कहने लगा—"हाय! जिस रक्तबीज के नाम से समर-विजयी शूरवीरों का हृदय भी कांप उठा था आज एक स्त्री ने उसका शरीर काटकर रण-देवि को अर्पण कर दिया!" ऐसे समर-विजयी वीर के मारे जाने का शुम्भ को इतना शोक हुआ कि उसका जी ठिकाने न रहा। गुस्से के मारे उसकी आँखें लाल हो गईं। वह शिरस्त्राण तथा तलवार धारण कर

पार्वतीजी से लड़ने के लिए तत्काल वाटिका में जा पहुँचा और कहा—"तूने मेरे बड़े-बड़े योद्धाओं को मार डाला है; अब ज़रा मेरे सामने आ और अपना पराक्रम दिखा।" देवी ने हँसकर कहा—अरे दुष्ट! इतनी शेखी क्यों मारता है? देख, अभी देखते-देखते तुझे तेरे योद्धाओं से मिलाने के लिए यमपुरी पहुँचा देती हूँ।" इसके बाद दोनों गुस्से में आगये और खनाखन तलवारें चलने लगीं। चारों ओर आर्य लोग खड़े हुए इस विचित्र संग्राम की अद्भुत लीला देख रहे थे। हथियार ऐसी कुशलता के साथ चल रहे थे, मानो एक-एक वार शस्त्र-विद्या के एक-एक सूत्र की व्याख्या कर रहा हो। क्रोधावेश से पार्वतीजी के नेत्र रक्तवर्ण हो गये। उन्होंने गरजकर कहा—"अरे दुष्ट! अब चेत! यदि तू मेरे वार से इस बार बच सके तो बच!" और तुरन्त ही उनकी तलवार शुम्भ के मस्तक पर पड़ी। पर शुम्भ के सिर पर लोहे का टोप था; इसलिए बजाय इसके कि उसका सिर कटे, तलवार के ही दो टुकड़े हो गये। तत्कालीन धर्म के नियमानुसार ऐसे मौके पर पार्वतीजी को दूसरी तलवार मिलनी चाहिये थी; पर क्रोध के कारण अन्यायी शुम्भ ने उन्हें दूसरा शस्त्र धारण करने तक का मौक़ा नहीं दिया और उनके बाल पकड़कर उन्हें घसीटने लगा। तब पार्वतीजी के मुँह से 'शिव!' 'प्राणनाथ शिव!' ये शब्द निकल पड़े। एकाएक शिवजी का तेज त्रिशूल शुम्भ की छाती को छेदता हुआ आरपार निकल गया और वह तुरन्त ही ज़मीन पर गिरकर छटपटाने लगा। पार्वतीजी ने शिव के चरण-कमल पकड़ लिये और उनके दल के तरुण वीरों ने हर्षित होकर अमृत-ध्वनि से जयनाद शुरू कर दिया - 'जय! पार्वती माता की जय!! शिवजी की जय!!!'

यहां यह बतला देना भी आवश्यक है कि ऐन मौक़े पर शिवजी वहाँ कैसे जा पहुंचे। बात असल में यह हुई कि जिस समय पार्वतीजी कैलास छोड़कर आईं, उसके थोड़ी देर बाद ही शिवजी समाधि से उठे। जब सेवकों से उन्हें पार्वतीजी के जाने का कारण मालूम हुआ तो उन्होंने सोचा कि पार्वती के उत्साह का परिणाम कहीं हानिकारक न हो, इसकेलिए मुझे भी वहां जाना चाहिये। यह सोचकर वह तुरन्त ही वहां से चल दिये; और जिस समय शुम्भ बाल पकड़कर पार्वतीजी को घसीट रहा था, ठीक उसी समय ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह भी वहां जा पहुंचे थे।

स्त्री-धर्मविषयक पार्वतीजी के कुछ विचारों को बतलाकर अब हम इस चरित्र को समाप्त करेंगे।

एक बार की बात है कि महादेवजी ने पार्वतीजी से उनके स्त्री-धर्म-सम्बन्धी विचार पूछे। उसपर पार्वतीजी ने जो विचार प्रकट किये, वे इस प्रकार हैं —

स्त्रियों के धर्म के विषय में मैं तो सिर्फ यही जानती हूँ कि माता-पिता आदि सम्बन्धियों की आज्ञा और सम्मति के अनुसार योग्य पात्र के साथ विवाह करना स्त्री का मुख्य कर्त्तव्य है।

पति-भक्ति ही स्त्रियों का सबसे बड़ा धर्म है। यही उनकी तपस्या है और यही उनका स्वर्ग है। पति-सेवा से बढ़कर स्त्री के लिए और कोई धर्म या व्रत नहीं है।

पति ही स्त्री का परमदेवता है, परमबन्धु है और परमगति है। स्त्रियों के लिए पति-प्रेम और पति का आदर स्वर्ग से भी अधिक सुख देने वाला है। जो स्त्री ऐसा नहीं मानती, वह महानीच है।

अगर पति प्रसन्न न रहे तो पतिव्रता स्त्री को स्वर्ग-प्राप्ति पर भी सुख नहीं मिलता। स्वामी की सेवा छोड़कर वह स्वर्ग में भी नहीं जाना चाहती।

जो स्त्रियाँ सदाचारिणी और स्नेहमयी होती हैं, वे अपने पति को कठोर वचन कभी नहीं कहतीं। उसके साथ सदैव अच्छा व्यवहार रखती हैं। उसका मुँह देखने में स्वर्ग-समान सुख अनुभव करती हैं। उसकी सेवा करने में अपने-आपको भूल जाती हैं। जिन्हें स्त्री-धर्म का पूर्ण ज्ञान है और उसका पाल करने को जो सदा तत्पर रहती हैं, पतिधर्म ही जिनका मुख्य धर्म है, पातिव्रत्य ही जिनका मुख्य व्रत है, पति के सुख में ही जिनका सुख है, पति के दुःख में ही जिनका दुःख है, जिनके लिए पति देवता है और पति ही सर्वस्व है, वे ही स्त्रियाँ पतिव्रता हैं, वे ही सती हैं। ऐसी स्त्रियों से मैं सदा प्रसन्न रहती हूँ।

जो स्त्री पति की सेवा करने में और उसके आधीन रहने में सबसे अधिक आनन्द मानती है, जो स्त्री स्वामी के कुछ कड़े शब्द कहने या क्रोध करने पर भी उसके बदले में कुछ न कहकर उलटा पति को प्रसन्न करने का ही प्रयत्न करती है, जो पर-पुरुष का मुख तक नहीं देखती, पति के दरिद्र, रोगी, क्रोधी, अंगहीन अथवा कोढ़ी होने पर भी मन, वचन और कर्म से उसकी सेवा करती और उसमें पूर्ण श्रद्धा रखती है, जो गृह-कार्य में चतुर है, पुत्रवती है, पति-परायणा है, समस्त भोग-विलास, आनन्द और वैभव की ओर लक्ष्य न कर एकमात्र पति की सेवा में ही तल्लीन रहती है, जो हर रोज सवेरे जल्दी उठकर घर को झाड़-बुहारकर साफ़ करती है, सदा सुव्यवस्थित रूप से घर का कार्य चलाती है, पति के साथ व्रत-उपवास करती है, अतिथि का यथोचित आदर-सत्कार करती है, सास-ससुर को खुश रखती है, दीन-दुखियों पर दया-भाव रखती है, वही स्वर्गलोक को प्राप्त होती है।

———

ब्रह्मा-पत्नी

सावित्री

सावित्री महर्षि ब्रह्मा की पत्नी थीं। यह परम पूजनीया, परम पवित्र, शुद्धात्मा और सरल स्वभाववाली थीं। घर-गृहस्थी के कामों में तो कुशल थीं ही, साथ ही आध्यात्मिक ज्ञान में भी यह खूब समझ-बूझ रखती थीं। सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्-कुमार नाम के चार पुत्र तथा सरस्वती नाम की एक कन्या इनकी कोख से पैदा हुए थे। आजकल की तरह उस समय पठन-पाठन का प्रचार नहीं था। न कहीं पुस्तकें थीं, न पाठशालाओं का नाम-निशान। लोग वेद के मन्त्र सुनकर कण्ठ कर लेते थे। इसी कारण वेदों को श्रुति कहा जाता है। सावित्री ने अपनी सन्तान को स्वयं ही शिक्षा दी थी। चूँकि सावित्री स्वयं गुणवती और अध्यात्म-विद्या में प्रवीण थीं इसलिए इनकी पाँचों सन्तानें परम विद्वान् हुईं। यहां तक कि उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा हमारे देश में आजतक होती है।

ऋषि-पत्नियों की सभा में सावित्री अपनी सन्तान को साथ ले जातीं और वहाँ उन्हें तथा दूसरी ऋषि-सन्तानों को उपदेश दिया करती थीं। निवृत्ति पर वहां नित्य ही चर्चा होती थी। परिणाम यह हुआ कि इनके सत्संग के प्रभाव से इनकी सन्तान में विरक्ति आ गई और चारों ऋषिपुत्रों ने अपना समस्त जीवन विद्याध्ययन में ही लगा दिया। फलतः उनमें से सनत्कुमार आयुर्वेद के ज्ञाता

एवं परम-पण्डित निकले और सरस्वती आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर अनेक विद्याओं की अधिष्ठात्री हुई। लेख-प्रणाली, गणित और रागविद्या आदि अनेक विद्याओं का प्रचार करनेवाली यह देवी हैं।

सभाओं में सावित्री सदैव यही कहा करती थीं-"मनुष्य को संसार में बालक के समान निर्लेप रहना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार जीवन व्यतीत करने से आत्मसुख प्राप्त होता है और दुःख से छुटकारा मिलता है।" इनके उपदेश का इनकी सन्तानों पर पूरा प्रभाव पड़ा मालूम होता है। क्योंकि सनत्कुमार आदि आज भी बालऋषि के नाम से प्रसिद्ध हैं और सरस्वती का हाल भी सर्वविदित है। उनके चित्र में आज भी भोलापन और बाल्यावस्था की निर्दोषिता प्रदर्शित की जाती है।

घर के काम-काज से जो समय मिलता उसमें सावित्री बालकों को नीति, धर्म, पातिव्रत्य और ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षा देती थीं। शास्त्रों में कहीं-कहीं यह भी लिखा है कि धर्म-शास्त्रों का संग्रह करने में यह ब्रह्मा की मदद करती थीं और ब्रह्माजी भी हर बात में इनका परामर्श लेते थे।

इस देवी की आत्मा और हृदय इतना स्वच्छ और इनका आचरण ऐसा शुद्ध था कि उस समय भी इनके समान पवित्र व्यक्ति बहुत कम थे। फिर भी यह पति (ब्रह्माजी) से अक्सर स्त्री-धर्म की चर्चा किया करतीं और उन उपदेशों से अन्य स्त्रियों को भी लाभ पहुँचाती थीं। सामवेद के गान में यह अद्वितीय थीं जिस छन्द को यह बड़े प्रेम से गाती थीं, कहते हैं कि, ब्रह्माज़ी ने उसे इन्हींके नाम से प्रसिद्ध किया है।

बड़े मीठे शब्दों में यह सदा पति की प्रार्थना किया करती थीं। ब्रह्माजी भी इन्हें बड़ी स्नेह-दृष्टि से देखते थे और पति-पत्नी दोनों सदा परस्पर प्रेम में मग्न रहते थे।

४

विद्या की देवी

सरस्वती

सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री थीं । इनकी माता का नाम सावित्री था। यह अत्यन्त सुन्दरी और रूपवती थीं । सनक, सनन्दन, सनत्कुमार आदि अपने पुत्रों के साथ ब्रह्मा और सावित्री ने इन्हें भी वेदों की अच्छी शिक्षा दी थी । सरस्वती ने वेदविद्या एवं अन्य शास्त्रों के अध्ययन में खूब मन लगाया और इस प्रकार अपने जीवन को आनन्दमय बना लिया था । यहाँ तक कि यह समस्त विद्याओं की साक्षात देवी कहलाने लगी थीं। गान-विद्या में यह बड़ी निपुण थीं। हाथ में सितार लिये हुए ईश्वर के भक्तियुक्त प्रेम में मग्न होकर यह ऐसे गीत गाया करती थीं, जिन्हें सुनकर मनुष्यमात्र ही नहीं वरन् वनचर पशु-पक्षी भी मुग्ध हो जाते थे। अपनी तीव्र बुद्धि से इन्होंने संसार में अनेक विद्याओं का प्रचार किया है। जिस संगीत-शास्त्र से छन्दादि के पठन-पाठन और गाने की रीतियाँ ज्ञात होती हैं, वह इन्हींकी स्वाभाविक और विलक्षण बुद्धि के विचार का फल है। निस्सन्देह श्रुति पहले से थी; परन्तु संस्कृत के ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जो भाषा मिलती है, बहुतों का ख़याल है कि वह इन्हींकी निर्माण की हुई है। सभा में व्याख्यान देने का प्रचार सर्वप्रथम इन्होंने ही किया था, गणित-विद्या को भी अनेक लोग इसी सर्वगुण-सम्पन्न देवी के तीक्ष्ण विचार और परिश्रम का फल बतलाते हैं। स्वर और व्यञ्जन आदि इन्होंने ही बनाये हैं।

मतलब यह है कि इस देवी के आचरणों की इस संसार में इतनी अधिक प्रतिष्ठा हुई कि इनका नाम ही विद्या के समान अर्थ का सूचक बन गया है।

सरस्वती अत्यन्त प्रतिष्ठित और पूजनीय देवी थीं। उस समय के ऋषि-कुमार प्रायः बड़े सुयोग्य और सुशिक्षित हुआ करते थे; परन्तु उस समय भी सरस्वती के योग्य कोई वर नहीं मिला। अतः इन्होंने अपना समस्त जीवन ब्रह्मचर्यावस्था में और सदैव विद्याध्ययन एवं नीतियुक्त शिक्षा प्राप्त करने में ही व्यतीत किया। सरस्वती इस बात का एक उत्तम उदाहरण हैं कि प्राचीन काल में विवाह करने की इच्छा न होने पर कन्याओं को कुमारी रहने की भी स्वाधीनता थी।

ब्रह्मा से लेकर जैमिनी के समय तक सरस्वती की दी हुई विद्या का प्रचार इस देश में खूब रहा। पुराने समय में इस देश में 'सरस्वती' के तात्पर्य को सब लोग भलीभांति समझते थे। विद्याभ्यास के लिए इन्होंने जो नियम प्रचलित किये थे उनका भलीभांति पालन होता था। परन्तु अब हालत बदल गई है। मोर पर विराजमान वीणाधारिणी सरस्वती के दर्शन तो हम सब करते हैं, किन्तु उनके बताये हुए ज्ञान को उपार्जन करने का जरा भी प्रयत्न नहीं करते।

दीपावली का पवित्र दिन इस पवित्र एवं विदुषी देवी की यादगार का दिन है। इस दिन सरस्वती की पूजा करके बालकों को विद्या का आरम्भ कराया जाता था और पकी हुई उम्र के लोग हिसाब-किताब की जांच करते थे। लोग इस समय से विद्या सीखने की प्रतिज्ञा करते थे और इस भांति सरस्वती देवी की वास्तविक प्रतिष्ठा करके अपने आचरणों को सुधारते थे। परन्तु अब तो सांप के चले जाने पर लकीर

को पीटना रह गया है। आज भी हमारे देश में दिवाली का उत्सव बड़े ज़ोर-शोर से मनाया जाता है। व्यापारी लोग इस अवसर पर सरस्वती-पूजन जरूर करते हैं। परन्तु जो समय विद्या के गूढ़ अंशों पर विचार करने में लगाना चाहिए, उसका अधिकांश व्यर्थ के सैर-सपाटों और आतिशबाज़ी चलाने व जुआ खेलने में बिताया जाता है।

सरस्वती नाम की एक नदी भी हमारे देश में है। प्राचीन-काल में इस नदी के तट पर विद्यार्थियों का आश्रम रहा होगा, जहां ऋषि-मुनि एकत्र होकर मीठे स्वर से वेदध्वनि किया करते होंगे और इस आश्रम से शिक्षा प्राप्त कर देश के हरेक भाग में विद्या-प्रचार करते होंगे। वास्तव में वह एक पवित्र स्थान होगा, जहां शुद्ध विचार और पवित्र आचरण रखने की शिक्षा दी जाती होगी। पर आज तो सरस्वती की सिर्फ़ इतनी ही प्रतिष्ठा रहगई है कि इसमें स्नान करना ही मोक्ष-प्राप्ति का एक साधन समझा जाता है! यदि हम सरस्वती के स्नान की सच्ची महिमा को समझें तो हमें अपनी आत्मा को शुद्ध और आचरणों को पवित्र करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सरस्वती का नाम आज भी हमको सचाई पर चलने की राह बतला रहा है और आशा की जाती है कि आर्यसन्तान किसी समय अपनी माता सरस्वती के सच्चे पुत्र कहलाने के योग्य बनकर, माता के नाम की यथावत् प्रतिष्ठा करते हुए, देश की दशा को सुधार लेंगे। उस समय चारों ओर वेद-पाठ की मधुर ध्वनि सुनाई देगी, हमारी गृहदेवियां सरस्वती के बनाये हुए नियमों का पालन कर परमविदुषी देवियां बनेंगी और हमारा भारतवर्ष वास्तव में स्वर्गधाम बन जायगा।

———

५

विष्णु-पत्नी

लक्ष्मी

लक्ष्मीजी का जन्म भृगु ऋषि के घर हुआ था। बचपन में इन्हें उत्तम शिक्षा मिली थी; जिससे इनके विचार ऊंचे थे। रूप भी इनका अपूर्व था। नारदजी ने इनके रूप और गुणों से प्रसन्न होकर विष्णु भगवान् से इनका विवाह कराया था। इनका दाम्पत्य जीवन बड़ा सुखी और शान्त रहा। यह हमेशा पति की सेवा में लगी रहती थीं। स्त्री-धर्म-सम्बन्धी इनके विचार बड़े पवित्र थे, जैसा कि रुक्मिणीजी के साथ होनेवाली इनकी बात-चीत से मालूम होता है। एकबार, उनके पूछने पर, इन्होंने कहा बताते हैं—

मुझे वही स्त्री सबसे अधिक प्रिय है जो अपने पति में अटल भक्ति रखती हो। उसे मैं क्षण-भर के लिए भी अपने से जुदा नहीं कर सकती। ऐसी स्त्रियों के पास रहने से मुझे हर्ष होता है। मैं उनका सत्संग चाहती हूँ और सदा उनके साथ रहती हूँ। इसके विपरीत अनेक गुणों से विभू-षित होने पर भी जो स्त्री अपने पति में श्रद्धा न रखती हो, उसे मैं धिक्कारती हूँ और उसे अपने पास नहीं फटकने देती।

जो स्त्रियाँ क्षमाशील हैं, यानी किसीके कुछ अपराध करने पर भी उसे क्षमा करने को तैयार रहती हैं, उनके घरों में मेरा निवास रहता है।

सदा सच बोलनेवाली स्त्री मुझे बहुत पसन्द है। जिस स्त्री का स्वभाव सरल हो वही मुझे पा सकती है। जो स्त्री छल, कपट और

चालाकी से दूसरों को धोखा देती और झूठ बोलती है, उसे मैं धिक्कारती हूँ, उसे मैं कभी दर्शन भी नहीं देती।

जो स्त्रियाँ पवित्र हैं, शुद्धाचरणवाली हैं, देवता और ब्राह्मणों में भक्ति रखती हैं, पातिव्रत-धर्म का पालन करती हैं, और जो अतिथि की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहती हैं, वे मुझे शीघ्र प्राप्त कर लेती हैं।

जो जितेन्द्रिय हैं और अपने पति के सिवा किसी पर-पुरुष का मुख देखना तक सहन नहीं कर सकतीं, उनके घरों में मैं सदैव निवास करती हूँ—उनका घर मैं कभी नहीं छोड़ती। क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ मुझे अपने वश में कर लेती हैं।

इसके विरुद्ध जो स्त्री हमेशा अपने पति को बुरे लगनेवाले काम करती है, उसे तरह-तरह से तंग करती है और उसे कड़ुवी बातें कहती है, उस या वैसी अन्य स्त्रियों से मैं सख़्त नफ़रत करती हूँ।

जो अपने पति का घर छोड़कर दूसरों के घर में रहने को उत्सुक रहती हैं और पति के मौजूद होते हुए भी पर-पुरुषों से प्रेम करती हैं, वे स्त्रियाँ नरक का कीड़ा बनती हैं। मैं स्वप्न में भी उनके पास नहीं जाती।

जो निर्लज्ज, लड़ाकी, कलहकारिणी, कटुभाषी या बहुभाषी हैं, हर किसीसे बातें करती हैं, चाहे जिसके साथ झगड़ा करती हैं, जिनका स्वभाव क्रोधी है, जो बात-बात में चिढ़ती हैं, स्नेहशील नहीं हैं और जिनमें दया एवं उदारता का अभाव है, उन स्त्रियों को मैं त्याग देती हूँ।

जो सफ़ाई से नहीं रहतीं, बहुत सोती हैं, आलस्य में रहती हैं, बड़ों का कहना नहीं मानतीं, कोई काम करते समय उसके नतीजे पर नजर नहीं रखतीं, घर में सुव्यवस्था नहीं रखतीं, घर की वस्तुओं को इधर-उधर पटक देती हैं, वे स्त्रियाँ मुझे कभी प्रसन्न नहीं कर सकतीं।

देव-माता

अदिति

ऋग्वेद-संहिता के चौथे मण्डल के अठारहवें सूत्र की पाँचवीं, छठी और सातवीं ऋचायें अदिति की बनाई हुई हैं। यह अदिति इन्द्रदेव की माता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी कथा बड़ी कवितामय है।

पुराणों में लिखा है कि अदिति भगवान् कश्यप की स्त्री और इन्द्रादि देवताओं की माता थीं। इनकी सौत दिति के वंश में राक्षस पैदा हुए, जो एक समय बड़े जबरदस्त हो गये थे। उनमें से प्रह्लाद के पोते, विरोचन के पुत्र, राजा बलि ने विश्वजित नामक यज्ञ करके स्वर्ग का भी राज-पद प्राप्त कर लिया था। तब देवताओं को स्वर्ग से निकाल दिया गया और वे बड़ी कठिनाई में पड़ गये। देवताओं की यह दुर्दशा देखकर देवमाता अदिति को बड़ा दुःख हुआ और इसके निवारण का उपाय ढूँढ़ने के लिये उन्होंने मन-ही-मन अपने स्वामी का स्मरण किया। भगवान् कश्यप ने कहा कि पयोव्रत का उद्यापन करके विष्णु की आराधना करो। तदनुसार एकाग्रचित्त होकर अदिति ने उसे समाप्त किया। इसपर प्रसन्न होकर विष्णुजी ने वामनावतार के रूप में इनके गर्भ से जन्म लिया और उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) के समय भीख माँगने के लिए बलि के पास गये। बलि प्रसिद्ध दानी था; उसने कहा जो कुछ माँगना

हो माँगो। वामनरूपी भगवान् ने सिर्फ तीन कदम जमीन माँगी। दानी बलि ने इस बात को तुरन्त स्वीकार कर लिया। तब भगवान् ने अपने बौने शरीर को एकदम महाविशाल बना लिया। उन्हें तीन पग धरती लेनी थी। एक पग में तो उन्होंने पृथ्वी को नाप लिया, दूसरे पग में स्वर्ग तथा चाँद-सूरज-तारों-समेत सारे आकाश को नापा और तीसरे पग के लिए स्थान बाकी ही नहीं रहा! तब बलि बड़ा चकित हुआ। वह सोचने लगा—'स्वर्ग और मृत्युलोक पर तो वामन ने क़ब्जा कर लिया और अपने वचन की पूर्ति के लिए अभी तीसरा पग बाकी ही है; पर अब अपने पास है ही क्या जिसपर उन्हें तीसरा पग रखने दिया जाय?' वह जान गया कि भगवान् ने मुझे छकाया है। अतः विवश होकर उसने अपना मस्तक झुका दिया और कहा—"प्रभु! यह मेरा सिर है, इसपर आप अपना तीसरा पग रखिए।" स्वर्ग और मृत्युलोक का तो वह दान कर ही चुका था, तब उसे वहां खड़े रहने का हक़ भी क्या था? इसीलिए वह पाताल में चला गया और देवताओं को फिर से स्वर्ग का राज्य मिल गया।

वामदेव ऋषि ने एक बार अपनी माता को सताया था; इसपर वह अदिति और इन्द्रदेव के पास चली आई थी। कहते हैं कि इसपर कुछ मन्त्र रचकर अदिति ने वामदेव को खूब फटकारा था। अदिति के एक श्लोक का आशय इस प्रकार है—"जलवती नदियाँ हर्षसूचक कलकल शब्द करती हुई चली जाती हैं। हे ऋषि! तुम उनसे पूछो तो कि वे क्या कहती हैं?"

अद्वैतवाद की मूल-जननी

वाक्

यह अम्भृण ऋषि की कन्या थीं। ऋग्वेद-संहिता के दसवें मण्डल के १२५ वें सूक्त के आठ मंत्र इन्होंने रचे थे, जो देवीसूक्त के नाम से मशहूर हैं। आज हमारे देश में जगह-जगह जो चण्डी-पाठ होता है, पूर्वकाल में उसकी जगह इस देवीसूक्त का ही प्रचार था। मार्कण्डेय पुराण के चण्डी-माहात्म्य-प्रकरण में वाक्-प्रणीत इन आठ मंत्रों के भाव-विषयक विस्तृत वर्णन हैं। चण्डी-माहात्म्य के साथ-साथ आज भी भारत-भर में इस वाक्देवी का माहात्म्य गाया जाता है। संसार में अद्वैतवाद के प्रवर्तक के रूप में श्री शङ्कराचार्य प्रसिद्ध हैं, पर वाक्देवी ने उनके जन्म से अनेक वर्ष पहले ही अद्वैतवाद के उन मूल सिद्धान्तों का प्रचार कर दिया था। जिस मत के आधार पर शङ्कराचार्य ब्राह्मण-धर्म को पुन-र्जीवित कर सके, सच पूछो तो वह मत उनका अपना नहीं था, प्रत्युत् उसकी मूल जननी वाक्देवी हैं। अतः इस महत्त्व के लिए हम शङ्कराचार्य का जो सम्मान करते हैं, उसकी बहुत-कुछ पात्र वास्तव में वाक्देवी ही हैं।

वाक्देवी अपने रचे हुए श्लोक में कहती हैं।

मैं रुद्र, वसु सबकी आत्मारूप होकर विचरण करती हूँ। मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि एवं अश्विनीद्वय को मैं ही धारण करती हूँ।

सारे जगत् की मैं ईश्वरी (अधिष्ठात्री) हूँ। अनेकानेक प्राणी मुझमें समाविष्ट हैं। जीव जो कुछ सुनता है, प्राण-धारण करता है अथवा आहार करता है, वह सब मेरे ही द्वारा होता है। देवता और मनुष्य मेरी ही सेवा करते हैं। मैं ही समस्त कामनाओं को पूर्ण करती हूँ। लोगों को मैं स्रष्टा, ऋषि अथवा बुद्धिमान् बना सकती हूँ। स्तोत्रों के द्वेषी और हिंसकों के वध के लिए रुद्र के धनुष में मैं ही पिरोई गई थी। भक्तों के उपकार के लिए उनके दुश्मनों से मैंने ही युद्ध किया है। स्वर्ग और पृथ्वी में प्रविष्ट होकर मैं ही रही हूँ। इस भूलोक पर आच्छादित आकाश को मैंने ही बनाया है। वायु जिस प्रकार स्वेच्छापूर्वक चलती है, अखिल विश्व को उत्पन्न करनेवाली मैं भी उसी प्रकार अपनी इच्छानुसार ही सब काम करती हूँ। जो कुछ पैदा हुआ है वह सब मेरे अपने ही माहात्म्य से हुआ है।

बुद्धि की उपासिका

रोमशा

यह भावभव्य की धर्मपत्नी और बृहस्पति की पुत्री थीं। इन्होंने ऋग्वेद-संहिता के पहले मण्डल के १२६ वें सूक्त की सात ऋचाएँ रची हैं। ये ब्रह्मवादिनी (ब्रह्म को मानने वाली) थीं और जिन-जिन बातों से स्त्रियों की बुद्धि का विकास होता है उनका वेदानुसार प्रचार करती थीं; इसीलिए ये रोमशा नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। वेद और शास्त्रों की अनेक शाखाएँ इनके रोम (शरीर के बाल) हैं और जो उनका प्रचार करे वह रोमशा है। इनकी बनाई हुई ऋचाओं का अर्थ इस प्रकार है—

जो जितेन्द्रिय उद्योगी पुरुष बुद्धि से काम लिया करते हैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए यह प्रार्थना है। पुरुषार्थी कहते हैं कि बुद्धि हमें खाने की सैकड़ों चीजें देती है ? पर कब देती है ? तब ही न, जबकि उसे चारों ओर से जकड़ा जाय ? बुद्धि पर जो दृढ़ रहता है, बुद्धि भी प्रिया के समान उसे ग्रहण करती है और उसके तमाम दुराचारों का नाश कर देती है।

आगे चलकर बुद्धि कहती है—"हे मनुष्य ! हे उद्यमी पुरुष ! मेरे निकट-से-निकट आकर मेरे बारे में मीमांसा कर। ऐसा विचार कभी मत कर कि मेरे पास विद्यारूपी धन कम है; क्योंकि मैं तो सब तरह से धनवान् हूँ। मेरी सम्पत्तियाँ अनेक हैं।"

मंत्र-द्रष्टा

विश्ववारा

इस ऋषितुल्य महिला का जन्म अत्रि मुनि के वंश में हुआ था।

प्राचीनकालीन ऋषियों ने विश्वरूप, विश्वप्राण, विश्वनियन्ता और विश्वदेव प्रभु के ध्यान में अपने-आपको विसारकर जो स्तोत्र रचे हैं वे वैदिक मंत्र कहलाते हैं। इन वैदिक मंत्रों को हिन्दू लोग साक्षात् विश्वदेवता की वाणी ही मानते हैं। इसीलिए इन वैदिक ऋषियों का नाम 'मंत्रद्रष्टा' (अर्थात् जिन्होंने मंत्रों की रचना केवल अपनी शक्ति से नहीं किन्तु भगवत्कृपा से उन्हें सुनकर या देखकर की हो) रखा गया। जिन स्त्रियों ने इस प्रकार के मंत्र रचे उनमें विश्ववारा का नाम मुख्य है। ऋग्वेद-संहिता के पाँचवें मण्डल के दूसरे अनुवाक् का २८ वाँ सूत्र इनका ही रचा हुआ है। इस सूत्र की छः ऋचाएँ हैं, जो प्रत्येक एक-एक माणिक के समान हैं।

जो स्त्री स्वयं पाप से निवृत्त होकर सब जगह स्त्रियों में वैदिक धर्म का प्रचार करती फिरे और पापों को दूर करती रहे, उसे विश्ववारा कहा जाता है। यह ब्रह्मवादिनी वैदिक अग्निहोत्र (हवन) आदि शुभकर्मों का प्रचार करती थीं। स्वयं भी यज्ञ किया था। विश्ववारा ने जिस मंत्र का उपदेश किया, उसका भावार्थ इस प्रकार है —

(१) प्रज्वलित अग्नि, तेज का विस्तार करके, ठेठ आकाश तक अपनी ज्वाला फैलाती है। प्रातःकाल और रात के समय आग खूब

फैलकर बहुत सुन्दर दीखती है। देवार्चन में निमग्न वृद्ध और विदुषी स्त्री विश्ववारा नमस्कार द्वारा अथवा तरह-तरह के अन्न से विद्वानों का सत्कार और हविष्य द्वारा होम करती हुई जा रही है।

(२) अग्नि! आप समिध्यामान होने से जल की स्वामिनी हैं। कल्याण की इच्छा से हविष्यकर्ता यजमान आपकी सेवा करते हैं। जिस यजमान के पास आप जाती हैं वह पशु आदि समस्त धन पा जाता है। हे अग्नि! आपके उपयुक्त आतिथ्यसूचक हवि हम आपके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। जो स्त्री अग्नि में हवन करती है, यानी वैदिक कर्म को विश्वास और श्रद्धा के साथ पूरा करती है, निश्चय ही वह सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करती है, क्योंकि ऐसी स्त्री का अन्तःकरण पवित्र और मन स्थिर होता है तथा इन्द्रियां अनुकूल और आधीन रहती हुई सदैव जन-समाज के कल्याण में ही प्रवृत्त रहती हैं।

(३) हे अग्नि! अखण्ड सौभाग्य के लिए आप बलवती हों। आपका दिया हुआ धन उत्तम अर्थात् दूसरों का उपकार करने वाला हो। हम स्त्रियों के दाम्पत्य-भाव को और दृढ़ कीजिए। हम स्त्रियों में दुश्मनी करने की इच्छा रखने वाले कुकर्म, कुचेष्टा, लोभ आदि जो दोष हैं उन्हें दूर कीजिए।

यह प्रार्थना सुकर्म और दाम्पत्य-सुख के लिए है और यह निःसन्देह है कि सुकर्मों से ही सौभाग्य और सम्पत्ति प्राप्त होती है। फिर जो स्त्री अपने पति के साथ सदा धर्म-कर्म करती रहती है और सदाचार का पालन करती है उसके साथ उसके पति का मन-मुटाव भी नहीं होता। इसी प्रकार कुचेष्टाएँ भी उसके पास नहीं फटकतीं।

अपाला

विश्ववारा की तरह अपाला भी अत्रि मुनि के ही वंश में पैदा हुई थीं। सायणाचार्य ने 'शाट्यायणब्राह्मण' के अनुसार इनका जो वर्णन दिया है उससे मालूम होता है कि अपाला को कोढ़ की बीमारी हुई थी, जिससे ये बड़ी दुःखी थीं। पति ने भी 'अभागी' कहकर इन्हें अपने यहां से निकाल दिया था। पति द्वारा निकाल दी जाने पर ये अपने मायके में रहने लगी थीं और कोढ़ से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रदेव की आराधना करती थीं। फिर यह सोचकर कि इन्द्र को सोम से प्रेम है और सोम द्वारा ही उन्हें प्रसन्न करना चाहिए, ये एक नदी के किनारे-किनारे सोम की तलाश में चल दीं। वहां से स्नान करके वापस आ रही थीं कि सोम का भी पता लग गया। तब ये सोम के पत्ते चबाने लगीं; जिनकी आवाज सुनकर इन्द्र वहां आ पहुंचे। अपाला इन्द्रदेव को अपने घर ले गईं और सोमरस पिलाकर उन्हें प्रसन्न किया। इसके बाद तीन वर मांगे। इन्होंने कहा कि मेरे पिता का सिर केशहीन है। उनके खेत ऊजड़ हैं और मेरे शरीर पर बाल नहीं हैं; अतः तीनों को बालवाले और हरे-भरे कर दीजिए। इन्द्र ने 'तथास्तु' कहा और उनके आशीर्वाद से अपाला के पिता के सिर में बाल आये, उनके खेत हरे-भरे हो गये और अपाला का कोढ़ भी मिट गया।

एक दूसरे विद्वान् का कथन है कि जो कन्या अपने शरीर-रूपी महादान से किसी पुरुष का पालन न करे वह अपाला कहलाती है। इसलिए अपाला ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी थीं।

चाहे जो हो, पर यह बात निर्विवाद है कि ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ६१वें सूक्त की १ से ७ तक ऋचाएँ इन्हींकी रची हुई हैं। इनकी प्रार्थना का सार यह है—

हे सर्वान्तर्यामी देव! हम कन्याएँ आपको निश्चयपूर्वक साक्षात् जानना चाहती हैं, पर आपको पहचानने में असमर्थ हैं; क्योंकि आप अज्ञेय हैं, फिर भी अपने यौवन से उद्भवित सौन्दर्य हमें आपको ही अर्पण करना उचित है। हे सोम! मेरे शरीर से निकले हुए सौन्दर्य! तू धीरे-धीरे परमदेवता ही के लिए श्रवित हो, यानी क्षीण हो।

मतलब यह कि साक्षात् पति को पहचान कर कन्या जैसे आत्मसमर्पण करती है उसी प्रकार परमेश्वर का साक्षात् नहीं होता; इसलिए कन्या कहती है, 'हे भगवन्! मैं तुम्हें पहचानना चाहती हूं; किन्तु खासतौर पर पहचान नहीं सकती।' और यज्ञ में जैसे धीरे-धीरे सोमरस टपकाया जाता है वैसे ही कन्या कहती है कि 'हे मेरे यौवन-रूपी सोम! आज से तू भी ईश्वर के काम में लगकर धीरे-धीरे टपकता जा।'

———

वेद-प्रचारिका

घोषा

घोषा, सायणाचार्य के अनुसार, कुक्षिवान मुनि की कन्या थी। इसके चाचा का नाम दीर्घश्रवा था। कोढ़ की बीमारी होने के कारण इसका किसीके साथ विवाह नहीं हुआ था। परन्तु देवताओं के चिकित्सक वैद्यराज अश्विनीकुमार की कृपा से घोषा का यह रोग दूर हो गया। तब उसका विवाह कर दिया गया।

घोषा पिता के समान ही विद्वान् और सुप्रसिद्ध थी। इतना ही नहीं, इसने अपनी विद्वत्ता से अपने पिता का मुख उज्ज्वल किया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ३६ और ४० वें सूक्तों की द्रष्टा ये ही हैं। स्वयं 'घोषा' नाम भी अर्थसूचक है। ब्रह्मचारिणी कन्या घोषा कहलाती है। जो वेदों का अध्ययन कर ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान की सर्वत्र घोषणा करे, उसका सर्वत्र प्रचार करे, उसे घोषा कहा जाता है।

जिन दो सूक्तों का ज्ञान घोषा को हुआ था, उनमें कुमारी कन्या के वेदाध्ययन के समय से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय तक के समस्त कर्तव्यों का उल्लेख है। विदुषी ब्रह्मचारिणी ही ये उपदेश अपनी बहनों को अच्छी तरह दे सकती है। इसीलिए ईश्वर ने एक ब्रह्मचारिणी विदुषी द्वारा ही इन सूक्तों का प्रचार करवाया है। इन सूक्तों का संक्षिप्त सार यह है—

"हे अश्विनीकुमार ! आपका जो रथ विचारशील और सुगठित है, जो हविष्यमान अर्थात् कर्म-परिणत ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न उद्यमी लोगों द्वारा आदर करने योग्य है, वह रात-दिन हमारे घर में रहे। इसके लिए हम उपासिकाएँ आदरपूर्वक आपकी प्रार्थना करती हैं। जिस प्रकार हम पिता का नाम आदरपूर्वक लेती हैं उसी प्रकार आपके रथ को भी पुकारती हैं। जो नर-नारी पितृनाम की तरह समयदेव का आदर करते हैं वे सदा सुखी होते हैं।

हे अश्विनीकुमार ! आप हममें मधुर अर्थात् मीठे वचन बोलने की प्रेरणा करें। हमारे कार्यों को पूरा करें। हममें विविध प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करें। हम उपासिकाएँ सच्चे और मीठे वचन, कर्म की पूर्णता तथा विविध प्रकार की बुद्धि—इन तीन बातों की कामना करती हैं; आप पूर्ण कीजिए। हमें अतिप्रशंसित धन का सौभाग्य दीजिए। प्रिय सोम की तरह हमें ज्ञान-विज्ञान तथा धन-सम्पन्न पुरुषों में प्रिय बनाइए।

आप सब प्रकार के कपट से रहित, असहाय और असमर्थ पुरुषों के ऐश्वर्य हैं। भूखे,दीन, अन्धे और दुबले-पतले पुरुषों के आप रक्षक हैं। हे असत्यरहित देव! आप ही नाना प्रकार के क्लेश एवं दुःखों से पीड़ित रोगियों के वैद्य हैं।

हे अश्विनीकुमार ! आपने वृद्ध च्यवन को पुनः युवा बना दिया था। आपने तुग्रपुत्र भुज्य को समुद्र के अथाह जल में से बचा लिया था। हे देव ! आपके ये सब कृत्य यज्ञों में बखान किये जाने योग्य हैं।

हे अश्विनीकुमार ! मैं आपकी इन पुरानी वीरताओं की गाथा जन-समाज को सुनाती हूँ। आप सबके चिकित्सक हैं और सब जगह सुख पहुँचानेवाले हैं, यह बात भी मैं सबको बतलाती हूँ। रक्षा के लिए

आपकी स्तुति करती हूँ। हे असत्यरहित ! हमें ऐसे उपाय सुझाइये कि हमारे शत्रु भी हमारे प्रति श्रद्धा रखें।

हे अश्विनीकुमार ! मैं आपको पुकारकर कहती हूँ, मेरी बात सुनिए। जिस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तान को शिक्षा देते हैं उसी तरह आप मुझे शिक्षा दीजिए। मैं असहाय, बन्धुरहित हूँ; मुझमें बुद्धि भी नहीं। अतः मुझमें किसी भी तरह की निकृष्ट मति उत्पन्न हो तो उसके उत्पन्न होने के पहले ही आप उसका नाश करदें।

आपने वृद्धावस्था को प्राप्त, ब्राह्मण-वेषधारी, कलि को फिर युवा बना दिया था। इससे स्पष्ट है कि समय की गति पहचाननेवाले आदमी नीची अवस्था से ऊँची अवस्था में पहुंच सकते हैं।

हे देदीप्यमान ! अदित ! अदीन ! स्वाहावान् ! स्तोत्रयुक्त मार्गद्वय ! आप जिस पुरुष को पत्नी-सहित अग्रगामी रथवाला बताते हैं, अर्थात् आपकी कृपा से जो रथ पर बैठकर पत्नी-सहित आगे-आगे जाता है, उसे कहीं कोई पाप नहीं लगता; न उसे कोई भय या डर सताता है।

हे अश्विनीकुमार ! आपके जिस रथ को ऋग्देवता बनाते हैं, जिसके योग से चन्द्रलोक की कन्या उषा और सूर्य के सुन्दर पुत्र रात-दिन उत्पन्न होते हैं, मन के वेगवाले उस रथ पर बैठकर आप मेरे पास आइए।

जिस प्रकार कुशल कारीगर रथ बनाता है उसी प्रकार आपके लिए मैं यह प्रार्थना बनाती हूँ और उसे सुन्दर एवं संस्कारयुक्त करती हूँ। जिस प्रकार कुशल विवाह-काल में कन्या को वस्त्राभूषण पहनाकर जंवाई के पास ले जाते हैं, उसी तरह मैं यह स्तुति अर्थात् प्रार्थना भी आपके पास पहुंचाती हूँ। फिर जिस प्रकार शुभ कर्म का विस्तार करने वाले पुत्र को माता-पिता अच्छी तरह पालन-पोषण कर बड़ा करते हैं उसी तरह नित्य मैं इस स्तोत्र को धारण करती हूँ।

ब्रह्मचारिणी कन्याओं के लिए इनकी यह प्रार्थना है —

हे नेता अश्विनीकुमार ! आपके रथ को कहाँ और कैसे यजमान यज्ञ-रूप कर्म में अभ्युदय के लिये बुद्धिपूर्वक प्रतिभूषित करते हैं ? आपका रथ सर्वत्र-विहारी, दीप्तिमान्, प्रातर्गन्ता, सर्वत्र-व्यापक और जनता को दिन-प्रतिदिन धन-सम्पत्ति देनेवाला है ।

हे अश्विनीकुमार ! रात्रि को आप कहाँ रहते हैं और दिन में कहाँ रहते हैं ? आप विश्राम कहाँ करते हैं ? हे शिशु-रक्षक अश्विनीकुमार, जिस प्रकार विधवा स्त्री अपने देवर की और पति-परायणा स्त्री पति की सेवा करती है उसी प्रकार आपको यज्ञ-भूमि में बैठाकर आपकी सेवा कौन करता है ?

जिस प्रकार माता-पिता को सन्तान सुन्दर वाणी से प्रसन्न करती है उसी प्रकार हे अश्विनीद्वय ! आपका भी प्रातःकाल ही सुन्दर स्तोत्र से सत्कार किया जाता है । आप यजमान के दोषों का नाश कैसे करते हैं ?

हे नायक अश्विनीकुमार ! जिस प्रकार शिकारी बड़े-बड़े सिंहों को तलाशकर बुलवाते हैं उसी प्रकार हम ब्रह्मचारिणी कन्याएँ रात-दिन भक्ति-प्रेम-रूप हविष्य द्वारा आपका आवाहन करती हैं । हे जगन्नायक ! सब कोई आपको ही समय-समय पर आहुति देती हैं । आप शुभ कर्म के पति हैं; आप मनुष्य जाति के लिए अन्न उत्पन्न करनेवाले हैं ।

मैं राजकन्या हूँ और वेद की घोषणा और वेद का सन्देश सर्वत्र पहुँचानेवाली स्तुति-पाठिका हूँ । मैं चारों तरफ़ घूम-फिरकर आपकी ही कथा गाती हूँ । विद्वानों से आपके विषय में चर्चा करती हूँ । आप रात-दिन मेरे पास रहें, अवश्य मेरे ही पास रहें; मेरे इन इन्द्रियरूपी घोड़ों से जुते हुए शरीर-रूपी रथ-सहित मनोरूप अश्व का आप दमन करें ।

अश्विनीकुमार ! आपकी कृपा से ऐसा हो कि जब कोई ब्रह्म-वादिनी ब्रह्मचारिणी स्त्री-लक्षणों से युक्त और सौभाग्यशाली होकर विवाह की इच्छा करे तब उसे कमनीय, सुन्दर और युवा वर प्राप्त हो। वह वर कैसा हो ? पुरुषार्थ करने से जिसके घर में स्नेह, माधुर्य, सौन्दर्य आदि का वास हो और गेहूँ, जौ आदि विविध प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हों; जिसके यहाँ दया, परोपकार आदि गुण नीचे बहने वाली नदी की तरह बहते हों और जो रोग आदि से रहित हो। स्त्री को पूर्ण यौवन वाला सर्वगुणसम्पन्न वर प्राप्त हो।

इसके बाद के सूक्त में वर के गुणों का इस प्रकार वर्णन है—

जो मनुष्य स्त्री की प्राण-रक्षा के लिए शक्ति-भर प्रयत्न करे, स्त्रियों को यज्ञ-कार्य में नियुक्त करे, अपनी लम्बी भुजाओं से प्रिया का आलिंगन करे, सुन्दर सन्तान उत्पन्नकर पितृ-यज्ञ में संलग्न करे, ऐसे पति का आलिंगन करने से स्त्रियां सुख पाती हैं। इसलिए हे सोमदेव ! ऐसे गुणवाला वर ब्रह्मचारिणी को प्राप्त हो।

हे अश्विनीकुमार ! युवती के घर में युवा के निवास करने से अर्थात् युवा स्वामी और युवती स्त्री के परस्पर सहवास से जो सुख मिलता है उस सुख के विषय में ब्रह्मचारिणी कन्याएँ कुछ नहीं जानतीं। आप हमें वह विषय समझाइए; क्योंकि अब हम स्त्री पर प्रेम रखने वाले बलवान् और वीर्यवान् पति के ही घर जाने की इच्छा करती हैं।

हे अन्न-सम्पन्न, धन-सम्पन्न अश्विनीकुमार ! आपको सुबुद्धि प्राप्त हो; अर्थात, आप हमारे प्रति उत्तम बुद्धि रखने वाले बनें। आप हमारे मनोरथ पूर्ण करें और आप दोनों हमारे रक्षक हों। आप स्नेहा-धिपति हैं, ऐसा कीजिए कि हम ब्रह्मचारिणियाँ प्रिया बनकर पति के घर जाएँ।

स्तुति-पाठ और नियम-व्रत का पालन करने वाली ब्रह्मचारिणी के ऊपर आप प्रसन्न हों। हम पति के घर में धन-बल और जन-बल

स्थापित करें, स्त्रियां जिस घाट पर पानी पीती हैं उसे सुविधाजनक करें और पति के रास्ते में कोई दुष्ट विचारवाली हो तो उनका नाश करें।

हे दर्शनीय! हे शुभस्पते! हे अश्विनीकुमार! आप आज कहाँ हैं और किस जनता में आमोद कर रहे हैं? कैसा पुरुष आपको नियत करता है और कैसे ब्राह्मण एवं यजमान के घर आप जाते हैं?

इस प्रकार के सरल पर सुन्दर भावयुक्त स्तोत्रों में घोषा ने सुनृत (सत्य) वाणी, शुभ कर्म, प्रचार-बुद्धि और सोम की तरह पति के प्रेम के लिए प्रार्थना की है। शुभ कर्म करने की स्त्री-जाति में बहुत अधिक शक्ति है। धर्मानुष्ठान, दया, आस्तिकता, अक्रूरता तथा निज धर्म-परायणता आदि गुणों से स्त्रियाँ परिपूर्ण होती हैं। स्त्री को अधिक बुद्धि की आवश्यकता इसलिए होती है कि पुरुष का सम्बन्ध तो केवल एक ही कुटुम्ब से होता है, पर स्त्री का सम्बन्ध दो कुटुम्बों के साथ होता है। गृह-शासन, पति की अनुपस्थिति में जीवन-निर्वाह और दुष्ट पुरुषों से अपनी रक्षा करने के लिए भी स्त्रियों को अधिक बुद्धि की आवश्यकता रहती है। धनवान पुरुष धन-वैभव के मद में स्त्रियों का निरादर करते हैं; एक स्त्री के रहते अनेक स्त्रियाँ ब्याहते हैं, अनेक पर-स्त्रियों के साथ व्यभिचार करते हैं; इसलिए स्त्रियों के लिए यह प्रार्थना स्वाभाविक है कि 'यज्ञ के सोम का कोई निरादर नहीं करता, वरन् सब उसकी इच्छा करते हैं, उसी तरह हम भी अपने पति को प्रिय हों; और जिस तरह सोम पीने के बाद फिर किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती उसी तरह हमसे विवाह करने के बाद हमारे पति दूसरी किसी स्त्री की इच्छा न करें।'

पति-पत्नी-सम्बन्ध की व्याख्याता

शश्वती

ब्रह्मवादिनी रोमशा की तरह शश्वती भी वेद की एक ऋचा की ऋषिका हैं। कहते हैं कि ये अंगिरा ऋषि की कन्या और आसङ्ग राजा की पत्नी थीं। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के पहले सूक्त की ३४वीं ऋचा इनकी रची हुई है। रोमशा की भाँति शश्वती भी बुद्धि का ही नाम है। जो जीवात्मा के साथ चिरकाल तक कायम रहे उस बुद्धि को शश्वती कहते हैं। शश्वती पति से कहती हैं —

स्वामिन्! आप सुशोभित भोजन अपने पास रखते हैं। भोजन का टुकड़ा आपके आगे पड़ा दीखता है। यह भोजन स्थिर है, इसका क्षय कभी नहीं होता। यह बड़ा विस्तीर्ण और ईश्वर की ओर झुका हुआ है, इससे आपके पास बहुत-सा भोजन दिखाई दे रहा है।

इस ऋचा की टीका करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है कि आत्मा को सम्बोधन करके यह ऋचा लिखी गई है। आत्मा के सामने अनेक भोजन हैं। आत्मा के पास विविध प्रकार के अक्षय भोजन न होते तो भला पुरुष आत्म-रत, आत्म-क्रीड़ कैसे बनता? और आत्मा से विविध पदार्थ लेकर ही तो बुद्धि ज्ञान का प्रसार करती है। ऋषिका शश्वती इस दृष्टान्त के द्वारा ज्ञान-प्रचार करती थीं। बुद्धि से ही आत्मा की शोभा है, बुद्धि में विकार होने से

आत्मा मलीन हो जाती है; बुद्धि जितनी पवित्र होगी आत्मा उतनी ही शुद्ध और पवित्र रहेगी। जिस प्रकार आत्मा के बगैर बुद्धि नहीं और बुद्धि के बिना आत्मा नहीं उसी प्रकार पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध भी होना चाहिए। स्त्री की शोभा पति और पति की शोभा स्त्री है। बुद्धि और आत्मा में जैसे कोई भेद नहीं, दोनों वास्तव में एक ही हैं, वैसे ही पति-पत्नी को भी अभेदमार्गी होकर संसार में रहना चाहिए। अपना पति चाहे जैसा निर्धन हो, तो भी पत्नी को तो यही भाव रखना चाहिए कि उसके पास अटूट धन है, तरह-तरह के स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ उसके सामने पड़े हुए हैं। ऐसा ही गूढ़ उपदेश इस ऋचा में भरा हुआ है और ब्रह्मवादिनी शश्वती का स्त्रियों के लिए यही उपदेश है।

———

सूर्या ब्रह्मवादिनी

विवाह-सम्बन्धी मंत्रों का प्रचार इसी देवी ने किया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८५वें समस्त सूक्त की ऋषिका ये ही हैं। यह सूक्त विवाह-सम्बन्धी है, जिसमें ४७ ऋचाएँ हैं। शुरू की कुछ ऋचाओं में चन्द्रमा के साथ सूर्यपुत्री सूर्या के विवाह का वर्णन है; जिससे इस सूक्त का प्रचार करनेवाली देवी का नाम सावित्री सूर्या है। आकाश में दीखनेवाले चन्द्रमा में अपना खुद का प्रकाश नहीं होता, वह तो सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है। पृथ्वी की छाया के अनुसार ही पृथ्वी-वासी मनुष्यों को चन्द्रमा घटता-चढ़ता दीखा करता है। वास्तव में देखा जाय तो, न तो वह घटता है और न बढ़ता है। चन्द्रमा में जो प्रभा पड़ती है वही सूर्या के साथ चन्द्रमा का विवाह है। यह वर्णन अलङ्कारपूर्ण भाषा में है। इसका उद्देश्य यह बताना है कि संसार परस्पर सहायक है। अर्थात्, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा-रूपी कन्या को प्राप्त करके चन्द्रमा सुशोभित होता है और जब सूर्य की प्रभा उसपर न पड़ रही हो तो महामलीन दीखता है, वैसे ही स्त्री के बिना पुरुष शोभा नहीं पाता और पत्नीरहित पुरुष बड़ा मलीन हो जाता है। जो पुरुष अपनी धर्मपत्नी के साथ जीवन-यापन करता है, वह चन्द्रमा की

भाँति शुद्ध और उज्ज्वल रहकर दूसरों के लिए भी उपयोगी होता है। फिर दिन का स्वामी सूर्य है और रात का चन्द्रमा। इन दोनों का दर्जा बराबर है, इसलिए स्त्री-पुरुष दोनों का दर्जा समानता का है। इसके सूक्त की कुछ ऋचाओं का भावार्थ इस प्रकार है—

चन्द्रमा को विवाह करने की इच्छा हुई। दोनों अश्विनीकुमार भी वर बने। जब सूर्या को भी विवाह की इच्छा हुई तो सूर्य देवता ने अपने मन से ही उसे चन्द्रमा को समर्पित कर दिया।

यह वर्णन अलङ्कारपूर्ण है। भावार्थ यह है कि मानो सूर्या के विवाह में चन्द्रमा के साथ पृथ्वी भर के सब देवता तो सम्मिलित हुए पर उसका विवाह चन्द्रमा के साथ हुआ। इसका मतलब यह भी है कि वर जब सोम की तरह विवाह की इच्छा करने लगे तभी उसका विवाह होना चाहिए। इस ऋचा में बाल-विवाह का निषेध है। इसके अनुसार तो कन्या भी विवाह की इच्छुक अथवा परिपक्व उम्र की होनी चाहिए।

सूर्या जब विदा होकर पति के घर चली तब उसके बैठने का रथ मन के वेग के समान तेज था। रथ पर सुन्दर चन्दोवा था और दो सफेद बैल जुते हुए थे।

इसका मतलब यह है कि वर-कन्या को उपयुक्त सवारी में बैठाकर आदर-सत्कार के साथ ले जाना चाहिए।

गाय, सोना, वस्त्र आदि वे सब पदार्थ भी सूर्या के साथ गये, जो विवाह के समय उसके पिता ने लग्नदान में दिये थे।

हे सूर्या! तू रथ पर चढ़। यह रथ किंशुक और साल की सुन्दर लकड़ियों का बना हुआ है और इसके ऊपर सुन्दर चन्दोवा तना है। वह बिलकुल साफ़, सोने के साज का, सुगठित और मजबूत बना हुआ है। हे सूर्या! चन्द्रलोक में जाकर तू उसे सुखरूप बनाना और दान की इन सब चीजों को अपनी ससुराल ले जाना।

हे बहू ! इस पति-गृह में ऐसी चीज़ों की वृद्धि हो कि जो प्रजा को और साथ ही तुझे भी प्रिय हों। इस घर में गृह-स्वामिनी बनने के लिए तू जाग्रत हो। इस पति के साथ अपने शरीर का संसर्ग कर और जानने व पहचानने के योग्य परमात्मा को ध्यान में रखते हुए दोनों जने वृद्धावस्था तक मिलते और बातचीत करते रहो। हे बहू ! तू मैले कपड़ों को फेंक दे, अर्थात् मैले-कुचैले कपड़े हर्गिज मत पहन। वेद पढ़ने वाले पुरुषों को दान दे।

गन्दे रहने से, गन्दे कपड़े पहनने से, रोज स्नान न करने से और आलस्य में रहने से तरह-तरह के रोग हो जाते हैं। फिर मैले-कुचैलेपन से होनेवाले रोगों से शरीर कुरूप हो जाता है और शरीर की कान्ति भी नष्ट हो जाती है; और जो पति ऐसी पत्नी के वस्त्र पहनता है उसका शरीर भी शोभाहीन और रोगी हो जाता है। इस प्रकार स्त्री की मलीनता न केवल स्त्री तक ही परिमित रहती है बल्कि उसके द्वारा पति में भी पहुँच जाती है। इसलिये वेद का कथन है कि पति का कल्याण चाहनेवाली स्त्री को स्वच्छ रहना चाहिए।

हे बहू ! सौभाग्य के लिए मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। पतिरूप मेरे साथ ही तू वृद्ध बनना।

हे परमात्मा ! आप इस बहू को सुपुत्रवती और सौभाग्यवती बनावें। इसके गर्भ से दस पुत्र पैदा करें और ग्यारहवें पति को बनाये रखें। हे बहू ! तू अपने अच्छे बर्ताव से ससुराल पर अपना प्रभुत्व जमा, सास को सेवा से बस में कर, ननदों पर राज्य कर और देवरों पर महारानी की तरह शासन कर।

———

जुहू ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १०६ वें सूक्त की ऋषिका जुहू नामक एक स्त्री है। एक ब्रह्मज्ञानी ऋषि की पत्नी होने के कारण ये ब्रह्मजाया कहलाती थीं; नर-नारियों में ये वैदिक कर्म-काण्ड का प्रचार करती थीं; इससे इन्हें जुहू-पद प्राप्त हुआ था। इन्होंने जिस सूक्त का उपदेश किया है उसका सार यह है कि भूतल पर मनुष्य जाति महान् कौतुकशाली और ईश्वर की अद्भुत महिमा प्रकट करनेवाली है। जो मनुष्य जाति ईश्वर को मानती है वही किसी दिन ईश्वर को छोड़ बैठती है और धर्म-कर्म को भूल जाती है। जब-जब ऐसा समय आ पहुँचे, देश-विदेश के बड़े-बड़े विद्वानों और पण्डितों को एकत्र हो सब पक्षों की बातें सुनकर सचाई का निर्णय करना चाहिए। अब ज़रा सूक्त के शब्द देखिए—

"जब-जब ब्रह्मवेत्ता पुरुषों में किल्विष अर्थात् कर्मत्याग-रूपी पाप पैदा हों तब-तब देश के प्रसिद्ध व खास-खास आदमी और आप्यजन तथा ज्ञान-विज्ञान में प्रसिद्ध विदुषी स्त्रियां एकत्र हों और इस बात का निर्णय करें कि वास्तव में क्या सच है और क्या झूंठ।"

निर्णय करनेवाले कैसे होने चाहिएँ, इस विष में ये कहती हैं—

"विद्या में निपुण, विचारशील, देश, काल व पात्र के ज्ञाता, दूरदर्शी, खूब अनुभवी, तटस्थ, धर्मपरायण, ईश्वर से डरने वाले,

फिर जो कूप-मण्डूक न हों, जल की नाईं ठण्डे और पीड़ित हृदय को शान्त करने वाले, वायु की तरह सबका हाल जानने वाले, खूब तेजस्वी तपस्या से उग्र बने हुए यानी अन्याय के सख्त दुश्मन और अपने विचारों से सुख पैदा करें, ऐसे गुणवान पुरुष और विदुषी देवियां इकट्ठे होकर विचार करें।"

इस प्रकार जब वैदिक क्रियाएं नष्ट होने लगें तब उनकी पुनः स्थापना के लिए राजा को क्या-क्या करना चाहिए, इन सब बातों का अलङ्कारपूर्ण भाषा में जुहू ने वर्णन किया है।

———

दान-प्रतिपादिका

दक्षिणा ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १०७वें सूक्त की ऋषिका ब्रह्मवादिनी दक्षिणा थीं। ये दान का प्रचार करती थीं; इससे खुद भी उसी दक्षिणा नाम से मशहूर हो गई हैं। वेदों के आधार पर ये उपदेश करती थीं कि—

हे नारियो! ईश्वर ने तुम्हें कितनी चीज़ें प्रदान की हैं! प्रकाश और गर्मी सूर्य प्रदान कर रहा है। चन्द्रमा तुम्हारी आँखों को कैसा आल्हादित कर रहा है। वायु प्रतिक्षण जीवन-दान देकर तुमपर असीम उपकार कर रहा है। पक्षी अपने मधुर स्वर से तुम्हारे कानों को तृप्त करने का कितना प्रयत्न कर रहे हैं! तरह-तरह के फूल तुम्हें मीठी-मीठी सुगन्ध पहुँचा रहे हैं। ये फलवाले वृक्ष तुम्हें फल देते वक्त क्या तुमसे उनके दाम माँगते हैं? शीतल जल वाली ये नदियाँ जल देते वक्त क्या तुमसे किसी बदले की आशा रखती हैं?

हे मेरे प्यारे धनवान् भाइयो! परमपिता ने सबको एक-दूसरे का सहायक बनाया है। अगर सूर्य की मदद न मिले तो पृथ्वी भला नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न कर सकती है? इसी प्रकार सूत्रात्मा परमात्मा की कल्पनातीत शक्ति के बगैर सूर्य, चन्द्र, वायु, नक्षत्र, पृथ्वी इत्यादि भी अपना-अपना काम नहीं कर सकते। फिर जरा सोचो तो, वह जीव कितने दिन का है? लक्ष्मी सदा किसीके साथ नहीं रही। भला ऐसा

कौन है, जिसे दूसरे की सहायता की अपेक्षा कभी न हुई हो? तुम्हारा कोई पड़ोसी भूखों मर जाय, तुम उसकी ओर ध्यान भी न दो और निश्चिन्तता के साथ सोते रहो, यह क्या तुम्हारे योग्य है? अपने पुरुषार्थ से कमाये हुए धन को तुम्हें फालतू बातों में ख़र्च न कर देना चाहिए; हाँ, जो दान के योग्य हो, उसे दान ज़रूर दो। हे मनुष्यो! तुम्हारा दान निःस्वार्थ होना चाहिए।

अब इनकी रचनाओं का अर्थ देखिए—

जीवों के कल्याण के लिए सूर्य का यह महत्तेज उतरकर आरहा है। अन्धकार से सब जीवों की मुक्ति हो गई। जगत्पाल की किरणों के द्वारा सर्वत्र यह महाज्योति फैल गई है। इससे दक्षिणा के विस्तार वाला मार्ग सूचित होता है।

भावार्थ यह है कि जिस प्रकार प्राणियों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर सूर्य का महातेज फैल रहा है उसी प्रकार उदार पुरुषों के धन-रूपी तेज का सर्वत्र विस्तार हो। जिस प्रकार सूरज की रोशनी से सब जीव अन्धेरे से मुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार धनवान लोगों के धन से क्षुधा-रूपी अन्धकार में पड़े हुए ग़रीब लोगों की मुक्ति हो। जिस प्रकार सूरज की किरणें सूर्य की महाज्योति को सब जगह फैला रही हैं उसी प्रकार धनवानों के धन को उनके बन्धु-बान्धवों तथा नौकरों को सत्पात्रों में फैलाना चाहिए। ईश्वर ने हमें सूरज का तेज प्रदान किया है, वह सूचित कर रहा है कि हरेक आदमी को कुछ-न-कुछ दान अवश्य करना चाहिए। सूर्य का तेज यहाँ सिर्फ़ उदाहरण के तौर पर है। वास्तव में देखा जाय तो ईश्वर की रची हुई सब चीज़ें उसकी तरफ़ से हमें मिला हुआ दान ही है।

दाता को सब जगह हर कोई बुलाता है। सब जगह वह मुख्य रहता है। दक्षिणावान् (दाता) गांव का नायक बनकर सबके आगे-आगे

चलता है। मनुष्यो ! जो मनुष्य दान का रास्ता खोलता है मैं तो उसे ही नृपति मानती हूँ।

ऋषि और ब्रह्मा भी उसे ही कहते हैं। उसे ही यज्ञनेता, सोम-गायक और विविध स्तोत्रों का शासक कहते हैं। जो आदमी दान से अनाथों की आराधना करता है वह अग्नि के तीनों रूपों (आव्हनीय, गार्हपत्य और दक्षिणा) को पहचानता है।

———

सूर्य की पुत्री

तपती

यह विदुषी सूर्यदेव की पुत्री और सावित्री की छोटी बहिन थी। तपती एक तपःपरायण स्त्री थी, इससे तीनों लोकों में इसकी प्रशंसा फैल रही थी। सूर्यदेव का दूसरा नाम तपनदेव है। तपनदेव जैसे रूपवान् थे वैसे ही उनकी कन्या भी अपूर्व रूपवती थी। इस समय में देवकन्या, असुरकन्या, यज्ञकन्या, गन्धर्वकन्या अथवा अन्य कोई भी कन्या तपती जैसी खूबसूरत न थी। तपती की दोनो आँखें विशाल थीं। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग, शरीर का प्रत्येक अवयव कोमल और सम्पूर्ण थे। सूर्यदेव इस अतिशय सुन्दरी, साध्वी और सदाचारी कन्या के अनुरूप सुन्दर, गुणी, शीलवान और विद्वान् वर की तलाश करने लगे; परन्तु उन्हें कोई उपयुक्त वर दिखाई नहीं दिया। धीरे-धीरे कन्या पूर्ण यौवन को प्राप्त होने लगी। यह देख सूर्यदेव को उसके लिए चिन्ता हुई। उन्होंने अनेक वरों को देखा, पर उनको कोई पसन्द न आया। इन्हीं दिनों ऋत्त-पुत्र कुरुक्षेत्र राजा सम्वरण सूर्य की आराधना कर रहे थे। निर-भिमानी पौरवनन्दन सम्वरण स्नान करके स्वच्छ हो एकाग्रचित्त से सूर्य की आराधना करते थे; तपस्या, उपवास, व्रत, नियम तथा अर्घ्य द्वारा वह रात-दिन सूर्यदेव की भक्ति और आराधना में लीन

रहते थे। राजा सम्वरण को इतना कृतज्ञ, धर्मज्ञ और अप्रतिम रूपवान देखकर सूर्यदेव ने सोचा कि तपती के योग्य कोई वर है तो यह राजा सम्वरण ही है। मन-ही-मन उन्होंने सम्वरण के साथ तपती का विवाह करने का संकल्प कर लिया।

दिवाकर सूर्य जैसे अपने प्रकाश से तमाम आसमान को प्रकाशित करता है वैसे ही पृथ्वी पर चारों ओर राजा सम्वरण के गुणों का प्रभाव फैल रहा था। जिस प्रकार सूर्य के निकलते ही ब्राह्मण लोग उसकी उपासना करते हैं वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि प्रजाजन राजा सम्वरण की उपासना करते थे। अपने पराक्रम और सौजन्य से इस राजा ने दूसरे कई राजाओं को भी अपने आधीन कर लिया था। ऐसे सद्गुणी पुरुष के साथ अपनी प्रिय और सद्गुणी कन्या का विवाह करने का सूर्यदेव ने निश्चय कर लिया।

एक दिन ऐसा संयोग हुआ कि महापराक्रमी राजा सम्वरण शिकार के लिए पहाड़ के निकटवर्ती एक जंगल में गये। वहाँ शिकार के पीछे-पीछे दौड़ते हुए भूख-प्यास से घबराकर उनके निरुपम घोड़े ने प्राण त्याग दिये। तब राजा उदास होकर एक वृक्ष के नीचे जा बैठे। इतने में उनकी नजर एक विशाल नयनों-वाली सुन्दरी पर गई। सुनसान जंगल में परम सुन्दरी कन्या को अकेली देखकर राजा एकटक उसकी ओर निहारने लगे। सुन्दरी का तेज अग्नि की ज्योति के समान था और लावण्य चन्द्रमा के समान। मुख पर प्रसन्नता छा रही थी। पहाड़ पर खड़ी हुई वह ऐसी मालूम होती थी मानो कोई दिव्यमूर्ति हो। धीरे-धीरे वे आगे बढ़े और सुन्दरी कन्या को सम्बोधन करके कहने लगे—"हे सुन्दरी! इस निर्जन वन में तू अकेली क्यों घूमती है? तू सर्वाङ्ग-सुन्दर है; फिर तेरे शरीर पर क़ीमती गहने-कपड़े भी हैं।

तू देवकन्या है। या राक्षसकन्या, यक्षकन्या है या नागकन्या, गन्धर्वकन्या है या मानवकन्या, अथवा कौन है, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। हे सुन्दरी! मैंने अपने जीवनभर में जितनी स्त्रियाँ देखी अथवा सुनी हैं उनमें से एक भी ऐसी नहीं जो सुन्दरता में तेरी बराबरी कर सके। हे चारुवदने! पद्म-पलाश (कमल-पत्र) जैसा सुशोभित और चन्द्रमा से भी बढ़कर तेरा सुन्दर मुख देखकर कामदेव की पीड़ा मुझे सता रही है।"

कामातुर राजा सम्वरण के मुँह से बारम्बार ऐसी प्रेम और प्रशंसा की बातें सुनकर, सुन्दरी कन्या एकदम ऐसी अन्तर्धान होगई जैसे बादलों में बिजली ग़ायब हो जाती है। यह सुन्दरी और कोई नहीं सूर्यदेव की कन्या तपती ही थी। उसके एकाएक ग़ायब हो जाने पर राजा पागल की तरह चारों ओर उसे ढूंढ़ने लगा और बहुत देर तक ढूंढ़ते फिरने पर भी जब सुन्दरी न मिली तो एक जगह बैठकर खूब विलाप करने लगा। यहाँतक कि विलाप करते-करते वह बेहोश हो गया।

राजा जब बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा तो कमल-नयनी तपती फिर से अवतीर्ण हो गई और कामातुर राजा को दर्शन दे, हँसती हुई, मीठे शब्दों में कहनी लगी—"राजन्! उठो। भगवान् तुम्हारा मंगल करें। तुम पृथ्वी के प्रसिद्ध भूपति हो। तुम्हें इस प्रकार एकाएक मोह के वश नहीं हो जाना चाहिए।"

तपती की मीठी बातों और स्नेहयुक्त शुश्रूषा से राजा की बेहोशी दूर हो गई और वह सुन्दरी की तरफ देखने लगा। कुछ देर तक तो चुपचाप वह उसकी सौन्दर्यरूपी सुधा का पान करता

रहा। फिर बोला—"हे कोमलांगी ! काम के वश होकर हर घड़ी मैं तेरा ही भजन कर रहा हूं। कृपा करके तू मेरी इच्छा को पूर्ण कर। क्योंकि तेरे बग़ैर मेरा प्राण ही निकला जाता है। तेरे लिए कामदेव मुझे सता रहा है और अन्य किसी प्रकार से उसका शान्त होना संभव नहीं। हे प्रफुल्लचित्त सुन्दरी! काम-रूपी सर्प मुझे डङ्क मार रहा है। हे सुमुखी! इस भुजङ्ग के हलाहल ज़हर से मेरी रक्षा कर। अब मेरा जीवन तेरे ही हाथों में है। तेरे बिना मेरा जीते रहना संभव नहीं। कामदेव मुझे बेहद सता रहा है। तू मुझपर कृपाकर। मैं तेरा भक्त हूं, इसलिए तुझे मेरा परित्याग नहीं करना चाहिए। तुझे तो मेरे साथ नेह-बन्धन जोड़कर मुझे जीवनदान देना ही चाहिए; क्योंकि तुझे देखते ही मेरे हृदय में प्रेम उमड़ आया है और वह मेरे अन्तःकरण को बड़ा चंचल कर रहा है। हे कल्याणी ! तेरा सौन्दर्य देखने के बाद तीनों लोकों की अन्य किसी स्त्री की ओर ताकने की भी अब मुझे इच्छा नहीं रही। मैं तो अब तेरी ही शरण हूँ। तू प्रसन्न होकर शरण आये हुए भक्त को सन्तुष्ट कर। जबसे मैंने तुझे देखा है तभीसे अपने तीखे बाणों से कामदेव मेरे हृदय को बेध रहा है। कामाग्नि से मेरा शरीर जल रहा है। अपने प्रेम-रूपी जल से तू इस अग्नि को शान्तकर। कामदेव मुझे जो असह्य वेदना पहुँचा रहा है, अपने आत्म-दान द्वारा उस वेदना को तू मिटा दे। हे सुन्दरी ! तू मुझसे गन्धर्व-विवाह कर; क्योंकि तमाम विवाहों में गन्धर्व-विवाह ही सबसे श्रेष्ठ है।"

तपती ने ज़वाब दिया—"राजन् ! मेरे पिता मौजूद हैं। अतः अगर मुझपर आपका प्रेम है तो उनसे इसके लिए कहिए। हे नरेश्वर ! जैसे मैंने आपका मन हरण किया है वैसे ही आपने भी दर्शनमात्र से मेरा हृदय आकर्षित कर लिया है। हे नृपोत्तम ! स्त्रियाँ खुदमुख्त्यार नहीं। अपने शरीर पर अपना अधिकार न होने

के कारण ही मैं आपके सामने न आई थी; नहीं तो जिनकी कुलीनता तमाम दुनिया में मशहूर है, ऐसे प्रजावत्सल राजा से विवाह करने की इच्छा भला कौन स्त्री न करेगी ? अतः उपयुक्त समय देखकर मेरे पिता आदित्य को तपस्या, पूजा तथा यम-नियमादि से प्रसन्न करके, आप उनसे मेरे लिए कहें। अगर मेरे पिता आपको मेरा कन्यादान करने को राजी हो जायँ तो मैं सदैव आपके आधीन रहूंगी। हे क्षत्रियवर! मेरा नाम तपती है। मैं तमाम सृष्टि को प्रकाशित करनेवाले सूर्य की पुत्री और सावित्री की छोटी वहिन हूं।

इतना कहकर तपती तुरन्त ही वहाँ से चली गई। राजा सम्वरण फिर जमीन पर गिर पड़े। शिकार खेलने को आए हुए राजा को इस प्रकार जब बहुत देर हो गई तो उनके साथी लोग उन्हें ढूँढ़ते हुए इस सुनसान जंगल में आये। यहाँ उन्होंने ऐरावत हाथी के समान राजा को जमीन पर पड़े देखा। यह देखकर राजा के सब हितैषी चिन्ता में पड़ गये; पर किसी प्रकार हृदय को शान्तकर अनेक उपचारों द्वारा उन्होंने कामातुर राजा की बेहोशी दूर की और ज़मीन पर से उन्हें उठाया। राजा का मंत्री बड़ा वृद्ध, विद्वान्, अनुभवी और स्वामी-भक्त था। मीठे शब्दों में वह राजा को तसल्ली देते हुए बोला—"हे पुरुषसिंह! तुम्हारा कल्याण हो! तुम किसी बात से मत घबराओ।" रण-क्षेत्र में अनेक शत्रुओं का संहारकर डालनेवाले राजा को इस प्रकार जमीन पर पड़ा देखकर मंत्री ने समझा कि ये भूख-प्याससे पीड़ित होंगे। अतः खुशबूदार ठण्डा पानी उसने राजा के सिर पर डाला। इससे राजा को कुछ चेत हुआ। इसके बाद मंत्री के अलावा और सबको राजा ने वहाँ से हटा दिया।

राजा की आज्ञा पाकर तमाम सेना वहाँ से चली गई। तब राजा पुनः उस पहाड़ पर चढ़े और नहा-धोकर, शुद्धता के साथ, हाथ जोड़े हुए खड़े रहकर सूर्यदेव की आराधना करने लगे। साथ ही, इस समय इन्होंने वशिष्ठ मुनि का भी स्मरण किया। जब राजा को बारह दिन और रात बराबर इसी तरह एक जगह खड़े हुए हो गये तो वशिष्ठ मुनि ने अपने योगबल से जान लिया कि राजा तपती पर मोहित हो गया है और कामबाण से उसका हृदय बिंधा जा रहा है। अतः उन्होंने प्रेमपूर्वक बातें करके राजा को धीरज बँधाया और तपती को प्राप्त कराने का वादा किया।

राजा से विदा होकर तपस्वी वशिष्ठ मुनि सूर्य भगवान् से मिलने के लिए आकाश में गये और हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े होकर प्रेमपूर्वक बोले—"मैं वशिष्ठ हूँ।" महातेजस्वी सूर्य ने कहा—"हे महर्षि! आपका आगमन शुभ हो। कहिए, आपको क्या चाहिए? हे महात्मा! आप मुझसे जो कुछ माँगेंगे, वह चाहे जितना दुस्तर हो तो भी मैं आपको जरूर दूंगा। मैं आपकी इच्छा की पूर्ति अवश्य करूँगा।" इसपर वशिष्ठजी ने प्रणाम करके कहा—"हे सूर्य! आपके सावित्री से छोटी तपती नामक जो कन्या है, मैं राजा सम्वरण के साथ उसका विवाह कर देने के लिए आपसे प्रार्थना करता हूँ। यह राजा बड़ा कीर्तिशाली, धर्म को जानने वाला और उदार-हृदय है। मेरे विचार में तो आपकी कन्या के लिए इससे बढ़कर योग्य वर और कोई नहीं मिल सकता।" सूर्यदेव ने ऋषि की बात मान ली और राजा सम्वरण के साथ तपती का विवाह कर देने को राजी हो गये। आदर के साथ मुनि से बोले—"हे मुनि! राजा सम्वरण भूपतियों में सर्वश्रेष्ठ है तो तपती भी स्त्रियों में सबसे श्रेष्ठ है; अतः इन दोनों श्रेष्ठ पात्र-पात्री का संयोग होने से बढ़कर खुशी की बात और

क्या हो सकती है ?" इसके बाद सूर्यदेव ने वशिष्ठजी के साथ ही तपती को राजा सम्वरण के पास भेज दिया।

वशिष्ठजी तपती के साथ विदा हुए और जहाँ पुरुवंशी राजा सम्वरण तपस्या कर रहा था वहाँ आ पहुँचे। कामदग्ध राजा सम्वरण तो तपती के ध्यान में ही डूबा हुआ था; अतः दूर से ही मुनि के साथ तपती को आते हुए देखकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। आसमान से गिरनेवाली बिजली जैसे चारों दिशाओं को चमका देती है, कमलाक्षी तपती ने भी आकाश से उतरकर अपनी दिव्य कान्ति के तेज से चारों ओर वैसी ही शोभा फैला दी। फिर राजा की बारह रात की तपस्या जबतक पूरी न हो गई तबतक वशिष्ठजी भी वहीं रहे। इस प्रकार तपस्या द्वारा सूर्यदेव की आराधना करके और वशिष्ठजी द्वारा सिफ़ारिश कराकर राजा सम्वरण ने तपती को अपनी स्त्री के रूप में प्राप्त किया। वशिष्ठजी के आदेशानुसार इस सुन्दर पहाड़ पर उन्होंने विधिपूर्वक तपती का पाणिग्रहण किया और नगर, राज्य, वाहन तथा सेनादि के सब काम-काज मंत्री के सुपुर्द करके आप खुद तपती के साथ विहार करने के लिए इस सुन्दर पहाड़ पर रहने लगे। राजा से विदा होकर वशिष्ठजी अपने आश्रम में चले गये। राजा सम्वरण और तपती बड़े प्रेम से जगह-जगह विहार करने लगे।

बारह वर्ष तक इस सुन्दर पहाड़ पर उन्होंने नाना प्रकार की क्रीड़ा की। इसपर इन्द्रदेव अप्रसन्न हो गये। राजा की राजधानी तथा राज्य-भर में उन्होंने वर्षा बन्द कर दी। वर्षा बन्द हो जाने के कारण मनुष्य तथा पशु-पक्षी मरने लगे और प्रजा बड़े सङ्कट में पड़ गई। प्रजाजन भूख-प्यास से दुःखी होकर इधर-उधर भागने लगे। भुखमरे और जर्जर-पिंजर लोगों से तमाम देश भर गया, जिससे वह प्रेतों का प्रेतस्थान-सा ही मालूम होने लगा। धर्मात्मा

वशिष्ठ मुनि ने जब राजा सम्वरण के राज्य की ऐसी दुर्दशा देखी तो उन्हें बड़ा दु:ख हुआ और राज्य में सुधार करने की ओर उनका ध्यान गया। वह अनेक दिनों से तपती के साथ भोग-विलास में लगे हुए राजा को वापस राजधानी में लाये।

जब राजा सम्वरण अपने नगर में वापस आगये तो इन्द्र ने भी प्रसन्न होकर पहले की तरह वर्षा शुरू कर दी। प्रजा को भी इससे बड़ी खुशी हुई। तत्पश्चात् जैसे इन्द्र ने इन्द्राणी के साथ यज्ञ किया था उसी प्रकार राजा सम्वरण ने भी तपती के साथ बारह वर्ष तक यज्ञ किया। तपती सदैव सब धार्मिक कृत्यों में पति की सहायक रही और अनेक बार अपनी विद्या-बुद्धि से उसने राजा को उपयोगी सलाह दी।

तपती के गर्भ से राजा कुरु पैदा हुए थे, जिनकी सन्तान कौरव-पाण्डव थे। तपती के सद्गुणों के लिए तमाम कौरव-वंश को अभिमान था। इसीलिए महाभारत में व्यासजी ने महापराक्रमी वीर अर्जुन को 'तपत्य' यानी तपती की सन्तान शब्द से सम्बोधन किया है।

———

कात्यायनी

यह देवी भगवती का नाम है। पहले-पहल महर्षि कात्यायन ने इनकी पूजा की थी; इससे इनका नाम ही कात्यायनी पड़ गया है। महिषासुर नामक राक्षस ने सौ वर्ष तक देवताओं के साथ युद्ध किया था। हरि और हर ब्रह्मा के मुख से देवताओं की इस भारी विपत्ति का हाल सुनकर बड़े क्रुद्ध हुए और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर के मुखारविन्द से एक अपूर्व ज्योति प्रकट हुई। इस ज्योति ने स्त्री का रूप धारण किया, जो बड़ा भयानक था। हरेक देवता ने अपने-अपने हथियार उस स्त्री को दे दिये। तब इस देवी ने जाकर बड़ी बहादुरी के साथ महिषासुर से संग्राम किया और अन्त में महिषासुर और उसके साथी राक्षसों का संहार कर डाला। महिषासुर को इन्होंने तीन बार मारा था—पहली बार उग्र चण्डी-रूप धारण करके, दूसरी बार भद्रकाली बनकर और तीसरी बार दुर्गा-रूप होकर।

यह आश्विन कृष्ण चतुर्दशी को पैदा हुई थीं। इसी मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी के दिन कात्यायन ने इनकी पूजा की थी और दशमी के दिन इन्होंने महिषासुर का वध किया था।

इन्द्र-पत्नी

श्रुतावती

यह भरद्वाज मुनि की कन्या थी और बहुत अतिथि-परायणा धर्मशील, सत्यव्रत तथा परमसती थी। ये अपना आचरण सदा तपस्वियों और सिद्ध मनुष्यों का-सा रखती थी। इसका रूप इतना सुन्दर था कि त्रैलोक्य में कोई इसकी बराबरी नहीं कर सकता था। इस सुशीला स्त्री ने अपनी कुमारावस्था में ही, जब कि यह ब्रह्मचारिणी थी, यह निश्चय किया था कि यदि मैं विवाह करूँगी तो इन्द्र के साथ ही करूंगी। अपना यह संकल्प पूरा करने के लिए यह कठोर नियमों का पालन करके घोर तपस्या करने लगी। इस प्रकार इस तपस्वी कुमारी ने बहुत दिनों तक दुःसाध्य और तीव्र तपस्या की। इसकी ऐसी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् इन्द्र एकबार महात्मा वशिष्ठ का रूप धारण करके अतिथि की भांति इसके यहाँ गये और इससे भिक्षा मांगी। दयालु और प्रियभाषिणी श्रुतावती ने परमतपस्वी वशिष्ठ ऋषि को देखकर उनका बहुत अधिक सत्कार किया और उनसे पूछा—"भगवन्! आप क्या भिक्षा चाहते हैं? आप जो कुछ मांगेंगे वह मैं आपको यथाशक्ति देने का प्रयत्न करूँगी। परन्तु हे भगवन्, मैं व्रत, नियम और तपस्या द्वारा यह प्रार्थना करती हूं कि त्रिभुवनेश्वर इन्द्र मुझे पति-रूप में मिलें। इसलिए पाणिग्रहण मैं और किसीके साथ नहीं कर

सकती।" वशिष्ठ-रूपधारी इन्द्र ने यह बात सुनकर मन-ही-मन हँसते हुए इसे धैर्य देने के लिए कहा—"सुन्दरी! तुमने बहुत कठिन तपस्या की है। मैं तुम्हें बहुत अच्छी तरह जानता हूं। हे कल्याणी! तुमने जिस विचार से यह कठिन तपस्या आरम्भ की है, तुम्हारा वह विचार सफल होगा। तपस्या के द्वारा सब-कुछ मिल सकता है। तपस्या का फल बहुत अधिक है। तपोबल के द्वारा मनुष्य दिव्यलोक में निवास कर सकता है। तप ही महासुख का मूल है। हे कल्याणी! मनुष्य इस लोक में इस प्रकार की कठिन तपस्या करके मानव-शरीर का त्याग करने के उपरान्त दैव-शरीर धारण करता है। परन्तु तुम मेरी एक बात सुनो। मैं तुम्हें बेर के ये पांच फल देता हूं। इन्हें तुम पकाओ।"

इन्द्र चाहते थे कि श्रुतावती की तपस्या में और अधिक दृढ़ता आवे, इसलिए वे यह बात करके उसके आश्रम के पास ही बैठ गये और इस उद्देश्य से जप करने लगे कि जिसमें बेर के पांचों फल पकें ही नहीं।

श्रुतावती ने तपस्या की थकावट उतारने के लिए पहले स्नान आदि किया और तब शुद्ध तथा पवित्र होकर उन पांचों फलों को पकाने के लिए आग पर चढ़ा दिया, परन्तु सन्ध्या हो जाने पर भी वे पके नहीं। उसके पास जितनी लकड़ियाँ थीं वे सब जल गईं। जब उसने देखा कि अब चूल्हे में आग नहीं रह गई, तब परम-सुन्दरी श्रुतावती अपने शरीर के सब अंग जलाकर फल पकाने के लिए तैयार हुई। इस विचार से वह पहले अपने सुन्दर चरण-कमल आग में जलाने लगी। महर्षि वशिष्ठ की इच्छा पूरी करने के लिए वह उन बेरों को पकाना चाहती थी, इसीलिए इस प्रकार का दुःसाध्य कर्म करने में उसे ज़रा भी संकोच नहीं हुआ। यद्यपि उसका शरीर अग्नि में जल रहा था तथापि उसके मुखारविन्द

पर किसी प्रकार के कष्ट या चिन्ता का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था। उसे केवल इसी बात की चिन्ता लग रही थी कि ये फल किसी प्रकार जल्दी से पक जायँ। यद्यपि श्रुतावती का सारा पैर आग में जल गया था, फिर भी वह ज़रा भी चूँ नहीं करती थी।

उसकी ऐसी निष्ठा देखकर इन्द्रदेव बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करके कहा—"हे तपस्विनी! मैं ही तुम्हारा इन्द्र हूं। तुम्हारा तप, नियम और भक्ति देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूं। अब तुम्हारी मनोकामना पूरी हो जायगी और तुम यह मानव-शरीर त्यागकर सुरपुरी में मेरे ही पास रहोगी और तुम्हारे सतीत्व तथा तपोबल के प्रभाव से यह तीर्थ सदा बदरपाचन नाम से प्रसिद्ध रहेगा और ब्रह्मर्षि लोग भी इस तीर्थ की स्तुति किया करेंगे। विशुद्ध हृदयवाली सती अरुन्धती ने भी इसी स्थान पर सिद्धि प्राप्त करके महादेवजी से वरदान प्राप्त किया था। उसी प्रकार तुम भी इस समय मुझसे मनोवाञ्छित वर मांग लो। तुम्हारी अद्भुत तपस्या से मैं बहुत ही सन्तुष्ट हुआ हूँ। इसलिए मैं वरदान देता हूं कि जो कोई निष्ठापूर्वक एक रात भी इस स्थान पर निवास करेगा, वह स्नानकर चुकने के उपरान्त शरीर त्यागकर परमदुर्लभ परलोक प्राप्त करेगा।"

प्रतापी इन्द्र इतना कहकर और सती श्रुतावती को अपने साथ लेकर इन्द्रपुरी चले गये। वहाँ दिव्य सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि होने लगी। दुन्दुभि तथा दूसरे मनोहर वाद्य भी बजने लगे। साध्वी श्रुतावती उस समय अपना पुराना शरीर त्यागकर, अपनी उग्र-तपस्या के फल-स्वरूप, देवराज इन्द्र की भार्या बनी। इसके उपरान्त वह बहुत दिनों तक सुखपूर्वक स्वर्गपुरी में रही।

दूसरी दक्ष-कन्या

केतकी

प्रजापति दक्ष की कई कन्याएं थीं। उनमें से एक का नाम था केतकी। रूप, गुण आदि सब बातों में केतकी साक्षात् लक्ष्मी-स्वरूपा थी। धर्म-चर्चा का उसे इतना अधिक शौक़ था कि घरगृहस्थी की ज़रा भी पर्वाह न कर रात-दिन एकमात्र इसी चर्चा में निमग्न रहती थी। परिणाम यह हुआ कि उसकी अन्य बहिनें जहाँ अपने मनचाहे पति प्राप्त करके अपनी अपनी गृहस्थियां चलाने लगीं वहाँ केतकी माता-पिता की आज्ञा प्राप्तकर हिमालय के शिखर पर जाकर तपस्या करने लगी।

परन्तु धर्म-कार्यों में अनेक विघ्न पड़ा करते हैं। शनैःशनैः तपस्या की परीक्षा भी होती है। वह भी विषम कसौटी पर कसी गई। केतकी आखिर मनुष्य ही थी। अतः एक साधारण बात में ही उसका ध्यान भंग हो गया और परीक्षा में वह असफल रही। गाय का मायावी रूप धारण करके आई भगवती को वह न पहचान सकी और प्रकृति के वश हो उनपर हँसने लगी। यह देख भगवती ने प्रकट होकर कहा—"लक्ष्मी के वंश में जन्म ग्रहण करने और आजीवन ब्रह्मचारिणी तपस्विनी होने पर भी तू मानव-स्वभाव का दमन न कर सकी तो जा पृथ्वी पर ज़ाकर नारी के रूप में जन्म

ग्रहण कर; और कुमारी रहने का जो तुझे बड़ा घमण्ड है, सो जा मेरे शाप से तेरे पांच पति होंगे।"

अब केतकी की आंखें खुलीं। शाप को सुनकर उसे बड़ा दुःख हुआ। अपनी ग़लती पर बड़ी पछताई और तुरन्त जगन्माता के चरणों में पड़कर बिलख-बिलख कर रोने और पश्चात्ताप करने लगी। तब भगवती को केतकी पर दया आ गई और बोलीं—बेटी! रो मत। तेरे भाग्य में यही लिखा होगा। अच्छा जा, तेरे द्वारा पृथ्वी में भगवान् का एक महान् उद्देश्य सिद्ध होगा। तू उसकी प्यारी है, इसलिए उनके विधान को खुशी के साथ पूरा करने को तैयार हो जा। जा, पांच स्वामियों के होने पर भी तू धर्म से पतित नहीं होगी; इतना ही नहीं बल्कि तुझे सती-शिरोमणि मानकर लोग तेरी पूजा करेंगे और तेरी कीर्ति अक्षय होकर तेरा नाम प्रातःस्मरणीय होगा।"

इसके बाद भगवती अन्तर्धान हो गईं। पर उनकी सान्त्वना भी केतकी को शान्ति न पहुंचा सकी। शाप की कठोरता से उसका हृदय टूक-टूक होने लगा और मानसिक दुःख से दुःखी होकर प्राणत्याग करने के लिए रोती हुई केतकी गङ्गा के उद्गमस्थान पर जा पहुँची।

वहाँ का दृश्य बड़ा सुन्दर और मनोमोहक था। बरफ़ से आच्छादित हिमालय की उपत्यकाओं को चीरकर गङ्गा का चञ्चल जल तीन धाराओं में तीन ओर बह रहा था। मानो हजारों खिलाड़ी बालक नाचते, कूदते और उछलते हुए चले जा रहे हों। पर गङ्गा के उस पवित्र सौन्दर्य को देखकर भी केतकी का मन शान्त न हुआ, उलटे उसका दुःख और दुगुना हो गया। ऐसे मनोरम स्थान को छोड़कर पापपूर्ण पृथ्वी पर जाना पड़ेगा, यह विचार वह किसी प्रकार भी न भुला सकी। अन्त में आंखों के आंसुओं को

पोंछते हुए उसने गङ्गाजी में प्रवेश किया। परन्तु देव-माया से उसके आंसुओं की प्रत्येक बूंद पानी के साथ मिलकर एक-एक स्वर्ण-कमल बनने लगा, जिसकी उसे कुछ खबर न थी। फिर मन्दाकिनी (गङ्गा) के प्रवाह में बहते हुए ये कमल स्वर्ग की तरफ चले गये।

धर्म, पवन और अश्विनीकुमारों के साथ देवराज इन्द्र इस समय मन्दाकिनी के किनारे-किनारे स्वर्ग जा रहे थे। तुरत के ताजे सुनहले कमलों की मस्त खुशबू से वे पांचों एकाएक ठिठक गये। खुशबू का पता लगाने को जब उन्होंने चारों ओर दृष्टिपात किया तो मन्दाकिनी के किनारे-किनारे इन स्वर्ण-कमलों को देख उनके विस्मय की सीमा न रही।

किसी अद्भुत वस्तु को देखकर जो कुतूहल होता है, उसे दबा लेना कोई सहज बात नहीं। यह कहाँ से आई, कैसे आई, किसने बनाई, आदि बातें जानने की उत्कण्ठा स्वभावतः उत्पन्न होती है। अतः सौरभपूर्ण स्वर्ण-पद्मों को देखकर उन सबके मन उनकी उत्पत्ति आदि जानने के लिए उत्कण्ठित हो गये। तब देवराज इन्द्र ने धर्म को इसका पता लगाने के लिए भेजा और स्वयं, पवन तथा अश्विनीकुमारों सहित उनकी प्रतीक्षा करने लगा।

परन्तु बहुत देर हो जाने पर भी धर्मराज नहीं लौटे तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पवन भेजा गया, पर वह भी धर्मराज की तरह ग़ायब हो गया। एक-एक करके अश्विनीकुमारों को भेजा गया; पर उनका भी कोई पता न लगा। तब अत्यन्त चकित होकर इन्द्र स्वयं ही खोज करने चले। कमल की सीध में चलते-चलते वह गङ्गा के निकलने की जगह पर जा पहुंचे। वहां जब उन्होंने स्वर्ण-पद्मों की जननी, सौंदर्य की सीमा-रूपिणी, मनमोहिनी एक रमणी को देखा तो उन्हें बड़ा विस्मय हुआ।

केतकी का रूप देखकर इन्द्र उसपर मुग्ध हो गये और काम-विह्वलभाव से एकटक उसकी ओर निहारने लगे। जब केतकी ने देख लिया तो वे कहने लगे—"हे सुन्दरी! तुम कौन हो? किसके घर को अंधेरा करके तुम इस जङ्गल को प्रकाशमान कर रही हो? यह क्या तपस्या की उम्र है? तीनों लोकों में दुर्लभ ऐसे इस रूप को ब्रह्मचर्य में नष्ट कर देने से भला तुम क्या फल पाओगी? मैं देवताओं का राजा इन्द्र हूं; तुम मुझसे विवाह करके अमरावती के रत्न-जटित सिंहासन को उज्ज्वल क्यों न करलो?"

देवेन्द्र की बात सुनकर तपस्विनी (केतकी) चौंक पड़ी और व्यथित-हृदय से बोली—"देवराज! आप यह क्या कह रहे हैं? ऐसी बात मुखपर फिर मत लाना। क्योंकि मैं जन्म से ही तपस्विनी हूँ और शङ्कर के चरणों में मैंने आश्रय पाया है। मुझपर कुदृष्टि डालने से, विवाह के लिए कहने पर, इससे पूर्व चार व्यक्ति कठोर दण्ड पा चुके हैं। फिर यह ख़याल रखिए कि चाहे आप देवराज हों या और कोई, मैं दण्ड देने में चूकनेवाली नहीं हूं।"

केतकी की बातें सुनकर इन्द्र का कुतूहल और बढ़ गया। उससे वे ज़रा भी न डरे और फिर से अपने साथ विवाह करने की विनती करके बोले—"मुझसे पहले जो आये थे वे कहाँ गये?"

"उन्हें देखना है? तो चलो।" यह कहकर केतकी इन्द्र को हिमालय की तरफ ले गई। वहाँ एक परम सुन्दर योगी अपनी साधना में निमग्न था। केतकी ने दूर ही से उसे बताकर कहा, "इनसे पूछने पर तुम्हें पता चल जायगा कि वे कहां हैं।"

इन्द्र ने उनसे धर्म, पवन आदि की बात पूछी; पर तपस्वी के कानों में उनकी आवाज नहीं पहुंची। इसपर इन्द्र नाराज हो गये और अंट-शंट कहने लगे। एकाएक योगी के नेत्रों से मानो आग बरसने लगी और देखते-देखते उनका रूप बदल गया। त्रिशूलधारी

महायोगिराज रुद्र के रूप में प्रकट होकर गर्जते हुए वे बोले—"तुम सब बार-बार, एक-के-बाद-एक, आकर मेरे आश्रम में आई हुई आजीवन ब्रह्मचारिणी तपस्विनी पर क्यों अत्याचार कर रहे हो? इसके लिए तुमसे पहले आये हुए चार जनों की तरह ही तुम्हें भी सज़ा होगी।"

यह कह महादेवजी ने त्रिशूल के धक्के से एक अंधेरी गुफा के सामने का बड़ा-सा पत्थर हटा दिया। इन्द्र ने भयभीत होकर देखा कि धर्म, पवन और दोनों अश्विनीकुमार हाथ-पांव-बंधे इस अंधेरी गुफा में पड़े हुए महादुःख पा रहे हैं। यह देख डर के मारे थर-थर कांपते हुए इन्द्रराज महादेवजी के चरणों में गिर पड़े और हाथ जोड़कर तरह-तरह से उनकी प्रार्थना करने लगे।

शङ्कर भगवान् तो भोलानाथ ही ठहरे! उन्हें मनाने में भला क्या देर लगती है? इन्द्र की स्तुति से वे झट प्रसन्न हो गये और कहने लगे—"जाओ, मैंने तुम्हारा अपराध क्षमा किया। धर्म, पवन आदि को भी मुक्त किये देता हूं। पर कर्मों का फल तो सबको भोगना ही पड़ेगा। उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। कर्म के फलस्वरूप तुम पांचों को दंड भुगतना ही होगा। तुम सब मेरे साथ विष्णु के पास चलो। वे जो निर्णय करेंगे, वह तुम्हें मानना पड़ेगा।"

पांचों देवताओं और केतकी को साथ लेकर महादेवजी विष्णु के पास गोलोक गये और उनसे सब हाल कहा। सब कुछ सुनकर भगवान् बोले—"स्वर्ग प्राप्त होने पर भी मनुष्यों की तरह तुम इन्द्रियों का दासत्व नहीं छोड़ सके, इसलिए तुम्हें मृत्युलोक में जाकर मनुष्य-शरीर तो ग्रहण करना ही पड़ेगा। देवराज इन्द्र! तुम्हारे मित्र धर्म, पवन और अश्विनीकुमारों की भी यही दशा होगी। इस दशा में केतकी तुम पांचों की धर्मपत्नी होगी। बुरा न

मानना ; संसार की भलाई के लिए यही आवश्यकता आ पड़ी है। इस कार्य की सिद्धि के लिए द्वापर में तुम्हारे साथ ही मैं भी पृथ्वी पर जन्म लूँगा ।"

कहते हैं कि दक्षराज की यह कन्या आजीवन ब्रह्मचारिणी तपस्विनी केतकी ही, संसार के किसी ख़ास उद्देश्य की सिद्धि के लिए, शाप भ्रष्ट होकर द्वापर-युग में पांचाल देश के राजा द्रुपद की कन्या के रूप में पैदा हुई थी। इन्द्र, धर्म, पवन और अश्विनीकुमारों ने राजा पाण्डु के पुत्रों के रूप में कुन्ती के गर्भ से जन्म लिया था जो पाँचों पांडवों के रूप में संसार में विख्यात हुए। दक्ष-कन्या केतकी दूसरे जन्म में द्रौपदी कहलाई और पांचों पांडवों की पत्नी होते हुए भी, देवी भगवती के वरदान की बदौलत, वह संसार में सती-शिरोमणि के रूप में प्रसिद्ध है ।

स्वायंभुव मनु की महारानी

शतरूपा

यह स्वायंभुव मनु की महारानी थी। पति-पत्नी दोनों बड़े विद्वान् और सदाचारी थे। इस प्रेमी दम्पती का सांसारिक जीवन बड़ा सुखपूर्ण था। इनके बड़े पुत्र का नाम उत्तानपाद था। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ईश्वरभक्ति के द्वारा अपना नाम अमर कर गये हैं। दूसरे पुत्र का नाम प्रियदत्त था। वह भी बड़ा पराक्रमी और सदाचारी था। पुराणों में उसकी बड़ी प्रशंसा है। शतरूपा के देवहूती नाम की कन्या भी थी, जो कर्दम ऋषि के साथ ब्याही गई थी। देवहूती के गर्भ से कपिल मुनि उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने सांख्यशास्त्र रचा था और तत्त्वज्ञान में बड़े प्रवीण थे।

स्वायंभुव मनु महाराज ने बहुत काल तक राज्य किया और ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते हुए प्रजा को बड़ा संतोष पहुंचाया। इस प्रकार राज्य करते और गार्हस्थ्य-जीवन बिताते हुए उनका चौथापन (बुढ़ापा) आगया और विषय-भोग के प्रति उन्हें वैराग्य हो गया। तब उनके मन में बड़ा सन्ताप हुआ कि 'हाय! राज्य-वैभव और गृहस्थाश्रम के सुख में ही सारा जीवन बीत गया; परमात्मा की भक्ति कुछ भी न हो सकी।' यह सोचकर उन्होंने अपना राज-पाट पुत्र को सौंप दिया और स्वयं रानी शतरूपा के

साथ जंगल में चल दिये और नैमिषारण्य के पवित्र तीर्थ में रहने लगे। पति-पत्नी इस वन में ही प्रसन्नचित्त रहते थे। वहां और अनेक सिद्ध मुनि पहले से ही वास करते थे। इन्हें धर्म-धुरन्धर राजर्षि समझकर अनेक ऋषि-मुनि इनसे मिलने के लिए आये। आगे जाते हुए भी इनसे अनेक साधुसन्त मिले और उनसे ज्ञान की बातें हुईं। भिन्न-भिन्न तीर्थों में इन्होंने तपस्या भी खूब की। इससे दोनों के शरीर दुर्बल हो गये। परमात्मा का नाम जपने में ही इनका काल-यापन होता था।

वनवास में स्त्री-पुरुष दोनों केवल शाक, कन्द और फलों का ही भोजन करते थे। कुछ दिनों बाद इन्होंने तप शुरू किया और फलाहार को भी छोड़कर केवल हवा पर ही जीवन-निर्वाह करने लगे। तदुपरान्त कई वर्ष तक एक पांव पर खड़े रहकर तपस्या की। तब ब्रह्मा, विष्णु और शिव इनपर प्रसन्न होकर इनके पास आये और राजा-रानी की इच्छा पर भगवान् ने इन्हें यह वरदान दिया—'भावी रामावतार के समय मैं तुम्हारे पुत्र-रूप में पैदा होकर तुम्हारी इस प्रेम भक्ति का बदला चुकाऊँगा।'

रानी शतरूपा ने अपने पुत्र-पुत्रियों को जो असाधारण ज्ञान एवं सदाचार की शिक्षा दी थी और आगे चलकर उनकी सन्तानों के जीवन जैसे यशस्वी एवं लोकोपकारी हुए, यह सब जानते हैं। ऐसी योग्य सन्तानों पर से ही हम उनकी माता की महत्ता का अनुमान कर सकते हैं।

२१

कामदेव-पत्नी

रति

भारतवर्ष में हरेक भावना किसी ऊंचे आदर्श से भरी हुई होती है। मनुष्यों में कामवासना प्रदीप्त करनेवाले का नाम मदन, कामदेव या मन्मथ है। पर उसकी स्त्री रति के बारे में आर्य लेखकों ने जो कुछ लिखा है उससे मालूम होता है कि वह विषयासक्त स्त्री नहीं बल्कि पूर्ण पतिव्रता स्त्री थी।

अपनी पहली पत्नी सती की मृत्यु के बाद जब शिवजी घोर तपस्या करने लगे थे, उस समय सब देवताओं की सलाह से इंद्र ने मदन को अपने शस्त्रों के साथ उनकी तपस्या में बाधा डालने के लिए भेजा था। तब अपनी स्त्री रति को भी वह अपने साथ ही ले गया था। शिवजी की सेवा शुश्रूषा और उनकी पूजा-पाठ एवं तपस्या में मदद करने के लिए जब पार्वतीजी उनके आश्रम में पहुँचीं, उस समय मदन ने चुपके से शिवजी पर बाण चलाने की कोशिश की थी; पर शिवजी ने उसे देख लिया और यह देखकर उन्हें ऐसा क्रोध आया कि उनकी तीसरी आंख से आग की एक तेज़ लपट निकल पड़ी, जिसने क्षण भर में मदन को जलाकर राख का ढेर कर दिया। रति उस समय वहीं खड़ी थी। उसने जैसे ही आग की लपट को अपने पति की तरफ़ जाते देखा, वह डर गई।

यह असह्य घटना वह न देख सकी। इस दारुण वेदना से उसकी इन्द्रियां संज्ञाहीन हो गईं और वह वेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ी। वेहोशी के कारण कुछ देर तो उसे पति की मृत्यु का पता भी न चला। लेकिन दुःख को भुलानेवाली यह वेहोशी आखिर दूर हो ही गई। चेत होते ही उसे अपने विधवा हो जाने का भान हुआ। मूर्च्छा दूर होते ही उसने नेत्र खोले और अपने चारों ओर देखने लगी। पति की जीवितावस्था में उसे बार-बार देखने पर भी उसके नेत्र न अघाते थे; पर आज उन्हीं अतृप्त नेत्रों को पति के दर्शन नहीं हुए। पति जलकर राख हो गया, इसपर उसे एकाएक विश्वास ही न होता था।

व्याकुल होकर वह जमीन पर गिर पड़ी और धूल में लोटने लगी। बाल विखर गये, वदन धूल में भर गया और बड़े करुणा-जनक शब्दों में वह विलाप करने लगी।

रति का विलाप सुनकर मदन के मित्र वसन्त को बड़ा दुःख हुआ। उससे यह विलाप और न सुना जा सका। वह उसके पास जा खड़ा हुआ। कुटुम्बियों और मित्रों के सामने तो हृदय का दुःख और भी जोर से उमड़ा करता है; सो वसन्त के आने पर रति का विलाप और बढ़ गया। नाना प्रकार से विलाप कर अपने पति के अनेक गुणों को याद कर-कर के वह कहने लगी—"हा! पापी दैव, तूने यह क्या किया? मेरे स्वामी को मारा सो मारा, पर ठीक तरह से मारना भी न आया। मेरे पति को तो जला डाला, पर मुझे काल यों ही छोड़ गया! मुझे बचाकर एक तरह से उसने मेरी आधी हत्या की है, पर वास्तव में तो उसने मुझे मार ही डाला है; क्योंकि पति के बिना मैं जिन्दा रह ही कैसे सकती हूँ? जिस वृक्ष पर वेल लगी हो उस वृक्ष को ही हाथी उखाड़ डाले तो वह वेल कहीं बच सकती है? वृक्ष के साथ ही वेल का भी नाश जरूर होता

है—अतएव, प्राणप्रिय के मर जाने पर मैं जीती नहीं रह सकती। (वसन्त से) तुम मेरे पति के मित्र हो और मैं भी तुम्हें अपना भाई मानती हूं। अतः इस मौक़े पर तुम मेरी मदद करो। दया करके मुझे तुम मेरे पति के पास पहुंचा दो। पति के पीछे-पीछे जाना, सती होना, यह तो स्त्री का कर्त्तव्य ही ठहरा। फिर यह भी नहीं कि सजीव प्राणी ही इस फ़र्ज को निभाते हों, निर्जीव (जड़) पदार्थों में भी तो पत्नियां पति का अनुसरण करती हैं। देखो चन्द्रमा के साथ-साथ चन्द्रिका (चांदनी) भी चलती है और बादलों के छिपते ही बिजली भी ग़ायब हो जाती है। लेकिन सती होने से पहले स्त्रियां जो नाना प्रकार के अलङ्कारों से अपने शरीर को सजाती हैं, सो मुझसे नहीं होने का। मैं तो पति के जले हुए शरीर की जो राख सामने पड़ी है उसीको सारे शरीर पर लगा लूँगी, इसे ही बड़ा भारी गहना समझूंगी और आग को कोमल पत्तों से सजाया हुआ बिस्तरा मानकर उसीपर अपने शरीर को सुला लूंगी। आग को मैं आग नहीं समझती। मैं तो उसे फूलों की सेज मानकर उसीमें विश्राम करती हुई जल मरूंगी। तुमसे मेरी एक विनय है। जब मेरी चिता जल उठे तो तुम हवा को खूब तेज चला देना, जिससे मेरी आग तेज हो जाय और मैं जल्दी से पति के पास जा पहुंचूँ। फिर, मेरे मर जाने पर, हम दोनों के लिए तुम एक ही अञ्जलि देना; हमारे लिए अलग-अलग अञ्जलि देने की भी कोई ज़रूरत नहीं।"

जब रति इस प्रकार जलकर सती होने को तैयार हुई तो आकाश से एकाएक एक देववाणी हुई। तालाब सूख जाने पर तड़फड़ाने वाली मछलियां आषाढ़ में पहली बरसात के होते ही जैसे सजीव हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार इस देववाणी से रति के हृदय में भी एकदम कुछ आशा की झलक आई। आकाशवाणी यह थी—

"हे कामदेव-पत्नि ! तुझे अधिक काल तक पति के बगैर न रहना पड़ेगा; कुछ ही दिनों में तेरा पति फिर से तुझे मिल जायगा। त्रिलोचन शंकर की क्रोधाग्नि में वह पतंग की नाईं क्यों जल मरा, यह तुझे मालूम नहीं। सुन, तेरे पति ने एक बार ब्रह्माजी के मन में ऐसा विकार पैदा कर दिया था कि उनका चित्त अपनी पुत्री के प्रति चंचल हो उठा। जितेन्द्रिय होने के कारण उन्होंने अपने उस मनोविकार को तुरंत ही दबा दिया था; पर तेरे पति मदन के कारण क्षण-भर के लिए भी जो ऐसा कुविचार उनके मनमें उत्पन्न हुआ, इसपर उन्होंने उसे शाप दे दिया। यही कारण था कि महादेवजी के क्रोध से वह भस्म हो गया। किन्तु ब्रह्माजी को शाप देते देखकर धर्म नामक प्रजापति को तेरे पति पर दया आ गई और उन्होंने उस शाप का निवारण करने के लिए ब्रह्माजी से प्रार्थना की थी। अतः ब्रह्माजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कहा कि पार्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर जब शिवजी उन्हें अपनी सहधर्मिणी बनायेंगे और उस विवाह से उन्हें पूर्ण संतोष होगा तब वे कामदेव को पुनः जीवित कर देंगे। इसलिए हे सुन्दरी! अब तू मरने का विचार छोड़ दे। भविष्य में तुझे तेरा पति अवश्य प्राप्त होगा। उसके समागम की प्रतीक्षा में तू अपने सुंदर शरीर को कायम रख। दुःख के बाद सुख जरूर आता है, जैसे कि सूर्य के प्रचण्ड ताप से शुष्क हुई नदियाँ वर्षा से पुनः जल-परिपूर्ण होकर कल-कल करती हुई बहने लगती हैं।"

इस प्रकार धीरज की बातें कहकर इस अदृश्य देवता ने रति के मन को बहुत कुछ हलका कर दिया। इधर पति के मित्र वसन्त ने भी हिम्मत दिलाई कि "देववाणी कभी असत्य नहीं हुआ करती। अतः तुमने जो कुछ सुना है, उसपर विश्वास करो। तुम्हारे पति फिर से तुम्हें जरूर मिलेंगे।" इस प्रकार समझाने पर रति ने मरने के विचार को छोड़ दिया और पति-वियोग में प्रतिदिन अपने

शरीर को गलाते हुए उत्सुकतापूर्वक उनके शुभ मिलन की बाट जोहने लगी।

हिमालय की कन्या पार्वती के साथ जब शिवजी का विवाह हुआ तब उस आनन्द में देवताओं ने नम्रतापूर्वक शिवजी से कहा—"भगवन्! आपका विवाह तो हो गया, साथ ही मदन के शाप की अवधि भी समाप्त हो गई; अतः अब आप उसे पुनः जीवित करके अपनी सेवा का मौक़ा दीजिए।" तब मदन पुनः जीवित हो गया और रति ने पति को पाकर अपना शेष जीवन आनन्द के साथ व्यतीत किया।

कहते हैं कि दूसरे जन्म में कन्दर्प (कामदेव) ने श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में रुक्मिणी के गर्भ से जन्म लिया था और रति ने श्रीकृष्ण के कट्टर दुश्मन शम्बर की स्त्री मायावती के उदर से जन्म ग्रहण किया था।

———

२२

वशिष्ठ-पत्नी

अरुन्धती

ये दक्ष की कन्या और महामुनि वशिष्ठ की साध्वी पत्नी थीं अपने समय में ये सर्वश्रेष्ठ सती मानी जाती थीं। महादेवजी की माया तक से ये मोहित नहीं हुईं। भारतवर्ष में विवाह के समय इस महापतिव्रता का स्मरण किया जाता है। वेदशास्त्रों में ये विशेष प्रवीण थीं। अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न होने पर भी ये बड़ी उदार-हृदय और क्षमाशीला थीं। विश्वामित्र ने इनके सौ पुत्रों को मार डाला, फिर भी इन्होंने उनको शाप नहीं दिया था। तपो-बल इतना था कि उससे उन्होंने शुचिस्मिता के स्वामी को फिर से जीवित कर दिया था।

एक दिन की बात है कि मुनि-पत्नियों के साथ बिहार करने के विचार से साधु-वेश में भस्म आदि लगाये हुए महादेव ने देवदार के वन में प्रवेश किया। मुनि-पत्नियाँ उनको देखते ही आसक्त हो गईं और मुनियों के बहुत-कुछ समझाने पर भी उन्मत्त-सी होकर उनके पीछे-पीछे फिरने लगीं। आबाल-वृद्ध सब स्त्रियाँ इस समय कामातुर हो गई थीं; केवल एक अरुन्धती देवी ही ऐसी थीं जो

महादेव के मायाजाल में नहीं फँसीं। इनके मन में काम का जरा भी विकार पैदा नहीं हुआ। दूसरी सब ऋषि-पत्नियाँ अपने-अपने पतियों को छोड़कर चली गई थीं। फूल के आस-पास जैसे भौंरा फिरा करता है वैसे ही महादेवजी पीछे-पीछे ये ऋषि-पत्नियाँ फिरने लगी थीं। इसी वेश में महादेवजी वशिष्ठ मुनि के दर्वाजे पर भी गये और देवी अरुन्धती से कहने लगे—'देवी! भिक्षा दो! मैं शङ्कर तुम्हारा अतिथि होकर आया हूँ। इस जंगल में मुनियों ने तो मुझे मारकर निकाल दिया है, पर मुनि-पत्नियाँ मेरी टहल करती हैं। देवी! तुम भी मेरा मनमोहक स्वरूप देखो। देखो तो सही, मुनियों ने मुझे कैसा लहू-लुहान कर दिया!" इस प्रकार कहकर धीरे-धीरे महादेवजी ने अपने तमाम अंग देवी को बताये। देवी अरुन्धती ने महादेवजी को अपने पुत्र के समान समझकर मातृभाव से उनके तमाम अंगों को धोकर साफ कर दिया और तमाम शरीर में कामधेनु (गाय) का घी मला। तदुपरान्त शुद्ध जल से स्नान कराकर नाना प्रकार के सुगन्धित लेपों और फूलों से उनके शरीर को विभूषित किया। इसके बाद विभिन्न प्रकार से उनकी पूजा करके कन्द-मूल और फल-फूलादि का स्वादिष्ट भोजन कराकर अरुन्धतीजी बोलीं—"पुत्र! अब तुम्हें जिस देश में जाना हो, जाओ!"

अतिथि इस बात से बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—"देवी! तुमने धर्म की बात कही है। तुम्हारे व्यवहार से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। जाओ, मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम अखण्ड सौभाग्यवती होओ और तुम्हारे क्षमाशील वृद्ध पति फिर से युवावस्था एवं देवताओं सरीखा सुन्दर और अजर रूप प्राप्त करें।"

इस प्रकार अपने आचरण से अरुन्धती ने यह प्रमाणित कर दिया कि कामदेव की मलिन-वासना वाले पर-पुरुष से काम पड़ने पर उसके

प्रति मातृभाव अथवा भगिनी-भाव धारण करने से अपना मन चंचल नहीं होने पाता और उस पुरुष पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। अरुन्धती के ऐसे अपूर्व पातिव्रत के कारण ही विवाह-संस्कार में उनकी स्तुति की जाती है। पुरोहित कन्या से कहते हैं कि "इन वशिष्ठ-पत्नी के दर्शन करो, जो अपने पातिव्रत्य के महात्म्य से चाहे जो कर सकती हैं। इनके दर्शनों से तुम महा-साध्वी बनोगी और दर्शन न करोगी तो असाध्वी।" इसीसे यह रीति प्रचलित है कि विवाह की रात कन्या को अरुन्धती नक्षत्र का दर्शन कराया जाता है। प्राचीन आर्य्य अपने महापुरुषों और स्त्रियों की स्मृति को नई रखने के लिए उनके नाम पर किसी मुख्य तारे या नक्षत्र ही का नाम डाल दिया करते थे, जिससे आर्यों को उनके सद्गुणों का स्मरण सदा होता रहे। अरुन्धती देवी के तारे का जो कन्याएँ दर्शन करती हैं वे विद्वान पति को पाने और उसकी प्रियतमा बनने की अभिलाषिणी होती हैं।

एक दिन सूर्य, इंद्र और अग्नि तीनों देवता कहने लगे कि शास्त्रीय सिद्धान्त तो यह है कि स्त्रियों के लिए पति ही देवता है उसीकी आराधना से उन्हें सब कुछ मिलता है और परलोक में शुभगति प्राप्त होती है; पर रमणियों के कार्य देखकर तो इसकी सचाई में सन्देह होता है। क्योंकि झूठ बोलना, दुस्साहस, माया, मूर्खता, अत्यन्त लोभ, अपवित्रता और निर्दयता—ये सातों स्वाभाविक दोष उनमें हैं; सत्य-परायणा स्त्रियां तो बहुत कम मिलती हैं। जो ऐसी पवित्र और सदाचारिणी स्त्रियां हैं उनमें वशिष्ठजी की पत्नी अरुन्धती मुख्य हैं। एक बार अग्निदेव सप्तर्षियों की पत्नियों पर आसक्त हो गये थे, तब उनकी सती स्त्री स्वाहा ने दूसरे छः ऋषियों की पत्नियों का रूप तो धारण कर लिया पर वशिष्ठजी की पत्नी अरुन्धती का रूप वह धारण न कर सकी। तब स्वाहा ने

उनकी स्तुति की कि "हे कल्याणी ! हे साध्वी अरुन्धती ! तुम धन्य हो। एकमात्र तुम ही पातिव्रत धर्म का सच्चा पालन करने वाली हो, तुम सरीखी पतिव्रता मैंने और कहीं नहीं देखी। अतः जो कन्याएँ विवाह के समय उत्तमतापूर्वक एकाग्रचित्त से स्वामी का हाथ पकड़ कर तुम्हारा स्मरण करेंगी उन्हें सुख, धन एवं पुत्रों की प्राप्ति होगी और वह अखण्ड सौभाग्यवती होंगी।"

इस प्रकार बातचीत हो रही थी कि एकाएक तीनों देवता बोल उठे—"चलो, स्त्रियों के पातिव्रत धर्म को जानने के लिए हम लोग महासती अरुन्धती के पास ही क्यों न चलें ?" और सूर्य इन्द्र व अग्नि तीनों अरुन्धती के पास चल दिये। संयोगवश अरुन्धतीजी मार्ग में ही मिल गईं। वे बगल में घड़ा लिये पानी भरने जा रही थीं। इससे सूर्यादि देवता बड़े प्रसन्न हुए और उनके मार्ग में खड़े हो गये। अरुन्धती ने उन्हें देखा तो पहचान कर प्रदक्षिणा की और प्रणाम करके प्रसन्नता-पूर्वक पूछा—"कहिये देवगण ! आपका शुभागमन कैसे हुआ ?" देवताओं ने कहा—"हमें आपसे एक बात का खुलासा करना है, इसलिए हम आये हैं। आशा है आप उसका यथोचित उत्तर देकर हमें कृतार्थ करेंगी।" अरुन्धती बोलीं—"कुछ देर आप घर पर ठहरिए, मैं यह घड़ा भरकर अभी आती हूं; तब मैं आप की बातचीत का खुलासा करूँगी।" सूर्यादि देवता बोले—"हे सती ! इस घड़े को तो हम अभी भरे देते हैं।" और तीनों देवताओं ने अपने-अपने विशेष गुणों के प्रभाव से चौथाई-चौथाई करके पौन घड़ा भर दिया। तब अरुन्धती बोलीं—

"स्त्रियों को जहाँ तक एकान्त नहीं मिलता और परपुरुषों का साथ विशेष बातचीत करने का मौक़ा नहीं पड़ता वहां तक उनके सतीत्व पूर्णतः सुरक्षित रहता है। इसलिए अच्छे घर की स्त्रियों

को बन्धु-बान्धवों तथा वड़ी स्त्रियों द्वारा सुरक्षित रहने की व्यवस्था करनी चाहिये।"

इसके वाद उन्होंने कहा, "हे देवो ! अगर मेरा कथन असत्य न हो तो उसकी सत्यता के द्वारा मेरे घड़े का चौथाई भाग भी भर जाय।" उनके मुंह से ये शब्द निकले नहीं कि तुरन्त ही घड़ा ऊपर तक पानी से भर गया। यह देख देवताओं ने कहा - "देवी ! हम इसी वात का खुलासा जानने के लिए आपके पास आये थे। अब वापस अपने-अपने स्थानों को जाते हैं।" जव देवता चलने लगे तो अरुन्धती ने फिर कहा—

"स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। सव स्त्रियाँ एक-सी नहीं होतीं; किसीमें सद्गुण अधिक होते हैं, किसीमें कम। पर देवता लोग यह सव जानते हैं, इसलिये ज्यादा कहना व्यर्थ है।"

इसके वाद प्रणाम करके देवताओं को विदा किया और देवताओं ने अपने-अपने स्थानों में जाकर अरुन्धती का माहात्म्य वर्णन किया। तभी से हिन्दू कन्याओं के विवाह के समय नव-वधू को अरुन्धती नक्षत्र के दर्शन कराने का रिवाज जारी हो गया है।

———

अत्रि-पत्नी

अनसूया

अनसूया कर्दम ऋषि की पुत्री थीं। देवहूती इनकी माता का नाम था। अनसूया के आठ बहिनें थीं और सांख्य-शास्त्र के रचयिता कपिल मुनि इनके भाई थे।

नौ बहिनों में अनसूया बड़ी भोली-भाली और धर्म में रुचि रखनेवाली थी। अत्रि ऋषि के साथ उसका विवाह हुआ था जो वेद-शास्त्र में बड़े प्रवीण थे और सदा जप-तप में निमग्न रहते थे। अनसूया ऋषि की सेवा को अपना धर्म समझती थी। उसकी यह धारणा थी कि उसका सब कल्याण इसीमें है। इस सती को संसार में बड़ा कष्ट उठाना पड़ा; परन्तु इसने साहस और धैर्य से काम लिया, इसलिये अन्त में सुख को प्राप्त हुई।

एक समय देश में ऐसा भारी अकाल पड़ा कि अनाज का एक-एक दाना मिलना कठिन हो गया। खेती-बारी सब मारी गई। वृक्षों के फल, फूल और पत्ते सब सूख गये। मनुष्य और जीव-जन्तु सब भूखों मरने लगे। अत्रि ऋषि इस समय एकान्त-सेवन करके योगाभ्यास करने में लगे हुए थे। उनकी समाधि बड़े लम्बे समय तक रहती थी। जब वे समाधि से उठते तो अनसूया उनके लिए खाने-पीने का सामान तैयार रखती थी। वर्षा, शरद् और ग्रीष्म सब ऋतुएँ बीत गईं; पर पतिव्रता तरह-तरह के दुःखों को सहते हुए भी ज्यों-की-त्यों पति की सेवा में लगी रही। दिन-

दिन भर भूखी रह जाती, अन्न का दाना देखने तक को नसीब न होता, फिर भी सदा इसी सोच में रहती कि कहीं ऐसा न हो कि अत्रि-भगवान् समाधि से जागें तो उनको किसी जरूरी चीज के लिए कष्ट उठाना पड़े। तन-मन से वह रात-दिन इसी प्रयत्न में रहती। ऋषि को क्या खबर थी कि देश को क्या दशा है ? देश में जो भयङ्कर अकाल पड़ रहा था, उसका मुनि को कुछ भी पता न था। लोग भूखों मर रहे थे, पर वे समाधि से उठते नहीं कि अनसूया हाथ जोड़े हुए यह पूछती हुई मौजूद मिलती, "क्या चाहिये ? जल भी है और कन्द-मूल भी मौजूद हैं।"

अकाल के कारण दिन-दिन उनकी अड़चनें बढ़ने लगीं। निकटवर्ती सब झरने सूख गये। सती अब कई कोसों का चक्कर लगाकर पानी लाने लगी। फल-फूल बड़ी कठिनता से मिलते, पर अनसूया का परिश्रम कभी व्यर्थ न जाता। आज वह कमण्डलु लेकर कोस भर की दूरी से पानी लाती, कल उस जगह जाकर देखती कि वह झरना सूखा पड़ा है। तुरन्त वह पानी की खोज में आगे बढ़ती और नये झरने का पता लगाकर उससे पानी लाती। आश्रम में रहनेवाले दूसरे लोगों से अकाल का यह दुःख न सहा गया और वहाँ के ऋषिमुनि सब एक-एक करके अत्रिमुनि का साथ छोड़कर चले गये। अनसूया भी चाहती थी कि इस आश्रम को छोड़कर किसी ऐसी जगह जाँय कि जहाँ अन्न-जल की सुविधा हो, पर अत्रि-ऋषि समाधि में थे, उनके तप में विघ्न डालना उसने ठीक न समझा, यहाँ तक कि अकाल के बारे में भी उनसे कुछ नहीं कहा। आप चाहे जितनी अड़चनें उठाती, पर पति के लिए आवश्यक चीजें ले ही आती। लेकिन ऐसा आखिर कबतक हो सकता था ?

दैववश जिस सरोवर से पानी मिलता था, वह भी सूख गया।

इससे अनसूया को बड़ा दुःख हुआ। वह सोचने लगी—'अब पानी कहाँ से लाऊँगी? ऋषि समाधि से उठकर पानी माँगेंगे तो मैं कहां से दूँगी?' लेकिन कोई चारा न था। बेचारी आप भी बहुत दिनों तक प्यासी रही। आखिर अत्रि मुनि समाधि से जागे; उठते ही उन्होंने पानी मांगा। पर अनसूया ने इस समय भी ऋषि को इस दुर्घटना से सूचित करना उचित न समझा और कमण्डलु लेकर पानी की खोज में चल दी।

आश्रम के आस-पास आठ-दस कोस तक पानी का नाम-निशान भी न था। कुछ दूर जाने के बाद एक वृक्ष के नीचे बैठ-कर वह रोने लगी—"प्रभो! मुझपर दया करो। स्वामी ने मुझे पानी लाने की आज्ञा दी है और मैं इस आज्ञा का पालन करने में असमर्थ हूं। क्या करूँ? कहां जाऊँ? किसके आगे अपना दुखड़ा रोऊँ? देश में अकाल पड़ रहा है, अन्न तो सपने में भी नहीं मिलता; आश्रमवासी सब दुःखी होकर आश्रम से चले गये हैं; अब तुम्हारे सिवा और किसका आश्रय है?"

अनसूया इस प्रकार विलख रही थी, उसी समय एक तपस्विनी उधर से निकली। अनसूया का विलाप सुनकर वह उसके पास गई और पूछने लगी—"बहन! तुम्हें क्या दुःख है?" अनसूया ने शुरू से आखिर तक अपना हाल कह सुनाया। उसे सुनकर तपस्विनी बड़ी प्रसन्न हुई और कहा—"धन्य है तेरा पातिव्रत-भाव! इस प्रकार पति की सेवा करना, पति के साथ चिता में जलने से भी अधिक प्रशंसनीय है। तू कुछ सोच मत कर। मेरे साथ चल। मैं तेरी मदद करूँगी और कहीं-न-कहीं से तेरे लिए जल की व्यवस्था जरूर करूँगी।"

हाथ में लकड़ी लेकर तपस्विनी इधर-उधर जलाशय की खोज करने लगी। आश्रम से थोड़ी दूर पर एक सूखा स्थान था। वहां

उसकी लकड़ी हिलने लगी। तब तपस्विनी हँसकर बोली—"ले बहिन! पानी मिल गया।" अनसूया को बड़ा आश्चर्य हुआ, वह बोली कुछ नहीं; क्योंकि पहले तो वहां पानी का एक बूँद भी दिखाई न देता था, लेकिन तापस्वनी ने कहा—"यहां पर खोद। हां पानी का एक बड़ा गहरा कुण्ड है।" तब तपस्विनी और अनसूया ने मिलकर खोदना शुरू किया। उन्होंने दो-चार हाथ ही खोदा था कि पानी निकल आया।

ईश्वर की लीला विचित्र है। कहां तो एक घड़ी पहले पानी का नाम भी न था, कहां अब पानी की धारा निकलने से पानी-ही-पानी हो गया। अनसूया के आनन्द का ठिकाना न रहा। वह तपस्विनी के चरणों पर गिर पड़ी और कमण्डलु में पानी भरकर पति के पास ले गई। पानी इतना स्वच्छ, निर्मल और स्वादिष्ट था कि अत्रिमुनि की प्यास फ़ौरन बुझ गई। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसा मीठा पानी कहां से आया? उन्होंने अनसूया से इतनी देर से आने और ऐसा स्वादिष्ट पानी लाने का कारण पूछा। अनसूया ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब अत्रि मुनि को और भी आश्चर्य हुआ और वह तपस्विनी की खोज में निकल पड़े। तपस्विनी पानी की धारा के पास बैठी हुई थी। ऋषि ने उसे प्रणाम करके अपने आश्रम में चलने के लिए कहा।

तपस्विनी ने कहा—"तुम्हारी स्त्री धन्य है! आज वर्षों से अकाल पड़ रहा है; पर वह इतनी सावधानी से तुम्हारी सेवा-टहल कर रही है कि तुम्हें लेशमात्र भी कष्ट नहीं होने देती। यही नहीं, तुम्हें यह भी पता नहीं लगने देती कि देश बिना अन्न के दुःखी है; तालाब, कुँए, बावड़ी आदि जलाशय सूखे पड़े हैं; जानवरों को खाने के लिए घास का तिनका तक नहीं मिलता और सारे जीव-जन्तु भूखों मर रहे हैं। सचमुच ऐसी सती, धार्मिक

और पतिपरायणा स्त्री बड़े भाग्य से मिलती है।"

अपनी पत्नी की प्रशंसा सुनकर ऋषि बड़े प्रसन्न हुए और तपस्विनी को आश्रम में लाकर समयानुकूल बड़े आदर-सत्कार से उसका आतिथ्य किया।

इस झरने से जो नदी निकली, अत्रि मुनि की पत्नी के स्मरणार्थ उसका नाम अत्रि-गङ्गा पड़ा और बहुत समय तक उस प्रान्त के लोग उसका पानी पीते रहे। विभिन्न लेखों से यह भी मालूम होता है कि प्राचीन समय में ऋषि के नाम से वहां एक शिवालय बनवाकर अत्रीश्वर महादेव की मूर्त्ति भी स्थापित की गई थी। यह भी कहा जाता है कि अनसूया की पति-भक्ति से प्रसन्न होकर साक्षात् गंगाजी ने ही तपस्विनी के वेश में उसे दर्शन दिये थे।

अनसूया की कोख से दत्तात्रेय, दुर्वासा और रामचन्द्र नाम के तीन पुत्र पैदा हुए थे। ये तीनों विद्वान्, पुरुषार्थी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय और ईश्वर-भक्त थे। इनमें दत्तात्रेय सबसे अधिक बुद्धिमान्, ज्ञानवान्, नीति-कुशल, दूरदर्शी और ईश्वर के उपासक थे। विद्याध्ययन के बाद वह एक दिन माता के पास आकर कहने लगे—माँ! मैं गुरु किसे बनाऊँ?" अनसूया स्वयं बड़ी बुद्धिमती थीं। उन्होंने कहा—"बेटा! यह सारा ब्रह्माण्ड ईश्वर की रचना से सुशोभित है, इसमें हर जगह उसका ज्ञान परिपूर्ण हो रहा है। मनुष्य में बुद्धि हो तो वह सृष्टि के हरेक पदार्थ से उपदेश ग्रहण कर सकता है। ईश्वर के रचे हुए अलौकिक पदार्थ मनुष्य को स्वाभाविक रीति से ज्ञान का उपदेश करते हैं। यदि मनुष्य के हृदय में ज्ञान की पिपासा हो तो वह इन पार्थिव पदार्थों से भी भली-भांति शिक्षा ले सकता है। पर यदि मनुष्य इतना अज्ञानी हो कि इन वस्तुओं पर विचार ही न कर सके तो चाहे जैसे महा-

पण्डित को गुरु बनाने से भी कोई लाभ नहीं हो सकता।" तब दत्तात्रेय उसी क्षण माता के चरणों में नमस्कार करके बाहर निकले और प्रकृति के भिन्न-भिन्न पदार्थों से ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने लगे। अन्त में अपने समय में वे तत्त्व-बोध, आत्म-ज्ञान और ईश्वरीय ज्ञान में एक ही अद्वितीय गिने जाने लगे।

इसी समय अनसूया चन्द्रवंशी राजाओं की राजधानी प्रतिष्ठानपुर में आई। वहाँ नर्मदा नाम की एक ऋषि-पत्नी रहती थी, जो बड़ी पतिव्रता थी। उसके पति का शरीर रोग से गल गया था पर नर्मदा की पति-भक्ति से प्रसन्न होकर अनसूया ने उसके पति को अच्छा कर दिया।

भगवान् रामचन्द्र जब वनवास के समय अत्रि ऋषि के आश्रम में आये तो ऋषि ने उनका आदर-सत्कार करके सबसे पहले अपनी पत्नी का चरित्र सुनाया और सीता से उनका उपदेश सुनने के लिये कहा था। तब सीताजी ने बड़ी श्रद्धा के साथ अनसूया के चरण-कमलों की वन्दना की। अनसूया ने बड़ी अच्छी तरह उनका आदर-सत्कार किया। उन्हें दिव्य वस्त्र पहनाये, उनके बालों में सुगन्धित तेल लगाया और फिर मधुर शब्दों में उन्हें नारी-धर्म का उपदेश किया। यह उपदेश ऐसा उत्तम है कि प्रत्येक स्त्री को कण्ठाग्र कर लेना चाहिये। इसीलिए हम गोस्वामी तुलसीदास-जी के शब्दों में उसे यहां उद्धृत करते हैं —

मातु - पिता - भ्राता - हितकारी। मित प्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमितदानि भर्त्ता वैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरजु, धरम, मित्र अरु नारी। आपद-काल परखियहि चारी॥
वृद्ध, रोगवश, जड़, धन-हीना। अंध, बधिर, क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किये अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धरम, एक व्रत नेमा। काय, वचन, मन, पतिपद प्रेमा॥

उत्तम, मध्यम, नीच और लघु स्त्री किसे समझा जाय। इस सम्बन्ध में अनसूयाजी ने यह उपदेश दिया—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसे। भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे॥
धरम विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानहु अधम नारि जग सोई॥
पतिवंचक परपतिरति करई। रौरव नरक कलपसत परई॥
छन सुख लागि जनम सतकोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धरम, छाँड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। विधवा होइ पाइ तरुनाई॥

अनसूया के ऐसे सुन्दर उपदेश से सीताजी बड़ी प्रसन्न हुई और अनसूया का उन्होंने बड़ा आभार माना।

अनसूया की सारी उम्र पति-सेवा में बीती थी। वे पति के ध्यान में मग्न होकर योगियों की भांति रहा करती थीं। पति तथा उनके विद्वान् पुत्र भी इनकी बड़ी प्रतिष्ठा और आदर-सत्कार करते थे। जो कोई अत्रि मुनि के आश्रम में जाता वह देवी अनसूया की पूजा करता और उनके पवित्र उपदेश के एक-एक शब्द को बहुमूल्य रत्न की तरह अपने हृदयरूपी मंजूषा में रख छोड़ता था। इस पतिव्रता सती का प्रभाव सारे संसार पर पड़ा है। ऐसी स्त्रियाँ बहुत कम हैं, जो अनसूया के पवित्र चरित्र को न जानती हों। ईश्वर करे, वे भी अनसूया के बताये हुए धर्म-मार्ग पर चलकर अपने पति तथा सन्तानों को पवित्र और सुखी बनावें।

———

गौतम-पत्नी

अहल्या

अहल्या एक बहुत सुन्दर स्त्री थी। इसे ब्रह्मा की कन्या बताते हैं। स्वयंवर-प्रथा के अनुसार गौतम ऋषि के साथ इसका विवाह हुआ था, जो इसके सौन्दर्य पर बड़े मुग्ध हो गये थे। शुरू-शुरू में दोनों पति-पत्नी बड़े आनन्द के साथ सुख-भोग करते रहे। गौतम ऋषि के समागम से यह भी बड़ी विदुषी और तपस्विनी बन गई थी। पर बाद में एक घटना बड़ी विचित्र हो गई। अहल्या की अतिशय सुन्दरता ने ही उसका सर्वनाश किया।

देवताओं का राजा इन्द्र उसकी सुन्दरता को देखकर उसपर मोहित हो गया। एक दिन पिछली रात को मुर्गे की बाँग की सी आवाज़ करके उसने गौतम ऋषि को जगा दिया। मुर्गे की आवाज़ सुनकर ऋषि समझे कि प्रातःकाल हो गया और नित्य-कर्मों से निवृत्त होने के लिए वह नदी की ओर चल दिये। तब अवसर देख इन्द्र उनके आश्रम में घुसा और गौतम बनकर अहल्या को सहवास के लिए प्रेरित करने लगा। रात का समय था, अहल्या कच्ची नीद में जागी थी। उसकी आँखों से नींद नहीं गई थी। वह इन्द्र के छल को न पहचान सकी और उसके कहने में आ गई, पर शीघ्र ही वह चौंक पड़ी। अब उसे अपने सर्वनाश का पता लगा और उसने जाना कि यह तो गौतम नहीं, इन्द्र है! ऋषि के कोप का भी खयाल हुआ। वह काँप गई और इन्द्र को नाना प्रकार से धिक्कारने लगी। तब इन्द्र चोर की तरह गौतम ऋषि के

आश्रम से निकल भागा। यद्यपि वह बड़ी तेजी से जा रहा था, फिर भी आश्रम से बाहर निकलते समय गौतम ऋषि वहाँ आ पहुंचे और भागते हुए इन्द्र पर उनकी नजर पड़ ही गई। गौतम ऋषि के तेज से देव, दानव आदि सब स्तम्भित हो जाते थे। इन्द्र के मन में भी धुकड़-पुकड़ लग रही थी, क्योंकि गौतम मुनि साक्षात् अग्नि थे। इस समय नदी में स्नान करके और सन्ध्यादि नित्य-कर्मों से निवृत्त होकर वे वापस आये थे। समिधा और कुश (दूब) उनके हाथ में थी। इन्द्र तो उनको देखते ही सन्न रह गया उसके होश-हवास बिलकुल उड़ गये। दुराचारी इन्द्र को अपने वेश में आश्रम में आया हुआ देखकर गौतम मुनि गुस्से से आग-बबूला हो गये। क्रोध के आवेश में ही उन्होंने इन्द्र को शाप दिया—"हे दुर्मति! तूने गौतम बनकर मेरी स्त्री का सतीत्व भंग करके बड़ा अनहोना काम किया है। इसलिए मैं तुझे शाप देता हूं कि तेरा पौरुष ही नष्ट हो जाय।" इसके बाद अहल्या से उन्होंने कहा—"हे दुराचारिणी! तुझे अनेक वर्षों तक इसी आश्रम में रहना पड़ेगा। कुलटा! ज्यादा क्या कहूं, पर तुझे दूसरा कोई न जाने, इस प्रकार भूखे-प्यासे ज़मीन पर पड़े रहना होगा।" अहल्या ने बड़ी विनम्रता के साथ सब समझाकर पति से क्षमा-याचना की। गौतम ऋषि बोले—"अच्छा, इस घोर वन में जब राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्रजी का आगमन होगा, तब उनके चरणों के स्पर्श से तेरा उद्धार हो जायगा।"

बस, तभी से अहल्या शिला हो गई और अनेक वर्षों तक वहीं पड़ी रही। अन्त में जब मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी, विश्वामित्र मुनि और लक्ष्मणजी के साथ वहाँ आये तब विश्वामित्रजी ने उन्हें इस आश्रम का पुराना इतिहास बताकर उसपर अपने चरण-कमल रखने के लिए कहा।

रामचन्द्रजी के चरणारविन्द का स्पर्श होने के साथ ही अहल्या का उद्धार हो गया। शाप से मुक्त होकर रामचन्द्रजी के दर्शन होते ही उसे अपनी पूर्वावस्था का ज्ञान हुआ और उसके लिए बड़ा पश्चात्ताप करके बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ उसने राम-लक्ष्मण के चरणों की वन्दना की। इसके बाद अहल्या ने अपना शेष जीवन बड़ी पवित्रता और सदाचार के साथ बिताया, जिसके कारण आजतक भारतवर्ष की विशिष्ट सतियों में उसकी गिनती होती है।

इस प्रकार अहल्या का जीवन इस बात का उदाहरण है कि जाने-अनजाने होने वाले अपने दुष्कर्म के लिए सच्चे दिल से पश्चात्ताप करने और भविष्य में वैसा कर्म न करने का संकल्प करने से भगवान् अधम पतितों का भी उद्धार कर देते हैं।

—:—

अगस्त्य-पत्नी

लोपामुद्रा

यह विदर्भ-राजा की कन्या और महर्षि अगस्त्य की साध्वी धर्मपत्नी थीं। विदर्भराज ने बहुत दिनों तक सन्तान के लिए तपस्या की थी, तब यह सुभागा कन्या पैदा हुई थी। यह बड़ी सुन्दर और कान्तिमयी थी। फिर ज्यों-ज्यों बड़ी होती गई त्यों-त्यों इसका सौन्दर्य व लावण्य और भी खिलता गया। इसके सुलक्षणों को देखते हुए, ब्राह्मणों की सलाह से, राजा ने इसका नाम लोपामुद्रा रखा। जब यह युवावस्था को प्राप्त हुई तो इसकी सेवा-शुश्रूषा के लिए सौ सखियाँ और सौ सेविकाएँ रातदिन इसके साथ रहने लगीं। सच्चरित्र और सदाचार-सम्पन्न लोपामुद्रा अब युवती हो गई थी, मगर विदर्भराज के भय से किसी पुरुष को यह साहस न हुआ कि उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट करे। अप्सराओं से भी अधिक रूप वाली, सत्यशीला लोपामुद्रा अपने सुशीतल स्वभाव से पिता और सगे-सम्बन्धियों के सन्तोष का कारण बनने लगी। इससे उन्हें बड़ा सन्तोष मिलता था।

उसके सद्गुणों और विद्या-प्रेम को देखकर विदर्भराज अक्सर सोचा करते कि ऐसी कन्या के योग्य वर कहाँ मिलेगा? इसी बीच ऐसा कुछ संयोग हुआ कि एक दिन महातपस्वी और ब्रह्मचारी अगस्त्य मुनि ने कई आदमियों को एक बाड़े में औंधे सिर लटकते हुए देखा। अगस्त्य ऋषि ने उनसे पूछा—"आप कौन हैं? आपकी ऐसी दशा कैसे हुई?" तब उन्होंने

जवाब दिया—"हम लोग तुम्हारे पितर हैं। तुमने अभी तक न तो अपना विवाह किया और न करने की इच्छा ही रखते हो। इसीलिये हमारी यह दशा हुई है। जबतक तुम सन्तान पैदा न करोगे, इस दशा से हमारा उद्धार नहीं होने का।" इसपर अगस्त्य मुनि अपने योग्य स्त्री की तलाश करने लगे। जब उन्होंने लोपामुद्रा के रूप-गुण का हाल सुना तो वे विदर्भराज के पास पहुंचे और बोले—"राजन्! आपकी कन्या बड़ी सुशीला, सदाचारिणी, विदुषी और गृहस्थाश्रम के सब धर्मों की पूर्ण ज्ञाता है। अतएव, पुत्रोत्पति के लिये मैं उसके साथ विवाह करना चाहता हूँ।" मुनि की यह बात सुनते ही राजा के तो होश ही उड़ गये। उन्होंने जाकर रानी से कहा—"ये महर्षि अगस्त्य बड़े पराक्रमी और ब्रह्मनिष्ठ हैं। अगर इनकी मंगनी स्वीकार न की गई तो ये बड़े नाराज़ होंगे और शाप द्वारा हमें जलाकर भस्म भी कर सकेंगे। यह सब जानते हुए भी लोपामुद्रा सरीखी सुलक्षणा सर्वगुण-सम्पन्ना कन्या को वनवासी तपस्वी के हाथों सौंप देने को मेरा जी नहीं करता। इसलिये प्रिये! तुम्हीं बताओ, अब मैं क्या करूँ?" रानी राजा की इन बातों का कोई जवाब न दे सकीं। इतने में राजा-रानी को चिन्तित देखकर स्वयं लोपामुद्रा ही वहां आ पहुंची और उनका मनोभाव जानकर कहने लगी—"पिताजी! मेरे लिए आप ज़रा भी चिन्ता न करें। आप बेधड़क मुझे अगस्त्य ऋषि के साथ ब्याह दीजिए और अपनी रक्षा कीजिए।" कन्या की ऐसी पितृभक्ति और उसके हृदय की विशालता को देखकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई और मुनि के साथ उन्होंने उसका विवाह कर दिया। इस प्रकार विदर्भराज की इकलौती सन्तान, बड़े लाड़-चाव में पली हुई राजकन्या लोपामुद्रा ऋषि-पत्नी बन गई।

विवाह होने के बाद तुरन्त ही मुनि ने लोपामुद्रा से कहा— "कल्याणी ! अब तुम राज-कन्या से ऋषि-पत्नी बनी हो। ये बहुमूल्य वस्त्रालङ्कार हमारे आश्रम में शोभा नहीं देते, इन्हें छोड़ दो।" ऋषि की यह बात सुनकर परम सुन्दरी लोपामुद्रा ने अपने वस्त्राभूषण उतार दिये और उनकी जगह वल्कल वस्त्र धारण करके वह स्वामी की सहधर्मिणी बन गई।

अगस्त्य ऋषि वहां से विदा हो, गङ्गा के किनारे जाकर, पत्नी सहित कठिन तप करने लगे। इस समय लोपामुद्रा प्रेमपूर्वक स्वामी की सेवा करती और स्वयं भी तपस्या करती। उसके व्यवहार से मुनि भी बड़े प्रसन्न रहने लगे। प्रसन्न रहने में आश्चर्य भी क्या? लोपामुद्रा परछाईं की नाईं सदैव उनके साथ ही रहती, उनके खा लेने पर खुद खाती, उनके सो जाने पर सोने जाती और उनके उठने से पहले जागकर काम-धन्धे में लग जाती। रात-दिन स्वामी के ध्यान में ही रहती; उनकी आज्ञा बिना कोई भी काम न करती। देवता, अतिथि और गायों की सेवा करने में भी वह कभी किसी से पीछे न रहती।

पति-पत्नी को इस प्रकार तप करते हुए बहुत दिन बीत गये। यहां तक कि मुनि को यह स्मरण न रहा कि पुत्र-प्राप्ति के लिए ही उन्होंने अपना विवाह किया था। आखिर एक दिन मुनि ने तप से प्रदीप्त लोपामुद्रा को ऋतुधर्म की समाप्ति पर स्नान की हुई दशा में देखा। उसकी परिचर्या, पवित्रता, जितेन्द्रियता एवं श्री और रूप-लावण्य को देखकर मुनि उसपर आसक्त हो गये और पुत्रोत्पत्ति के लिए रतिक्रीड़ा करने को उन्होंने उसे बुलाया। लोपामुद्रा लज्जा से सकुचा गई और हाथ जोड़कर प्रेम के साथ स्वामी से कहने लगी— "हे ब्रह्मन्! इसमें जरा भी शक नहीं कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ही

स्वामी स्त्री को व्याहता है। संसार में सार-रूप जितनी चीजें हैं, स्त्री के लिए उन सबमें एकमात्र सार पति ही है। स्त्रियों को बन्धुओं में अपने पति से बढ़कर अच्छा बन्धु कोई नहीं दीखता। वह रमणियों का पालन-पोषण करता है, इसीलिए पति होता है। शरीर का ईश्वर होने के कारण स्वामी है। सब विषयों की अभिलाषा प्रेम-पूर्वक पूर्ण करने के कारण कान्त है; सुख में वृद्धि करने के कारण बन्धु है; प्राण का मालिक होने से प्राणेश्वर है, रति-दान करने के कारण रमण है और प्रेम करने के कारण प्रिय कहलाता है। पति से बढ़कर प्रिय और कोई नहीं। उस प्रिय के वीर्य से ही पुत्र पैदा होता है; इसलिए स्त्रियों को पुत्र भी प्यारे होते हैं। पर स्वामिन्! आपके प्रति मेरा जैसा प्रेम है आपको भी मुझपर वैसा ही प्रेम रखकर मेरी इच्छा को पूर्ण करना चाहिए। आज मुझे मायके (पीहर) का सुख याद आ गया है और मैं चाहती हूं कि पिताजी के महल में जैसी सुन्दर शय्या थी वैसी ही शय्या आप तैयार करावें और खुद आप भी सुन्दर वस्त्र-भूषण व मालाएं धारण करें। मैं भी अपने मायके जैसे दिव्य वस्त्राभूषणों से सजकर आपके पास आऊंगी। रोज के वल्कल वस्त्र पहनकर मैं आपके पास नहीं आना चाहती। हे विप्र-श्रेष्ठ! इसमें आपको भी भय नहीं; क्योंकि रति के समय अलंकार धारण करने से किसी प्रकार अपवित्रता नहीं होती। यह तो शास्त्र का ही कथन है।"

कामशास्त्र के सिद्धान्तानुसार लोपामुद्रा की इच्छा असङ्गत थी भी नहीं; क्योंकि ऐसे समय तो पति-पत्नी जितने शुद्ध, स्वच्छ, सुन्दर और अन्योन्य-आकर्षक (एक दूसरे को आकर्षित करनेवाले) तथा अनन्य स्नेही हों उतना ही अधिक सुन्दर और सुयोग्य बालक होता है। फिर भी वनवासी मुनि इस इच्छा को किस प्रकार पूर्ण करें, यह बात विचारने की थी। अतः अगस्त्य मुनि कहने लगे—

"हे लोपामुद्रे ! तुम्हारे पिता के घर तो राजपाट है, जिससे सुख-वैभव की कोई कमी नहीं; परन्तु अपने यहां ऐसे-ऐसे विषय-भोग कैसे हो सकते हैं ?" लोपामुद्रा ने जवाब दिया—"हे तपोधन ! इस संसार में जितने प्रकार के धन हैं उन सबमें तपोधन मुख्य है। तपोधन के जरिये तमाम धन क्षण-मात्र में खींचकर लाया जा सकता है।"

अगस्त्य ने कहा—"तुम जो कहती हो, वह ठीक है; पर उससे मेरा तपोबल समाप्त हो जायगा। अतएव कोई ऐसा उपाय बताओ कि जिससे मेरे तप का भी क्षय न हो।" इसपर लोपामुद्रा ने कहा— "प्राणनाथ ! मेरे ऋतु-काल को सोलह दिन पूरे होने में अब थोड़े ही दिन बाकी हैं; पर बगैर अलङ्कारादि के आपके पास आने को मेरा मन नहीं करता, साथ ही ऐसा भी मैं नहीं करना चाहती कि जिससे आप को अड़चन पड़े या आपके धर्म का लोप हो। इसलिए अगर धर्म के सुरक्षित रहते हुए मेरी अभिलाषा पूर्ण होती हो तभी ऐसा कीजिए।" तब अगस्त्य बोले—"सुभगे ! तुम भी परम विदुषी हो। शास्त्र के मर्म को जानती हो। जब तुम्हारी बुद्धि में यह बात आगई है तो मैं भी धन लेने जाता हूँ। मैं आऊँ तबतक तुम स्वतंत्रता से यहीं रहना।"

धन लेने के लिए मुनि श्रुतपूर्ण राजा के पास गये; पर जब राजा ने बताया कि उनकी आमद और खर्च दोनों बराबर हैं तो ऋषि ने उनसे कुछ भी न लिया। इसके बाद मुघ्नश्व, पुरुकुत्स, सूत आदि कई राजाओं के पास गये ; पर उनकी दशा भी श्रुतपूर्ण सरीखी ही थी, अतः यह सोचकर कि इनके पास से धन लेने से प्रजा दुःखी होगी, मुनि ने उनसे कुछ न लिया। इसके बाद इल्लव राजा के पास गये जो बड़ा धनवान् था और उसे अपने तपोबल का चमत्कार दिखाया। इल्लव ने ऋषि की और भी

परीक्षा करने के लिए उनसे कहा, 'अगर आप ठीक-ठीक यह बता दें कि मैंने आपको कितना धन देने का विचार किया है तभी मैं आपको यह दूंगा।' इसपर ऋषि ने बता दिया कि आपने मुझे इतनी मुद्रा, इतनी गायें, इतने घोड़े आदि देने का इरादा किया है। मुनि का अन्दाजा सोलहों आने सच निकला। तब प्रसन्न होकर इल्वल ने उन्हें उतना धन भेंट कर दिया।

महात्मा अगस्त्य धन और मणि-मुक्तादि के गहने लेकर अपनी पत्नी के पास आये और कहा, "कल्याणी! तुम्हारे सदाचार से मैं सन्तुष्ट हूँ; पर मैं यह जानना चाहता हूं कि सन्तानोत्पत्ति के बारे में तुम्हारे क्या विचार हैं। तुम्हें एक हजार पुत्र पैदा करना पसन्द है या सौ-सौ पुत्रों के समान सामर्थ्यवान् दस पुत्र चाहिएँ, अथवा जो अकेला ही अपने गुणों से हजारों को भी मात कर सके ऐसा एक ही पुत्र चाहती हो?" लोपामुद्रा ने जवाब दिया—"तपोधन! मैं तो हजार मनुष्यों के समान सामर्थ्यवान् एक सुपुत्र को ही चाहती हूं; क्योंकि अनेक निकम्मी सन्तानों के बजाय एक ही साधु और विद्वान् सन्तान का होना कहीं अच्छा है।" अगस्त्य ने "तथास्तु" कहा। तदुपरान्त अगस्त्य मुनि के औरस से यथा-समय लोपामुद्रा के दृढ़स्यु नाम का एक बालक पैदा हुआ। यह बड़ा विद्वान्, कवि और तत्त्वज्ञ था। माता-पिता से इसने धर्मशास्त्र का अध्ययन किया था। लोपामुद्रा और अगस्त्य मुनि ने ऐसे शास्त्रज्ञ और विवेकी पुत्र की उत्पत्ति से समझा कि अब हमारा गृहस्थाश्रम-धर्म सफल हो गया और इसके बाद स्वामी के साथ लोपामुद्रा भी फिरसे तपस्या करने में लग गई।

लोपामुद्रा ने ऋग्वेद के पहले मण्डल के १७९ वें सूक्त की दो ऋचाएँ रची हैं।

लोपामुद्रा और अगस्त्य मुनि का सांसारिक जीवन आदर्श-रूप था। पति-पत्नी साथ रहते हुए ईश्वराराधना और गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन कैसे करें, कामवासनाएँ कैसे दूर रखी जायँ, चित्त की दुर्बलता किस प्रकार हटाई जाय, तथा विद्वान् पुरुष और विदुषी स्त्री सदा ही संसार-त्यागी न रहते हुए जगत की उन्नति के लिए सुयोग्य, धार्मिक, बलवान् और देशभक्त सन्तान पैदा करके अपनी ज्ञानज्योति को सदैव किस प्रकार प्रज्वलित रखते हैं, इन सब बातों की शिक्षा लोपामुद्रा के जीवन से मिलती है।

———

२६

जमदग्नि-पत्नी

रेणुका

यह रेणुक नामक राजा की पुत्री और महर्षि जमदग्नि की पत्नी थी। भूमण्डल को इक्कीस बार क्षत्रियों से रहित करने वाले पराक्रमी परशुराम इन्हींके गर्भ से पैदा हुए थे। रेणुका एक विदुषी और पति-परायणा स्त्री थीं। एक दिन ये गंगा के किनारे पानी भरने गई थीं, वहाँ इन्होंने एक गन्धर्व को अपनी स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा करते हुए देखा। कभी-कभी सतगुणी मनुष्यों में भी रजो-तमोगुण प्रकट हो जाते हैं। यही हाल इनका भी हुआ। जल-क्रीड़ा देखकर रेणुका के मन में रजो-तमोगुण प्रकट हुए और घड़े को नीचे रखकर वे उस जल-क्रीड़ा को देखने लगीं, पर कुछ ही देर में इन्हें ध्यान आया कि 'ओह, मैंने क्या भूल की। इतने बरस से वनवास और धर्म-चर्चा करते रहने पर भी मुझे ऐसा दृश्य देखने की इच्छा हुई! सचमुच यह मेरे लिए ठीक नहीं।' तब पछताती हुई, पानी भरकर, पति के पास गई।

पतिव्रता स्त्रियाँ पति से कोई भेद-भाव नहीं रखा करतीं। उन के मन में यदि कोई विकार उत्पन्न होता है तो पति के सामने दिल खोलकर उसे कहकर ही उन्हें सन्तोष होता है। तदनुसार रेणुका ने भी पति से सब हाल कह दिया।

पर जमदग्नि ऋषि बड़े क्रोधी थे। रेणुका की बात सुनकर उन्हें बड़ा गुस्सा आया और उसी आवेश में अपने पुत्रों को उन्होंने आज्ञा दी कि अपनी माता (रेणुका) का सिर काट डालो। उनकी इस आज्ञा का पालन और किसी पुत्र ने तो नहीं किया, पर परशुराम ने इस आज्ञा का पालन कर माता रेणुका का सिर काट डाला। इसपर पिता (महर्षि जमदग्नि) उनपर प्रसन्न हुए और इसके उपलक्ष्य में वर मांगने को कहा। तब परशुराम ने यह वर मांगा कि माता जिन्दा हो जाय और उसे इस बात की याद रहे। जमदग्नि ने इसपर 'तथास्तु' कहा और रेणुका फिर से जिन्दा हो गई।

रेणुका बड़ी साध्वी स्त्री थी। उसके पति जमदग्नि ऋषि को कार्त्तवीर्यार्जुन नामक एक राजा ने मार डाला। जब उसने यह खबर सुनी तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उन्मत्त की नाईं वह खुले सिर, हाँफती और दौड़ती हुई, रणभूमि में जा पहुँची और पति के सिर को गोद में रखकर विलाप करने और अपने वीर पुत्र परशुराम को पुकारने लगीं। इस समय परशुराम पुष्कर-तीर्थ में तपस्या कर रहे थे। तपोबल के द्वारा उन्हें माता का यह आह्वान सुनाई पड़ गया। तब वे अपने योग-बल से तुरन्त ही माता के पास जा पहुंचे। पिता को मृत और माता को शोकातुर देखकर वे खुद भी विलाप करने लगे और माता से पिता की मृत्यु का कारण पूछा। इसपर रोते-रोते रेणुका ने कहा—"बेटा! एक दिन राजा कार्त्तवीर्यार्जुन अपने आश्रम में मेहमान होकर आया था तब तुम्हारे पिता ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया। यहाँतक कि राजा उनका वैभव देख-कर खुश हो गया और जब उसे मालूम हुआ कि यह सब कामधेनु के कारण है तो उसने उनसे कामधेनु मांगी; पर तुम्हारे पिता ने

गाय देने से साफ़ इन्कार कर दिया। इसपर दोनों जनों में खूब लड़ाई हुई और अंत में राजा कार्त्तवीर्यार्जुन हारा और घायल हुआ। तब, जैसा कि वीर पुरुषों को चाहिए, तुम्हारे पिता उसे अपने आश्रम में ले आये और सेवा-शुश्रूषा द्वारा उसे भला-चंगा करके विदा किया। पर क्षत्रियों की वैराग्नि ऐसे शान्त थोड़े ही होती है। उसने तपस्या करके दत्तात्रेय मुनि से शक्ति-बाण प्राप्त किया और उसी बाण से तुम्हारे पिता का सर्वनाश कर दिया। बेटा! अब देर न करो और पिता के साथ ही मेरी अन्त्येष्टि के लिए भी चिता तैयार करदो और अब तुम क्षत्रियों के साथ युद्ध करने न जाना।

माता की इन बातों को सुनकर परशुराम और भी दुःखी हुए और माता के मना करने पर भी उन्होंने प्रतिज्ञा की---"मैं इस भूमण्डल को इक्कीस बार जरूर ही क्षत्रियों से रहित कर दूंगा। क्षत्रिय-कुल में जन्म लेनेवाले दगाबाज और पापी कार्त्तवीर्य को समूल नष्ट करूँगा और क्षत्रियों के रक्त से पिता का तर्पण करूँगा। मां! जो पुत्र अपने पिता की आज्ञा का पालन नहीं करते और पिता या माता को मारनेवाले का सिर नहीं काटते वे पुत्र मूर्ख माने जाते हैं और मरने के बाद रौरव नरक में जाते हैं। जो लोग दूसरों का घर जला डालते हैं, अन्न में जहर मिलाते हैं, हत्या करने के लिए हथियार उठाते हैं, पराया धन या भूमि हजम करते हैं, साध्वी स्त्री का सतीत्व भंग करते हैं, माँ या बाप की हत्या करते हैं, चुपके-चुपके बुराई करके किसीकी (आजीविका) को नुकसान पहुंचाते हैं, बन्धु-बान्धवों का अनिष्ट करते हैं, रात-दिन किसीसे दुश्मनी रखते हैं, अथवा कटु वचन कहकर लोगों में अपना अपमान कराते हैं, ऐसे ग्यारह तरह के अनिष्टकारी मनुष्यों को मार डालने की शास्त्र में इजाजत है।

हे माता ! पिता के वध का अपमान अब मुझसे नहीं सहा जा सकता।"

इसपर रोते हुए पुत्र को छाती से लगाकर उसके गाल तथा मस्तक को चूमते हुए रेणुका ने कहा—"बेटा परशुराम ! तुम्हें छोड़कर मैं कहाँ जाऊँगी ? तुम मुझे प्राणों से ज्यादा प्यारे हो, परन्तु मैंने शरीर छोड़ देने का संकल्प कर लिया है, इसलिए मैं तो तुम्हारे पिता के साथ ही जाऊँगी। फिर भी जहांतक हो सके, तुम मेरे उपदेश पर ध्यान देना। तुम सुख से घर जाकर तपस्या में जीवन बिताओ। लोगों के साथ झगड़ा न करना ठीक है। विरोध करने से अनेक उपद्रव सहने पड़ते हैं। इसलिए बेटा ! निर्दय क्षत्रियों के साथ झगड़ा करना ठीक नहीं। पर तुमने प्रतिज्ञा की है, इससे तुम रुकनेवाले तो हो नहीं; फिर भी मैं जो कहती हूँ उसपर ध्यान रखना। पितामह भगवान् ब्रह्मा और उत्तम सलाह देने वाले भृगु मुनि के साथ बात-चीत करके उनके कहने के मुताबिक काम करना; क्योंकि पंडितों से सलाह करके जो काम किया जाता है वह बड़ा उपयोगी निकला करता है।"

दुःखित-चित्त भृगु ऋषि भी इतने में स्वयं ही वहाँ आ पहुंचे और परशुराम तथा रेणुका को समझाने लगे कि ज्ञानी हो कर भी तुम लोग व्यर्थ में विलाप क्यों कर रहे हो ? इस पृथ्वी पर स्थावर, जंगम आदि जो कुछ भी है वह सब पानी के बुलबुले के समान क्षण-भंगुर है। जो गया सो पीछे आने का नहीं, इसलिए अब उसकी चिन्ता करना छोड़ दो। सदैव मौजूद रहने वाली सत्य वस्तु जो परमात्मा है, उसीका चिन्तन करो। हे पुत्र ! संसार में कोई किसीका पिता नहीं है, न कोई किसीका पुत्र है। यह सब भ्रम है, यह निश्चय जानो। इसीलिए बुद्धिमान् लोग

अपने सगे-सम्बन्धियों के मरने पर कभी नहीं रोते। हे पुत्र! तुम भी अपने पिता की मृत्यु के लिए शोकातुर होकर रोना छोड़ दो। शास्त्र में लिखा है कि पुत्र, स्त्री आदि के आंसू पड़ने से परलोकगत आत्मा का अधःपतन होता है। फिर सैकड़ों वर्षों तक क्यों न रोते रहो, कुछ नतीजा नहीं। शरीर में निवास करनेवाले परमात्मा के चले जाने पर शरीर का पृथ्वी-अंश पृथ्वी में, जल का जल में, आकाश का महाकाश में, वायु का प्रबल वायु में और तेज का भाग तेज में मिल जाता है। जीव की मृत्यु के बाद केवल नाम, विद्या और कीर्ति ही क़ायम रहते हैं। अतः अपने पिता के परलोक के कल्याण के लिए तुम उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया करो। जो परलोकगत मनुष्य का हित-साधन करता है वही उसका सच्चा बन्धु या पुत्र होता है।"

जमदग्नि के पिता भृगु ऋषि के इस उपदेश से परशुराम और उनकी माता का शोक बहुत-कुछ शान्त हुआ और रेणुका अपने ससुर से पूछने लगी—"मैं चाहती हूं कि अभी-की-अभी पति के साथ जल मरूँ; परन्तु मैं रजस्वला हूं और आज चौथा दिन है, इस कारण मैं अपवित्र हूँ। ऐसी दशा में बतलाइए, मैं क्या करूं? आप वेदशास्त्र के ज्ञाता हैं। मेरे भाग्य से आप ठीक वक्त पर आ पहुंचे हैं। अतः आप जैसा कहें वैसा ही मैं करूं।" इसपर प्रसन्न होकर भृगु मुनि ने कहा—"हे पतिव्रते! तू आज ही अपने पुण्यवान पति का अनुगमन कर, क्योंकि ऋतु-प्राप्ति के चौथे दिन ही स्त्रियाँ पति के तमाम कामों की अधिकारिणी होती हैं; परन्तु देवता तथा पितरों के कार्य का अधिकार चौथे दिन नहीं मिलता, यह कार्य पांचवें दिन ही हो सकता है। पतिव्रता स्त्री का पति पापी हो तो भी अपने शुभ कर्मों के माहात्म्य से वह उसको स्वर्ग में ले जा सकती है। सच्ची स्त्री तो वही है जो पति-व्रत धर्म का पालन

करती है और वही पुत्र सच्चा पुत्र है जो माता-पिता की भक्ति करता है। इसी प्रकार जो आदमी ऐन मौक़े पर काम आवे वही सच्चा बन्धु है, जो गुरु की सेवा-टहल करे वही सच्चा शिष्य और जो विपत्ति में प्रजा की रक्षा करे वही राजा के नाम से पुकारे जाने का अधिकारी होता है। जो अपनी पत्नी को धार्मिक विषयों की ओर प्रेरित करे वही सच्चा पति, जो अपने शिष्य को ईश्वर की भक्ति सिखाये वही सच्चा गुरु है। चारों वेद और शास्त्रों तथा पुराणों में ऐसे व्यक्तियों के गुण गाये गये हैं।" रेणुका ने फिर पूछा—"हे मुनिवर! भारतवर्ष में कैसी स्त्री पति के साथ जाने की अधिकारिणी मानी जाती है और कैसी नहीं यह भी कृपाकर के समझा दीजिए।" तव भृगु मुनि ने जवाब दिया—'जिस स्त्री का पुत्र वालक हो, जो गर्भवती प्रतीत हो, जो कभी रजस्वला न हुई हो, जो रजस्वला हो, जो व्यभिचारिणी हो, जिसे कोढ़ की वीमारी हो जिसने पति के जीते-जी उसकी सेवा-टहल न की हो, जिसमें पति के प्रति भक्ति न हो, जो पति के प्रति सदैव कटु-वचन व्यवहार करती हो—ऐसी स्त्रियाँ संसार में ख्याति प्राप्त करने के लिए पति के साथ जल मरें तो भी इन्हें इसका फल नहीं मिलता। वास्तव में देखा जाय तो ऐसी स्त्रियाँ सहगमन की अधिकारिणी ही नहीं हैं। उनके अतिरिक्त और सब स्त्रियां पति का अनुगमन कर सकती हैं। संक्षेप में पति के साथ-साथ सती होने के लिए यही नियम है। वेटा परशुराम! अब तुम अपने पिता के शव को चिता पर रखो और 'हे जीव! तुम दिव्यलोक में जाओ' इस मंत्र का पाठ करके अग्नि-संस्कार करो।"

इसीके अनुसार जमदग्नि का अग्नि-संस्कार हुआ। इसके बाद पुत्र का आलिंगन करके रेणुका पति की शय्या में शयन करके भस्म हो गई और पति-पत्नी एकसाथ दिव्यलोक में जा पहुंचे।

कपिल-माता

देवहूती

प्राचीन काल में हमारे देश में ऐसी पुस्तकें रची गई हैं जिनमें जगत्, प्रकृति, मनुष्य, आत्मा, ईश्वरीय तत्त्व, धर्म आदि विषयों की गहरी विवेचना की गई है। ये पुस्तकें दर्शनशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। दर्शनशास्त्र की कुल छः पुस्तकों में सांख्यदर्शन सबसे पहले रचा गया था। गम्भीर युक्तियों के साथ आत्मा और प्रकृति के तत्त्व-संबंधी विवेचना करने वाला सांख्यदर्शन जैसा ग्रन्थ संसार भर में दुर्लभ है। महर्षि कपिल ने इस सांख्यदर्शन की रचना की थी जो देवहूती के गर्भ से पैदा हुए थे।

देवहूती महाराज स्वायंभुव की पुत्री थीं। इनकी माता का नाम शतरूपा था। पिता के घर उन्होंने अनेक विद्याओं में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। इस समय कर्दम नाम के एक ऋषि बड़े भारी पण्डित और परम धार्मिक थे। कर्दम ऋषि की विद्या पाण्डित्य एवं धर्मशीलता देखकर देवहूती उनपर मुग्ध हो गई और पिता से उसने निवेदन किया कि मैं तो इस ब्राह्मण ऋषि ही से विवाह करूंगी।

कन्या (देवहूती) की यह उचित बात सुनकर पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने कर्दम ऋषि के साथ ही उसका विवाह कर दिया।

देवहूती के नौ लड़कियां और कपिल नाम का एक लड़का— इस प्रकार कुल दस सन्तानें हुईं। जब कपिल बड़े हो गये तो देवहूती और उनकी नवों कन्याओं के भरण-पोषण का भार उनपर डालकर कर्दम ऋषि वानप्रस्थी हो गये।

इस समय कपिलजी ने सांख्यदर्शन रचकर देश-विदेश में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त करली थी। विदुषी एवं ज्ञानवती माता देवहूती अपने पंडित पुत्र के साथ नाना प्रकार की शास्त्र-चर्चा करती हुई बड़े आनन्द के साथ अपना कालक्षेप करती थीं।

कपिल के सांख्य की रचना कर लेने पर उसमें लिखे हुए तत्त्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने की देवहूती को बड़ी इच्छा हुई। एक दिन उन्होंने अपने पुत्र से कहा—"बेटा! मैंने कई शास्त्र पढ़े हैं, पर प्राणों का मोह जरा भी नहीं छूटा; क्योंकि 'मैं' और 'मेरा' इस भाव को छोड़कर जीवन के सार-रूप विशुद्ध आत्म-पुरुष को मैं अभी तक नहीं पहचान सकी। इसलिए तू अपने सांख्यशास्त्र में लिखे हुए पुरुष और प्रकृति का तत्त्व मुझे समझा जिससे मैं मोह से मुक्त होकर दिव्य ज्ञान को प्राप्त कर सकूं।"

तब कपिल ने माता को सारा सांख्यशास्त्र समझाकर पढ़ सुनाया। पुत्र से तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करके, उसका बारम्बार चिन्तन तथा ध्यान करने से, धीरे-धीरे देवहूती अपना अहंभाव भूल गई और मोहमुक्त आत्म-पुरुष को पहचान कर मुक्ति को प्राप्त हुई।

जिस जगह उन्होंने इस प्रकार सिद्धि-प्राप्त की वह स्थान सिद्धि-प्रद के नाम से मशहूर हो गया और बहुत दिनों तक लोग उसे परम पवित्र तीर्थ मानते रहे।

गार्गी

प्राचीन भारत की जो विदुषी और ज्ञानवती नारियां अपनी प्रतिभा और उच्च ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हैं उनमें गार्गी का स्थान बहुत ऊँचा है।

इनका असली नाम तो वायरवी था। पर गर्ग मुनि के वंश में पैदा होने से ये गार्गी के नाम से मशहूर हो गईं। जब वेद का प्रचार हो गया तो ऋषि लोग यज्ञ तथा ऐसे ही दूसरे बड़े-बड़े प्रसंगों पर भिन्न-भिन्न स्थानों में इकट्ठे होकर ब्रह्म-ज्ञान की चर्चा करने लगे थे। जिन पुस्तकों में इन सब चर्चाओं का वर्णन है, उन्हें उपनिषद् कहा जाता है। "उपनिषद् का मतलब ही यह है कि अज्ञान का नाश करके भगवान् के निकट पहुँचानेवाली विद्या, जिसमें वेद का सच्चा रहस्य छिपा हो।" मिथिलादेश के राजा जनक बड़े ब्रह्मज्ञानी और विद्या-प्रेमी थे। उनके दरबार में ज्ञानियों की अनेक सभाएं हुआ करती थीं और उनमें ब्रह्म-ज्ञान की खूब चर्चा चलती थी। इस चर्चा में केवल पुरुष ही शामिल होते हों सो बात नहीं थी; स्त्रियाँ भी इसमें उपस्थित होकर वाद-विवाद कर सकती थीं। इन सब सभाओं में गार्गी जरूर पहुंचती और ऋषियों के साथ ब्रह्म-तत्त्व सम्बन्धी वाद-विवाद किया करती थीं; यहां तक कि वाद-विवाद में गार्गी का ज्ञान कई ऋषियों से भी बढ़कर साबित हुआ था।

एक समय राजा जनक ने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। भिन्न-भिन्न देशों के ब्राह्मण, पण्डित और ऋषि उस यज्ञ में आए। गार्गी भी उपस्थित हुई। तब इस बात का निर्णय करने के लिए कि उपस्थित ब्राह्मणों में से ब्रह्म-ज्ञान में सर्वश्रेष्ठ कौन है, राजा जनक ने एक हजार गायें लाकर उनके एक-एक सींग में दस-दस स्वर्ण-मुद्राएं बँधाईं और भरी सभा में कहा—"ब्राह्मणो! आपमें से जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म-ज्ञानी हो, वही इन स्वर्ण-मुद्राओं-सहित एक हजार गायों को ले जाय।"

याज्ञवल्क्य ऋषि भी इस सभा में विराजमान थे। वे बड़े भारी ज्ञानी थे। वेद-विद्या में तो वे ख़ास प्रवीण थे। पर संसार की माया सबकी तरह उनमें भी मौजूद थी। अतः स्वर्ण-मुद्राओं-सहित हजार गायें देखकर इनका मन ललचाया। और ब्रह्मण तो स्तब्ध होकर बैठ रहे और इस सोच में पड़ गये कि भरी सभा में अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म-ज्ञानी कैसे बतावें, पर याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपने शिष्य से कहा—"इन गायों को घर ले चल।" इसपर दूसरों को बड़ा बुरा लगा। उन्होंने सोचा कि इससे तो हमारा अपमान होता है और यह मालूम पड़ता है कि हम सब ब्रह्म को अच्छी तरह नहीं जानते। आखिर राजा जनक के होता अश्वल ऋषि बोल ही उठे—"याज्ञवल्क्य! तुमने यह कैसे मान लिया कि इतने लोगों में तुम्हीं सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म-निष्ठ हो?" उद्धतता और अभिमान का त्याग ब्रह्म-ज्ञानी का ख़ास लक्षण है, यह सोचकर, याज्ञवल्क्य ने नम्रता के साथ जवाब दिया—"मैं ब्रह्म-निष्ठ महानुभावों के चरणों की वन्दना करनेवाला हूँ, पर इन गायों को कोई लेता ही नहीं और मुझे गाय पालने का शौक़ है; इसलिए मैं ही इन्हें ले रहा हूँ।" इसपर अश्वल मुनि ने उनके ब्रह्म-ज्ञान की परीक्षा करने के लिए कुछ प्रश्न पूछे और कहा कि हमारे

प्रश्नों का सन्तोष-जनक जवाब दे देने पर ही तुम गायों को ले जा सकोगे। याज्ञवल्क्य ने यह स्वीकार कर लिया।

प्रश्न-पर-प्रश्न किये गये, पर याज्ञवल्क्य सबके सन्तोषपूर्ण जवाब देते गये, यहां तक कि सब ऋषि उनसे प्रश्न कर-कर के थक गये; तब गार्गी उठी और बोली—"ब्रह्म-देवताओ! अब आप ठहरें। मैं भी याज्ञवल्क्य से दो-चार प्रश्न पूछ लूं। अगर उनके जैसे चाहिएँ वैसे जवाब ये दे सकेंगे तो मैं समझूंगी कि इनके समान दूसरा कोई ब्रह्मज्ञानी नहीं है।"

गार्गी ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! जो पार्थिव वस्तुएं हैं वे सब जल में ओत-प्रोत हैं; यदि ऐसा न होता, तो पानी के बुलबुले की तरह विलीन हो जातीं। अतः जिस प्रकार यह पंचभूत पृथ्वी जल में ओत-प्रोत है, उसी प्रकार जल किसमें ओत-प्रोत है?"

याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया—"जल वायु में ओत-प्रोत है।"

गार्गी—"वायु किसमें ओत-प्रोत है?"

याज्ञवल्क्य—"वायु आकाश में ओत-प्रोत है।"

गार्गी—"अन्तरिक्ष किसमें ओत-प्रोत है?"

याज्ञवल्क्य—"अन्तरिक्ष गन्धर्वलोक में।"

गार्गी—"गन्धर्वलोक किसमें ओत-प्रोत है?"

याज्ञवल्क्य—"आदित्यलोक में।"

गार्गी—"आदित्यलोक किसमें ओत-प्रोत है?"

याज्ञवल्क्य—"चन्द्रलोक में।"

गार्गी—"चन्द्रलोक किसमें?"

याज्ञवल्क्य—"नक्षत्रलोक में।"

गार्गी—"नक्षत्रलोक?"

याज्ञवल्क्य—"देवलोक में।"

गार्गी—"और देवलोक?"

याज्ञवल्क्य—"प्रजापतिलोक में।"

गार्गी—"विराट् पुरुष के शरीर के आरम्भिक पंचीकृत पंचमहाभूतरूप, प्रसिद्ध प्रजापतिलोक किसमें ओत-प्रोत है?"

याज्ञवल्क्य—"वह ब्रह्मांड के प्रारम्भिक पंचभूतरूप ब्रह्मरूप-लोक में ओत-प्रोत है।"

गार्गी—"और वह ब्रह्म-लोक किसमें ओत-प्रोत है? कार्य-कारण की प्रणाली के अनुसार तो मुझे ऐसे प्रश्न करने का भी हक़ है। ब्रह्म-लोक तक पहुंचकर ही आप रुक क्यों गये? ब्रह्म-लोक चाहे जितने छोटे परमाणुओं से क्यों न बना हो; पर इसमें सन्देह नहीं कि इसका कोई सूक्ष्म और अपरिच्छिन्न कारण अवश्य है। अतः कृपाकर मुझे उस कारण का ही नाम और स्वरूप बतलाइए।"

गार्गी का यह प्रश्न सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य कहने लगे—"देवी! अब अधिक प्रश्न मत उठाओ। तुम जिस पदार्थ को जानना चाहती हो वह कार्य-कारण की शृंखला से मुक्त और पृथक् है। कार्य और कारण की पद्धति का आधार तर्क-शास्त्र पर है और तुम जो जानना चाहती हो उसका निर्णय इस पद्धति से होना असंभव-सा है। ब्रह्म-पदार्थ यानी जिसमें जगत् का उपादान ओत-प्रोत भाव से मौजूद है, वह अनुमान-सीमा से परे है। इस परम-पदार्थ का निर्णय तो केवल श्रुति के वचनों से ही हो सकता है। किसी प्रमाण या दलीलों से नहीं। अतः अब कार्य-कारण की शृंखला को बीच में लाकर इस विषय में और कुछ मत पूछो।"

याज्ञवल्क्य के उत्तर से संतुष्ट होकर गार्गी अपने स्थान पर जा बैठी।

इसके बाद याज्ञवल्क्य से उद्दालक आदि ऋषियों ने प्रश्न किये। याज्ञवल्क्य ने उन सबको सन्तोषजनक उत्तर दिये। यह देख पण्डित-मण्डली कुछ लज्जित-सी हुई। तब गार्गी ने फिर सिर उठाया और पण्डितों को संबोधन करके कहा—"महाशयो! हम याज्ञ-

वल्क्य ने तो आप सबके प्रश्नों का पूरा-पूरा समाधान कर दिया। मैंने मीमांसा के लिए जो एक तत्त्व उनके सामने रखा था, उसका उत्तर भी आप सब सुन चुके। परन्तु अब मैं फिर से दो प्रश्न करने का साहस करती हूं। अगर ये उनके भी जैसे चाहिएँ वैसे जवाब दे सकें तो फिर यह समझ लिया जाय कि इस सभा में कोई भी पण्डित इनको पराजित नहीं कर सकता। बोलिए, अगर आपकी इच्छा हो तो मैं आरम्भ करूँ।"

यह सुनकर सब ऋषियों ने गार्गी को धन्यवाद देकर प्रश्न करने के लिए उत्साहित किया। तब याज्ञवल्क्य की ओर मुख करके गार्गी ने पूछा—"इस पृथ्वी और अन्तरिक्ष लोक के बीच का स्थान तथा ऊर्ध्व और अधोदेश किसके द्वारा ओत-प्रोत भाव से व्याप्त हो रहे हैं? लोग जिन्हें भूत, भविष्य और वर्त्तमान कहते हैं वह काल भी ओत-प्रोत-भाव से किसमें स्थित है?"

याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया—"गार्गी! तुम खण्डकाल[1] और खण्डदेश[2] के बारे में पूछ रही हो, सो मेरी समझ में तो दोनों ही अखण्डआकाश[3] द्वारा ओत-प्रोत हैं।"

गार्गी ने कहा—"मान्यवर! आपने मेरा जो समाधान किया, उससे मुझे सन्तोष हो गया। अतः मैं आपको प्रणाम करती और धन्यवाद देती हूं। अब कृपा करके एक दूसरी बात का जवाब और दीजिए। आपने कहा है कि खंडदेश और खंडकाल दोनों एक नित्य आकाश के द्वारा ओत-प्रोत-भाव से स्थित हैं। मैं आपके इस कथन को स्वीकार करती हूँ। पर प्रश्न यह उठता है कि अखंड-आकाश किसमें ओत-प्रोत-भाव से स्थित है?"

१—खण्डकाल = लिमिटेड टाइम

२—खण्डदेश = लिमिटेड स्पेस

३—अखण्ड आकाश = इन्फिनिट स्पेस

याज्ञवल्क्य ने कहा—"गार्गी! आकाश जिसमें क़ायम है, पंडित लोग एक अविनाशी अक्षर कहकर उसका वर्णन करते हैं। वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म है, न लम्बा है और न छोटा है। वह रङ्ग से भिन्न, चिकनाई से भिन्न, अप्रकाश से भिन्न, असंग रस से भिन्न, चक्षु, कान, वाणी, मन, प्रकाश, प्राण-वायु, मुख, प्रमाण, छिद्र आदि से रहित और अपरिच्छिन्न है। वह अक्षर किसी भी विषय का भोग नहीं करता; उस अक्षर को भी कोई आदमी भोग नहीं करता; इस प्रकार वह सारे विशेषणों से रहित अद्वितीय है।

"देवी! इस प्रसिद्ध अक्षर की आज्ञा से सूरज और चांद दास की तरह, नियमपूर्वक अपना-अपना काम करते हैं। इस प्रसिद्ध अक्षर की आज्ञा में ही स्वर्ग और पृथ्वी धारण हुए और क़ायम हैं। पूर्व को बहनेवाली गंगा आदि नदियाँ जो सफ़ेद हिमालय पहाड़ से बहती हैं, तथा पश्चिम को वहनेवाली नर्मदा आदि नदियाँ, और दूसरी भिन्न-भिन्न दिशाओं में वहनेवाली जितनी नदियाँ हैं वे सब भी उसीकी आज्ञा से प्रवृत्त हैं। हे गार्गी! इस प्रसिद्ध पुरुष की आज्ञा से लोग स्वर्ण आदि धन देनेवालों की प्रशंसा करते हैं। यह अक्षर-पुरुष सबको नियम और क्रम में रखनेवाला है। इसके सिवाय और किसीको स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त नहीं। यह अक्षर-पुरुष ही सब कर्मों का यथा-विधि फल देनेवाला है। इसकी शक्ति के बिना किसी भी क्रिया में फल प्राप्त करने की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

"हे गार्गी! जो उन्हें पहचाने बिना अनेक वर्षों तक तपस्या और यज्ञादि की क्रियाएँ करता रहता है उसकी वे क्रियाएं व्यर्थ-सी हैं। जो लोग इस अक्षर पुरुष को जाने बिना अन्तकाल में इस लोक का परित्याग करते हैं, वे बड़े दीन और दया के पात्र हैं। परन्तु जो लोग इस अक्षर-पुरुष को जानकर इस लोक से परलोक

में जाते हैं,—अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होते है वेही सच्चे ब्रह्मवेत्ता और मुक्त हैं;—वेही सच्चे ब्राह्मण हैं।

"गार्गी! यह अक्षर-पुरुष नेत्रों का विषय न होने से कोई इसे देख नहीं सकता; श्रवण का विषय न होने से सुन नहीं सकता। यही नित्य श्रोता के रूप में विराजमान है। मन का विषय न होने से कोई इसका मनन नहीं कर सकता और बुद्धि का विषय न होने से कोई इसे निश्चित रूप से नहीं जान सकता। इसके सिवा दूसरा कोई देखनेवाला, सुननेवाला, मनन करनेवाला या समझानेवाला नहीं। श्रवण, मनन, दर्शन इत्यादि क्रियाओं के मूल में अधिकारी कर्त्ता के रूप में यह हमेशा मौजूद है। तुमने जो आकाश की बात पूछी थी वह आकाश इस अविनाशी अक्षर-पुरुष में ही ओत-प्रोत भाव से क़ायम है।"

याज्ञवल्क्य के उत्तर से गार्गी बड़ी प्रसन्न हुई और बोली—"हे ऐश्वर्यवाले ब्राह्मणो! मेरी बात सुनो। तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम सब याज्ञवल्क्य को नमस्कार करके विदा हो जाओ। क्योंकि ये बड़े भारी ब्रह्म-ज्ञानी हैं। तुमसे ये हारेंगे, इसकी तो मन में कल्पना भी नहीं हो सकती। यह मैं पहले ही कह चुकी हूं कि अगर ये मेरे दो प्रश्नों का जवाब दे देंगे तो समझना कि तुममें से कोई भी इन्हें ब्रह्म-वाद में नहीं जीत सकता।

इस प्रकार कहकर गार्गी अपनी जगह पर बैठ गई।

गार्गी ने अपना सारा जीवन वेदाध्ययन और ब्रह्म-चर्चा तथा तत्कालीन भारत-संतानों को ज्ञान देने में ही बिताया था और इस खयाल से कि ब्याह कर गृहस्थी चलाने से अपने तत्त्व-चिन्तन में बाधा पड़ेगी, वह जीवन-भर कुमारी ही रही थी।

याज्ञवल्क्य-पत्नी

मैत्रेयी

गार्गी के चरित्र में जिन परमज्ञानी याज्ञवल्क्य मुनि का उल्लेख किया गया है, उनके मैत्रेयी और कात्यायनी नाम की दो स्त्रियां थीं। मैत्रेयी मित्र नामक ऋषि की कन्या थी और ब्रह्मवादिनी गार्गी की भानजी लगती थी। वैसे तो इसने पिता के पास ही ब्रह्म-विद्या का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था, पर मौसी के संग से इसमें और भी वृद्धि हो गई थी। इसके चित्त की गति अन्तर्मुखी थी, जिससे बाहर की प्रिय या अप्रिय वस्तु से इसके हृदय में सहज ही सुख या दुःख के भाव नहीं उठते थे। मुख पर छोटी उम्र में ही गम्भीरता छा गई थी। बाह्य आमोद-प्रमोद या गप-शप में इसकी ज़रा भी रुचि न थी; इसका अधिकांश समय ऊंचे विषयों के चिन्तन और आलोचना करने में ही बीतता था। पिता के घर अपने हिस्से का घर-गृहस्थी का काम यह ज़रूर करती, पर उसमें आसक्ति न थी। ऐसी विदुषी कन्या याज्ञवल्क्य जैसे महामुनि को वरकर उनकी योग्य सहधर्मिणी और प्रियतमा बन जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? यह नहीं, बल्कि सौत होने के बावजूद, कात्यायनी और मैत्रेयी में भी परस्पर क्लेश या द्वेष देखने में नहीं आया। मैत्रेयी कात्यायनी को घर के काम-काज में होशियार मानकर उससे इसका अनुभव प्राप्त करती और कात्यायनी मैत्रेयी के साथ ज्ञान-चर्चा करके हमेशा कुछ न कुछ नई बात सीखा करती थी।

इसी तरह अनेक वर्ष व्यतीत हो गये। पर प्राचीन काल में आर्य लोग मृत्युपर्यन्त गृहस्थाश्रम के पचड़ों में ही नहीं पड़े रहते थे; अतः जब गृहस्थाश्रम का समय बीत गया; तो याज्ञवल्क्य मुनि ने वानप्रस्थ होने का इरादा किया। अपनी दोनों पत्नियों पर यह विचार प्रकट करके मुनि कहने लगे—"मैंने पूरे समय तक तुम्हारे साथ गृहस्थाश्रम के सुख का उपभोग किया है; पर अब मैं घर-बार छोड़कर परिव्राजक होना चाहता हूं। अतः मेरी जो-कुछ सम्पत्ति है उसे अपने सामने ही मैं तुम दोनों में बराबर-बराबर बांट देना चाहता हूं जिससे पीछे से उसपर तुम दोनों में आपस में कोई झगड़ा या मनमुटाव पैदा न हो।" इसपर विदुषी मैत्रेयी ने उत्तर दिया कि वह ऐसा सुन्दर है कि उसके सामने आज-कल के सभ्य जगत् के दार्शनिकों को भी सिर झुकाना पड़ता है। मैत्रेयी ने कहा—"आपने इस सम्पत्ति के बँटवारे की बात कही, सो ठीक; पर यह तो बतलाइए कि उसे लेकर मैं करूँ क्या? यह तो मामूली धन है, पर अगर सारे पृथ्वी का राज्य भी मुझे मिले, तो भी उससे क्या लाभ? इससे क्या मुझे अमर-पद प्राप्त हो सकेगा?" उपनिषद् मैत्रेयी के इस प्रश्न से अमर हो गये हैं। याज्ञवल्क्य मुनि भी पत्नी के इस प्रश्न से बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"नहीं; अमरत्व तो इससे नहीं मिल सकेगा। इससे तो तू नाना प्रकार के पदार्थ संचय कर सकेगी और तुझे किसी तरह की असुविधा या तंगी नहीं होगी। धनवान् लोग धन से जैसा सुख और स्वतंत्रता का जीवन बिता सकते हैं, वैसा तू भी बिता सकेगी; परन्तु अमरत्व प्राप्त करने का जो तूने कहा, सो वह तो रुपये-पैसे या वैभव से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।" स्वामी का यह उचित उत्तर सुनकर मैत्रेयी बड़ी खिन्न हुई और कहने लगी—"नाथ! तब इस धन, सम्पत्ति और विषय-भोग को लेकर मैं क्या करूँ? जो मुझे अमरत्व नहीं दे सकता,

जिसके कारण मैं अमरत्व प्राप्त करने के योग्य न रहूँ, उस सारहीन धन को पल्ले में बाँधकर मैं क्या करूँ ? स्वामिन् जिस विषय में आपने ज्ञान प्राप्त किया है, जिस ब्रह्म-ज्ञान-रूपी अमूल्य धन को आपने अपनी सम्पत्ति बनाया है, आप तो मुझे उस ब्रह्म-विद्या का उपदेश देकर ही कृतार्थ कीजिए। आपके संग का लाभ तो अब मुझे नहीं मिल सकेगा, न आप के पास रहकर ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने का मौक़ा ही मिलेगा; क्योंकि जब आप वानप्रस्थाश्रम ही ग्रहण करना चाहते हैं, तो मैं उसमें बाधक नहीं होना चाहती, पर आप अपनी समस्त सम्पत्ति मेरी बड़ी बहिन कात्यायनी को ही दे दीजिए; और अमरत्व-प्राप्ति के उपाय-रूप जिस ब्रह्म-ज्ञान के आप अधिपति हैं, वह ब्रह्म-ज्ञान मुझे देकर मेरे मनुष्य-जन्म को सफल कीजिए।"

महर्षि ने जब देखा कि मैत्रेयी धन-सम्पत्ति की पर्वाह नहीं करती, प्रत्युत् उसका तिरस्कार करती है, रुपये-पैसे की ओर उसका चित्त ज़रा भी आकर्षित नहीं होता तो उन्हें अपार हर्ष हुआ। बड़ी प्रसन्नता के साथ यह बोले—"मैत्रेयी ! वैसे तो तू मुझे हमेशा से ही प्रिय थी, पर आज की तेरी इन बातों से तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है। अब तो तू मुझे बहुत ही प्रिय हो गई है। आ, मेरे पास बैठ; मैं तुझे अमरत्व की प्राप्ति का उपदेश देता हूँ।

"देख, स्त्री को पति इसलिए ही प्रिय नहीं होता कि उसके द्वारा कामवासना का उसका प्रयोजन सिद्ध होता है; बल्कि, सच तो यह है कि आत्मा के ही प्रयोजन के लिए पत्नी को पती प्रिय लगता है। इसी प्रकार पुत्र, कन्या, धन, रत्न आदि संसार के सारे पदार्थ भी आत्मा के प्रयोजन से ही लोगों को प्रिय लगते हैं। सब चीजें हमारा प्रेम सम्पादन करती हैं इसीसे हमें प्यारी लगती हैं; अन्यथा स्वतंत्र रीति से, उसी चीज के लिए; कोई भी वस्तु किसीको प्रिय

नहीं होती और न हो ही सकती है; क्योंकि मनुष्यों के प्रेम का कारण प्रधानतः आत्मा ही है; और सब पदार्थ तो गौण रूप से प्रेम की वस्तुएँ हैं। इस तत्त्व को तू बराबर याद रखना कि जगत् में आत्मा ही सबसे अधिक प्रेम का पदार्थ है; वही स्नेह और प्यार की सामग्री है। संसार में भिन्न-भिन्न विषयों के प्रति जो प्रेम, स्नेह, आसक्ति दिखाई देती है, वह सब इस महाप्रेम के ही अन्तर्गत है; और यह महाप्रेम और कुछ नहीं, सत्य का ही एक अंश है। संसार में जितने भी प्रेम हैं, वे सब इस परम प्रेम की प्राप्ति के लिए ही हैं। पितृ-भक्ति, पत्नी-प्रेम, सन्तान-स्नेह, बन्धु-प्रेम और धनादि के प्रति आसक्ति इत्यादि जितनी प्रेम-सामग्रियां दीखती हैं, उन सबका एकमात्र लक्ष्य इसी महाप्रेम को प्राप्त करना है। संसार के सभी प्रेम मर्यादित, विकारी और क्षुद्र हैं; परन्तु यह महाप्रेम अखण्ड, नित्य और विस्तृत है, ये सब छोटे-मोटे प्रेम इस महा-प्रेम के आंशिक कण हैं। अपने छोटे से शरीर से आरम्भ करके प्रेम को उत्तरोत्तर अधिकाधिक उच्च पदार्थ की ओर बढ़ाते जाना चाहिए। फिर आत्म-प्रेम को पुत्रादिकों के प्रेम में, कौटुम्बिक प्रेम का बाहरवालों के प्रेम में और बाहरवालों के प्रेम को अन्य जातियों तथा अन्य देशों के प्रेम में बढ़ाते हुए, इसी क्रम से, अन्त में इस प्रेम को समस्त मानव-समाज, मनुष्यमात्र तक पहुँचा देना चाहिए। इस प्रकार होने वाला प्रसार अन्त में विश्व-प्रेम का रूप धारण करेगा और उसका अन्तिम परिणाम होगा ब्रह्म-प्रेम। अतएव इन छोटे-मोटे प्रेमों की इस एक, अखण्ड और विशाल प्रेम-सागर से अलग कोई सत्ता नहीं; चिरस्थायी नित्य प्रेम तो अखण्ड ईश्वर-प्रेम ही है। दूसरे प्रेमों का जो प्रकाश और विकास है, वह भी इसी प्रेम के लिए है। अतः महाप्रेम के इस समुद्र अर्थात् परमात्मा का दर्शन करना चाहिए। आचार्यों और उपनिषदों के वाक्यों

द्वारा उसको बारम्बार श्रवण करना चाहिए। तदुपरान्त तर्क, युक्ति और मनोबल के द्वारा इस महातत्त्व को हृदय में धारण किया जाय। इस प्रकार सतत ध्यान और योग से ही सुनिश्चित आत्मा के हृदय में रह सकेगी और श्रवण, मनन तथा निदिध्यास कर-करते आत्मा की एकता और सत्यता साफ़-साफ़ मालूम होने लगेगी।

"जब आत्म-तत्त्व का पूरा ज्ञान हो जायगा; तो संसार की किसी भी वस्तु को जानने की इच्छा शेष न रहेगी; क्योंकि विश्व के सारे पदार्थों का आधार परमात्मा ही है। उसे छोड़ देने पर विश्व के किसी पदार्थ पर कोई सत्ता नहीं रहती। जो ब्राह्मण ब्राह्मण-जाति को आत्मा से अलग समझता है उसे ब्राह्मण-जाति यह समझकर अपने से अलग कर देती है कि यह मुझको अनात्म रूप से देखता है; जो क्षत्रिय क्षत्रिय-जाति को आत्मा से पृथक् समझता है उसे क्षत्रिय-जाति पृथक् कर देती है, जो स्वर्गादि लोकों को आत्मा से अलग समझता है उसे स्वर्गादि लोक अपन से पृथक् कर देते हैं; जो देवताओं को आत्मा से पृथक् समझता है उसे देवता लोग अपने से अलग कर देते हैं; जो भूतों को आत्मा से अलग समझता है उसे भूत अपने से पृथक् कर देते हैं। क्योंकि जो आत्मा अनुभव तथा श्रवण करने के योग्य है वह यही आत्मा, यही ब्राह्मणजाति, यही क्षत्रियजाति, यही लोक, यही देवता, यही भूत और यही सब है। उदाहरण के लिए अगर एक बड़ा नक्कारा बजावें तो मनुष्य उसकी आवाज को ग्रहण नहीं कर सकता; परन्तु नक्कारे की साधारण आवाज़ के ग्रहण से, अथवा उसके बजने से होनेवाली आवाज़ को परखने से, वह दुन्दुभी की खास-खास आवाज़ों को ग्रहण कर सकता है। शब्द-विशेष की ध्वनि असल में सामान्य शब्द से भिन्न नहीं, इसी प्रकार स्फुरण-रूप ब्रह्म-सामान्य से स्फुरित पदार्थ भी वास्तव में एक-दूसरे से भिन्न नहीं। जैसे

नमक की डली जल का ही विकार या रूपान्तर है। इस डली को पानी में डालें तो इसमें पिघल कर घुल जाती है। उस समय कोई भी नमक के उस टुकड़े को पानी से अलग नहीं निकाल सकता, फिर वह कितना ही होशियार क्यों न हो क्योंकि उस समय उसकी पृथकता नष्ट हो जाती है। हे मैत्रेयी! इसी तरह तू भी अपरिच्छिन्न, निर्विकार, और कार्य तथा कारण रहित विशुद्ध ज्ञानात्मा ही है।"

इस प्रकार ऐसी अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा याज्ञवल्क्य मुनि ने मैत्रेयी को ब्रह्म का साक्षात्कार करके अमरत्व प्राप्त करने का दुर्लभ मार्ग बता दिया। इसके बाद वे वन में चले गये और मैत्रेयी उनके दिये हुए तत्त्व-ज्ञान की चर्चा और नियमित साधना में शान्ति के साथ अपना जीवन व्यतीत करने लगी। इस प्रकार जिस अमरत्व की आशा से उसने सारे पार्थिव सुखों को धूल की तरह त्याग दिया था उसके प्राप्त हो जाने से मैत्रेयी का मनुष्य-जीवन सफल हो गया।

मैत्रेयी ने अपनी साधना के द्वारा वास्तविक अंतर्दृष्टि प्राप्त कर ली थी। आन्तरिक अभिलाषा जानकर अमरत्व के लिए ही उसने संसार की असार व अनित्य धन-सम्पत्ति बिल्कुल त्याग दी थी। वह तो जगत् में सार-रूप एक ही वस्तु यानी नित्य धन ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही इतनी उत्सुक थी। यहाँ तक कि उसके जीवन की सारी इच्छाएँ ही इस ब्रह्म-प्राप्ति के लिए थीं। आकुल हृदय से उसने प्रार्थना की है—

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतंगमय।
आविरा वीर्य एधि। रुद्र यत्ते दक्षिणमुखम्। तेन मां पाहि नित्यम्।

अर्थात्—हे भगवान्! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले जाओ। अन्धकार से प्रकाश में ले जाओ। मृत्यु से अमरत्व—

अमर्त्य-भाव—में ले जाओ। हे प्रकाशस्वरूप ! तुम मुझ में प्रकाशित हो। हे रुद्र ! तुम मुझे अपना प्रसन्न मुख दिखाओ और उस प्रसन्न मुख के द्वारा मेरी रक्षा करो।

ऐसी श्रेष्ठ और सुन्दर प्रार्थना और किसी स्त्री के मुख से नहीं निकली। यही नहीं, अपने पिता मित्रमुनि के विद्यालय में इन्होंने शिक्षक का कार्य भी किया था। इस प्रकार मैत्रेयी ने अपने अपूर्व ज्ञान को अपने तक ही परिमित न रखकर, औरों को भी उसने लाभ पहुँचाया है।

———

पति के रंग में रंगी हुई

सुशोभना

सुशोभना कंकण ऋषि की कन्या थी। वह अत्यन्त रूपवती, गुणवती, दयालु और पतिव्रता थी। महात्मा आकथ ऋषि के साथ उसका विवाह हुआ था, जो मंकन नामक ब्राह्मण के पुत्र थे।

पिता से अलग होकर आकथ मुनि इस साध्वी पत्नी के साथ बड़ी दरिद्रावस्था में रहते थे; यहाँ तक कि पाँच दिन तक उपवास करके छठे दिन खाना खाते, पर इस ग़रीबी में भी इस दम्पती ने धर्म-कर्म नहीं छोड़ा, न इनके सुस्वभाव में ही कोई परिवर्त्तन हुआ।

एक वार पाँच दिन के उपवास के वाद वे भोजन करने की तैयारी में थे, इतने में द्वार पर एक सन्यासी आकर खड़ा हो गया और बोला—"ब्राह्मण! मैं एक महीने से भूखा हूँ। मैं भोजन के लिए तेरे यहाँ आया हूँ। दान करने योग्य कुछ भोजन हो तब तो ठीक है, नहीं तो मैं और किसीके द्वार पर जाऊँ और भीख माँगकर अपनी भूख शान्त करूँ।"

आकथ मुनि ने कहा—"द्विजेन्द्र! पाँच दिन से तो मेरे घर में भोजन नहीं बना था, पर आज बना है; इसलिए आप सुखपूर्वक

पधारिए। हम आपके चरण धोकर यथाविधि आपका सत्कार करेंगे।"

योगी ने आकथ मुनि की इच्छानुसार उन्हींके यहाँ भोजन करने की इच्छा जाहिर की। आकथ मुनि ने उनके पैर धोये। पत्नी सुशोभना ने बड़े आल्हादपूर्वक जंगली साग, कंद, मूल, फल वग़ैरा पकाकर भोजन तैयार किया और एक केले के पत्ते पर वह सब सामग्री परोस दी। योगी ने बड़े आनन्द के साथ भोजन किया। सन्यासी को तृप्त देखकर आकथ मुनि और उनकी गृहिणी दोनों संतुष्ट हुए।

भोजन के वाद सन्यासी तो दूसरे गाँव को चला गया, आकथ मुनि और उनकी पत्नी दोनों उस दिन भूखे ही रहे और शेष दिन जप, तप आदि में उन्होंने बिता दिया। इसके वाद अधिक तप संचय करने के लिए इस साधु-शील ब्राह्मण ने कपोत-वृत्ति का अवलम्बन किया।

इसके वाद एक दिन एक वदसूरत किन्तु शास्त्रों का पारदर्शी ब्राह्मण साम-वेद का गायन करता हुआ इनके यहाँ आया। उसको देखकर आकथ मुनि ने अपनी भार्या से कहा—"प्रिये! ब्राह्मण अतिथि आज हमारे यहां आया है, इसे हमारे भोजन में से आधा दे-दे। शेष आधा तू अपने लिए रख छोड़; क्योंकि यदि आज तू उपवास करेगी तो अगले छः दिन तेरे लिए अत्यन्त कष्टदायक होंगे। शायद तेरा शरीर भी न रहे। तू अत्यन्त कोमल है और ऐसे लम्बे उपवास करने के लिए असमर्थ है।"

सुशोभना ने कहा—"नाथ, विधि ने ललाट में जो आयुमर्यादा लिखदी है, वह न तो आहार से बढ़ती है और न उपवास से घटती है। यदि हम इस ब्राह्मण अतिथि को यह सारा अन्न देदें तो भी मेरे शरीर को जरा भी कष्ट नहीं होगा, बल्कि मेरी आत्मा को

संताप ही होगा। तब फिर देव, आप भूखे रहें और मैं भोजन कर लूँ, यह कैसे हो सकता है? क्या आपसे पहिले भोजन करना मेरे लिए उचित है? आप भी तो आज तेरह दिन से निराहार हैं; तब मुझको ही ऐसी उल्टी सलाह क्यों दे रहे हैं? इसके अलावा अन्न प्रत्यक्ष प्राणस्वरूप है, इसके दान से महा-पुण्य का संचय होता है। इस क्षण-भंगुर शरीर को प्राप्त करके जो अन्न-दान नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है। धर्म ही तो परलोक में सहायक होता है। पिता, माता, स्त्री, पुत्र, मित्र तथा यौवन आदि सब इस संसार में कल्याण-साधना के लिए उपयोगी भले ही हों, पर वे परलोक में किसीके काम नहीं आते। वहां तो धर्म ही काम देता है। अतः धर्माचरण करते-करते प्राण भी निकल जाएँ तो वह मृत्यु कुशल-मृत्यु है। इसलिए, हे नाथ! अतिथि को आधा भूखा रखने से हमें क्या लाभ होगा?"

सुशोभना के पति ने अपनी भार्या से ऐसी उदात्त वाणी सुन-कर सारा भोजन अतिथि देव को अर्पण कर दिया और उसका यथा-विधि आदर-सत्कार किया।

आदर, सत्कार, पूजा और आतिथ्य से संतुष्ट होकर बदसूरत ब्राह्मण अपने असली स्वरूप में आ गया। शिव का रूप धारण करके उसने कहा—'आज मैं तुम लोगों को वरदान देने यहाँ आया हूँ। दोनों अपनी इच्छानुसार वर मांग लो।' तब इस दम्पती ने अत्यन्त प्रसन्न होकर, भगवान् शंकर के चरणों में दंडवत करके कहा, "भगवन्! हमें हमेशा आपके चरणों का सान्निध्य प्राप्त हो और अंतःकरण में भक्ति बनी रहे।" भगवान् शंकर ने 'तथास्तु' कहा और शिवलोक को चले गये।

चयवन ऋषि की पत्नी

सुकन्या

सुकन्या वैवस्वत् मनु के पुत्र शर्याति राजा की कन्या थी। शर्याति राजा के अनेक रानियां थीं, पर संतति के नाम पर केवल सुकन्या ही थी। इसलिये रानियों को यह बड़ी प्रिय थी। थी भी यह अत्यन्त सुन्दर और चारुहासिनी।

शर्याति राजा की राजधानी से कुछ ही फासले पर एक विशाल रमणीय तालाब था। उसके चारों ओर घाट तथा सीढ़ियां बनी हुई थीं। जल स्फटिक के समान निर्मल, मधुर और ठंडा था। हंस, चक्रवाक, चातक और सारस आदि पक्षी बारहों महीने वहां कलरव किया करते थे।

एक दिन राजा अपनी रानियों तथा राजकुमारी को लेकर सृष्टि-सौंदर्य देखने के लिए इस वन में आया। इधर इस वन को एकान्त स्थान, समझकर भृगु ऋषि के पुत्र महात्मा च्यवन यहां तपस्या कर रहे थे। सांसारिक पदार्थों पर से उनकी दृष्टि एकदम उठ गई थी। अंतर्मुखी दृष्टि कर, मौन धारण किये, प्राण-वायु को जीतकर, इन्द्रियों का निग्रह करके तथा जल-पान आदि छोड़कर यह एकाग्र चित्त से जगन्नियन्ता का ध्यान कर रहे थे। बहुत काल तक एक स्थान और एक ही आसन पर बैठने के कारण उनपर लताएँ फैल गई थीं और चींटियों ने उन पर अपनी बाम्बी (वल्मीक) भी बना

ली थी। इस प्रकार चारों तरफसे ढककर च्यवन ऋषि मानो मिट्टी के पिण्ड ही बन गये।

शर्याति राजा की कन्या सुकन्या अपनी सखियों के साथ खेलती-खेलती वहाँ पहुँची और फूल चुनती-चुनती च्यवन-ऋषि जिसमें बैठे थे, उस वल्मीक के सामने आकर खड़ी हो गई। वहाँ उसकी नजर अन्दर से चमकनेवाली ऋषि की दोनों आँखों पर पड़ी। यह क्या है, इस बालोचित जिज्ञासा-वृत्ति से सुकन्या उस चमकते हुए पदार्थ को निकालने का प्रयत्न करने लगी। इस परम स्वरूपवती कन्या को अपने सामने खड़ी होकर इस पागल चेष्टा में व्यस्त देख कर च्यवन ऋषि अंदर से बोले—"अरे! यह क्या कर रही है? ओ विशाल नेत्र वाली, हे सुन्दर मुख वाली, ओ कृशोदरी! इस पागल चेष्टा को छोड़ दे, भाग यहाँ से, यह तो मैं तपस्वी हूँ। मेरी आँखों में काँटा न चुभो।" ऋषि इस तरह बोल रहे थे किन्तु खेलती हुई बालिकाओं की किलकिलाहट में सुकन्या का ध्यान उधर नहीं गया। उस तेजस्वी पदार्थ को अपने हाथों में लेने की इच्छा से उसने ऋषि की आँखों में काँटा चुभा ही दिया। उसी क्षण ऋषि नेत्रहीन हो गये। आँखों से खून की धार बहने लग गई। असह्य वेदना से उनके प्राण व्याकुल हो गये। सुकन्या के इस कृत्य से उन्हें बड़ा गुस्सा आया। उनके इस क्रोध की खबर बात-की बात में राजा तक पहुँच गई। पर क्रोध का कारण कोई न बता सका। उन्होंने अपने सैनिकों से पूछा कि "तुममें से किसने इन महान् तेजस्वी ऋषि का अपमान किया है। बिना किसी गम्भीर अपराध के च्यवन जैसे सात्विक ऋषि क्रुद्ध नहीं होते।" राजा के इस प्रश्न के उत्तर में सैनिकों ने कहा कि 'देव, हममें से किसीने भी मन, वचन अथवा कर्म द्वारा ऋषि का अपराध नहीं किया है। इतने में निर्दोष बालिका सुकन्या वहाँ आ पहुँची और अपनी

असफल क्रीड़ा का हाल पिता को सुनाने लगी। पूछा कि "वे शब्द किसके होंगे बाबा?" मैं तो उन्हें सुनते ही वहाँ से ऐसी भागी कि बीच में दम भी नहीं लिया। राजा समझ गये कि उनकी लड़की के हाथों ही यह महान् अपराध हुआ है। तुरन्त वे उठकर मुनि के स्थान पर गये। वल्मीक से मुनिवर को बाहर निकालकर उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए बोले—"मुनिवर, मेरी पुत्री ने बालचेष्टा में अज्ञानवश यह महान् अपराध कर डाला है। उसकी उम्र पर ख़याल करके आपको उसे क्षमा कर देना चाहिए। क्षमा ही तो तपस्वियों का भूषण है। कोई चाहे कितना ही अपराध करे किन्तु मुनि-जन कभी क्रोध नहीं करते।" राजा की यह दीन प्रार्थना सुनकर मुनिवर बोले—"हे राजन्, तुम्हारा कहना ठीक है, मैं भी कभी क्रोध नहीं करता। तुम्हारी पुत्री ने मुझे असह्य पीड़ा पहुँचाई, किन्तु मैंने अपने मुँह से शाप का अक्षर भी नहीं निकाला। परन्तु निरपराध होने पर भी उसने मुझे जो दुःख पहुँचाया है उसे देखकर आपको मुझपर दया जरूर आनी चाहिये। संसार में आँख के बिना सब अन्धकार है। अब मेरी वृद्धावस्था कैसे व्यतीत होगी? मुझ अन्धे की सेवा भी कौन करेगा? और मुझसे परमात्मा का भजन भी कैसे निर्विघ्नतापूर्वक होगा?"

राजा ने कहा 'हे मुनिवर, मेरे सहस्रों सेवक हैं। वे मेरी आज्ञा से निरन्तर आपकी सेवा करेंगे। इसलिए आप क्षमा कीजिए। तपस्वियों का क्रोध बहुत देर तक नहीं टिकता।

च्यवन ने राजा तथा उसकी पुत्री को सज़ा देने के उद्देश्य से कहा—'राजन्, अन्धे मनुष्य की सेवा भी एक तपस्या है। तुम्हारे वेतन-भोगी सेवकों का क्या विश्वास? वे कितने दिन तक सच्चे दिल से मेरी सेवा करेंगे? पंगु मनुष्य की सेवा तो सच्चे दिल से वही कर सकता है, जिसके दिल में उसके लिए दर्द हो, जो निजी

सम्बन्धी हो। अतः यदि तुम्हें सचमुच पश्चात्ताप हो रहा हो और शुद्ध-हृदय से क्षमा चाहते हो तो मेरी बात मानो और मेरी सेवा के लिए तुम अपनी कन्या मुझे दे दो, उसे प्राप्त करके मैं प्रसन्न हो जाऊंगा। अपने किये का पश्चात्ताप और वैवाहिक बंधन के कारण वही मेरी सच्ची सेवा कर सकती है। मैं भी तब अपनी तपस्या निर्विघ्न रूप से कर सकूंगा। यह ख़याल न करें कि इस सम्बन्ध से तुम्हारे कुल को हीनता प्राप्त हो जायगी। मैं सदभिजात ब्राह्मण हूं। ब्राह्मण को क्षत्रिय कन्या अंगीकार करने का अधिकार भी है। इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मौजूद हैं।

राजा तो मुनि की यह अनपेक्षित तथा अनहोनी आज्ञा सुनकर गहरे विचार-सागर में डूब गया। उनके मुंह से न तो 'हां' निकली और न 'ना'। साक्षात् रति और लक्ष्मी के समान अनुपम लावण्य-शालिनी इकलौती बेटी को एक वृद्ध और अंधे पुरुष को पिता कैसे दे दे! "यौवन प्राप्त करने पर मेरी कन्या को इस वृद्ध पति से कैसे संतोष होगा। ऐसी अवस्था में वह अपने पातिव्रत धर्म की रक्षा कैसे कर सकेगी।"

"पूर्वकाल में रूप-यौवन-सम्पन्ना अहल्या ने गौतम नामक तपस्वी को वरा था और वह इन्द्र के जाल में फँस गई थी। पति ने अधर्म की आशंका से उसे शाप दे दिया था। इसलिए मैं तो जान-बूझकर अपनी सुकन्या को इस दुःख-सागर में नहीं ढकेल सकता, मुनि को जो करना हो भले ही करें।"

यह सोचकर राजा अपने महल चला गया, वहां मंत्रियों को बुलाकर उनकी भी इस जटिल समस्या पर राय ली। मंत्रीगण बोले, "आंखें खोलकर तो कहीं कूए में नहीं कूदा जा सकता। ऐसे वृद्ध और अन्धे ब्राह्मण को यह फूल की-सी कोमल और रूपवती कन्या हम कैसे दे सकते हैं?" इतने में सुकन्या भी आ

पहुँची और राजा तथा मंत्रियों की चिन्ता और उनके आखिरी निर्णय सुनकर बोली "पिताजी, आप जरा भी चिन्ता न कीजिए। बेशक मुझसे अज्ञानवश मुनि का महान् अपराध हो गया है। मैं जानती हूँ कि यदि इस मौक़े पर हम उन्हें संतुष्ट नहीं कर लेंगे, तो क्या पता वे शाप देकर आप पर या राज्य पर महान् संकट ढहा दें। यदि ऐसी अवस्था में कोई विदेशी राज चढ़ आवे तो हमारा देश पराधीन हुए बिना न रहेगा। अतः देश को पराधीनता की दुःख-परम्परा में पड़ने से बचाने के लिए कोई त्याग हमारे लिए महान् नहीं हो सकता। यदि मुनि मुझसे संतुष्ट हो सकते हैं तो मैं उन्हें अपना शरीर अर्पण करने के लिए तैयार हूं। एक तरह से मैं उनकी अपराधिनी हूँ। इसलिए मुझे ही इसका प्रायश्चित्त भी करना चाहिये। आप सुखपूर्वक मुझे उनसे ब्याह दें।" सुकन्या का यह वचन सुनकर राजा प्रसन्न होकर बोले "पुत्री तू तो अभी निरी बालिका है, सुकुमारी है। वनमें रहकर वृद्ध, अंधे और महाक्रोधी मुनि की सेवा तुझसे कैसे होगी ? मैं तेरे जैसा सुकुमार फूल एक अन्धे को कैसे सौंप दूं ? यदि मैं ऐसा कर भी डालूँ तो संसार मुझे क्या कहेगा ? शास्त्रों में लिखा है कि जब लड़की सयानी हो जाय तब पिता उसे सद्गुणसंपन्न और विशाल परिवारवाले युवक से ब्याह दे। कहाँ तेरा यह दिव्य सौंदर्य्य और कहां उस मुनि का तपोदग्ध जीर्ण शरीर ! कहाँ तो यह राजवैभव और कहां वह जंगली जीवन ! नहीं, मेरा दिल पत्थर का नहीं है। यह काम मुझसे नहीं होगा। भले ही ऋषि अपने शाप से मुझे खड़ा जला दें; मेरे राज्य को बरबाद कर दें; इस सुजल, सुफल प्रदेश को रेगिस्तान कर दें। परन्तु मैं उस अन्धे मुनि को अपनी कन्या नहीं अर्पण कर सकता।"

पिता के ये वचन सुनकर सुकन्या ने कहा—"पिताजी, आप

ऐसे विचार मन में भी न लाइए। आप निश्चिन्त होकर मुझे च्यवनऋषि को अर्पित कर दें। मैं चाहती हूं कि मेरे कारण किसी-को कोई कष्ट न हो। मैं संतोषपूर्वक निर्जन वन में रहकर उस परम पवित्र वृद्ध-तपस्वी पति की अनन्य भाव से सेवा करूंगी। मैं सती-धर्म का पूर्ण पालन करूंगी। स्मरण रहे कि आप केवल पिता ही नहीं हैं, आप एक देश के राजा भी हैं। एक अबोध बालिका के लिए यदि आप प्रजा को महान् संकट में डाल देंगे तो प्रजा-पालन की दृष्टि से वह घोर पाप होगा। आप मेरी ज़रा भी चिन्ता न कीजिए। मैं भोगविलास की पुजारिन नहीं हूं। जिन ऋषि के सामने बड़े-बड़े सम्राट अपने मस्तक झुकाते हैं उनकी धर्म-पत्नी बनना तो परम सौभाग्य की बात है। मेरा चित्त स्वस्थ है। महर्षि च्यवन म मेरी भक्ति भी है।"

सुकन्या के इस कथन से समस्त सभाजन चकित हो गये। वे मुक्त-कण्ठ से सुकन्या की तारीफ़ करने लगे। राजा के भी दिल को तसल्ली हो गई। वह च्यवनऋषि के पास गया और प्रणाम करके बोला—"मुनिवर जिस कन्या ने अपनी बाल-चेष्टाओं के कारण आपको इतना कष्ट पहुंचाया; वह आपकी सेवा करने के लिए तैयार है। इसलिए आप हर्षपूर्वक इसका प्रतिग्रह कीजिए।"

इसके बाद राजा ने च्यवन ऋषि को अपने महल पर बुलाकर विधिपूर्वक उनसे उसे व्याह दिया। राजा ने और भी विपुल वस्त्राभू-षण देना चाहा पर ऋषि ने तो अपनी सेवा के लिए केवल सुकन्या को ही स्वीकार किया। वह आशीर्वाद देकर चल दिये।

पति सहित ससुराल जाते समय सुकन्या ने कहा—"पिताजी, मेरे इन वस्त्राभूषणों को भी वापस लेते जाइए। इनके बदले मेरे पह-नने के लिए मुझे उत्तम वल्कल और मृग-चर्म दीजिए। तपस्विनी का वेश धारण करके मैं अपने पतिदेव की ऐसी तन-मन से सेवा

करूँगी जो एक मुनि की स्त्री को शोभा दे और जिससे पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल—तीनों लोकों में आपकी कीर्ति अमर हो जाय। मैं परलोक को ध्यान में रखकर ही पतिसेवा करूँगी। आप स्वप्न में भी यह संदेह न कीजिएगा कि मैं युवती और रूपवती हूं, इसलिए कहीं सन्मार्ग से भटक जाऊंगी। जिस प्रकार भगवती अरुंधती वशिष्ट मुनि की आदर्श पत्नी हैं उसी प्रकार मैं भी च्यवनमुनि की आदर्श पत्नी होना चाहती हूं। जिस प्रकार अत्रिऋषि की पत्नी भगवती अनसूया अपने पातिव्रत के कारण अमर हो गई हैं उसी प्रकार अपने विशुद्ध निर्मल पातिव्रत द्वारा ख्याति प्राप्त करके मैं भी आपकी कीर्ति को बढ़ाऊंगी।"

यह कहकर सुकन्या ने राजोचित वस्त्रों का त्याग करके तपस्विनी का वेश धारण कर लिया। उस समय उसके रूप को देख कर राजा और उसकी रानियों की आँखों से अश्रु की धाराएँ बह निकलीं। अन्त में राजा सुकन्या को उनके साथ अरण्य में छोड़कर मंत्रियों तथा रानियों सहित अपने नगर को लौट आया।

शर्याति के चले जाने पर सुकन्या पति-सेवा में तन-मन से लग गई। अग्निहोत्र-सम्बन्धी सभी काम-काज उसने सम्भाल लिये। स्वयं वन में जाकर अनेक प्रकार के मधुर फल वह लाती और बड़े प्रेम के साथ पति को खिलाती। उनको गरम पानी से स्नान कराकर तथा मृगचर्म ओढ़ाकर उत्तम आसन पर बैठाती और उनके पास तिल, यव, दर्भ आदि यज्ञ की सामग्री रखकर उनसे नित्य यज्ञ-कर्म करने की प्रार्थना करती। नित्य-कर्म समाप्त होने पर स्वामी का हाथ पकड़कर उन्हें आसन से उठाती उन्हें मीठे-मीठे फल खिलाकर संतुष्ट करती और उनकी आज्ञा पाकर खुद कुछ खा लेती। भोजन कर लेने पर पुनः पति के पास आकर उनके पैर दबाती। इस तरह दिन भर पति की सेवा करने ही में सुकन्या

अपना समय बिता देती। रात को पति की चरण-सेवा करते-करते उनसे धर्म का उपदेश भी ग्रहण करती। एक राजकन्या होते हुए भी सुकन्या ने अपने अंधे और वृद्ध पति की जिस भक्तिभावपूर्वक सेवा की, उसे देखकर उसे एक उत्तम स्त्री-रत्न कहे बिना कोई नहीं रह सकता।

इस तरह पति-सेवा अग्नि-होत्र अतिथि-सत्कार आदि शुभ कर्म करते-करते सुकन्या के जीवन के कितने ही वर्ष सुखपूर्वक बीत गये। इसके बाद एक दिन सूर्य-पुत्र वैद्यराज अश्विनीकुमार उस वन में कहीं जा निकले। उस समय सुकन्या सरोवर में स्नान करके घर लौट रही थी। देवकन्या के समान रूपवती सुकन्या को देखकर अश्विनीकुमार मोहित हो गये और धर्माधर्म को भूलकर सुकन्या के पास जाकर एक गहरी लालसा-भरी दृष्टि से उसे देखते हुए बोले "हे सुंदरी! सुंदर हास्य करने वाली रमणी, अरी जरा ठहर तो सही। हम देवकुमार हैं। भला, कह तो, तू किसकी पुत्री है? और वह भाग्यशाली पुरुष कौन-सा है, जिसकी तू पत्नी है? यहां स्नान करने के लिए अकेली क्यों चली आई? तेरी कान्ति तो अनुपम है, तेरा लावण्य स्वयं लक्ष्मी के समान है। पर तेरा वेश इतना सादा क्यों है? ऐसे बीहड़ जंगल में तू नंगे पैर कैसे जा रही है। तू तो स्वर्गलोक में रहने के योग्य है। इस तुच्छ मृत्यु-लोक में तू क्यों रहती है?" इत्यादि अनेक प्रश्न उन देवकुमारों ने सुकन्या से पूछे। परन्तु सुकन्या तो पुष्प के समान कोमल कान्तिशीला और निर्दोष थी। पाप-विचार तो उसे कभी छू भी नहीं गया था। अश्विनी-कुमारों के प्रश्नों का रहस्य उसके ख़याल में नहीं आया। उसने उनके सारे प्रश्नों का सरलतापूर्वक उत्तर दे दिया। अपना परिचय देते हुए उसने कहा कि मेरे पति अंधे और वृद्ध हैं। मैं रात-दिन उनकी सेवा करती रहती हूँ। आप कौन हैं? यहां किस कारण पधारे हैं? हमारा

आश्रम यहां से निकट ही है। वहां चलकर उसे पवित्र कीजिए।"

सुकन्या के इस निमन्त्रण के उत्तर में कामान्ध अश्विनीकुमारों ने कहा—"हे सुन्दरी, तेरे पिता ने तुझे तपस्वी से क्यों ब्याहा? अरे, हमने तो तेरे समान रूपवती स्त्री को देवलोक में भी नहीं देखा। यह अन्धा और वृद्ध पति तेरे योग्य नहीं है। तेरा अमूल्य जीवन व्यर्थ गया। अब तो आँखें खोल और हम दो में से किसीको पसंद कर अपने यौवन को सफल कर ले। ओ सुकेशी, अरी मृगनयनी! इस बूढ़े के साथ इस निर्जन वन में क्रीड़ा करने में तुझे क्या आनंद मिलता है? हे राजपुत्री, इस जवानी में इस अंधे की सेवा के दुःख को तू कैसे बरदाश्त कर रही है, हमारी समझ में नहीं आता। चन्द्रवदनि! तू तो अत्यन्त कोमल है। वन में से फल तोड़कर लाना तथा सरोवर से जल भर के लाना ये दोनों काम तेरे योग्य नहीं।"

अश्विनीकुमारों के ये वचन सुनकर सुकन्या काँप गई। उसने सोचा ऐसे होते हैं देवता! फिर मामूली मनुष्यों और देवताओं में क्या अन्तर रहा। उनके देवतापन की याद दिलाते हुए उसने कहा—"महाराज आप देव हैं। पदार्थमात्र का पोषण करने वाले महाप्रतापी भगवान् सूर्यनारायण के पुत्र कहलाते हैं। मुझ-जैसी धर्मशीला, पतिपरायणा के लिए आपके मुंह से ऐसे शब्द शोभा नहीं देते। मेरे पिता ने मुझे विधिपूर्वक योगी च्यवन से ब्याह दिया है। व्यभिचार करना अधम मनुष्यों का काम है। मुझसे वह न होगा। काम-वश हो इस निर्जन वन को एकांत समझकर और मुझे अकेली देखकर इस पाप-वासना को प्रकट करने में आपको न लज्जा आई न किसीका भय रहा। पर आप कैसे भूल रहे हैं कि स्वयं ही आपके वे पिता आपके इस दुष्चरित्र को ऊपर से देख रहे हैं? पता नहीं आप देवताओं को किस नीति का पाठ पढ़ाया जाता है जिससे आपको ऐसे-ऐसे बुरे काम करते हुए ज़रा भी लज्जा नहीं

आली। बल्कि ऐसे नीच कामों में अपनी दैवी शक्तियों का भी दुरुपयोग करते हैं। क्या यही आपका देवत्व है? अब यदि कुशल चाहते हों तो यहां से सीधी तरह रवाना हो जाइये। नहीं तो कहीं मेरे मुंह से शाप न निकल जाय! और यह तो आप जानते ही हैं कि पतिव्रता स्त्री का शाप कैसा भयंकर होता है।"

सुकन्या के ये शब्द सुनकर दोनों अश्विनीकुमार बड़े ही लज्जित हुए। उन्हें निश्चय हो गया कि यहां मामला टेढ़ा है। यहां हमारी गुजर नहीं हो सकती। यह तो सच्ची सती है। अगर कहीं अधिक मूर्खता करेंगे तो यह देवी हमें शाप से खड़े-खड़े भस्म कर देगी। अतः झट भले आदमी बनकर बोले—"हे राजकुमारी, तुझे धन्य है, हम तेरे धर्म को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो गये हैं। इसलिए कोई वर माँग ले। हम देवताओं के वैद्य हैं। हम तेरे वृद्ध पति को अपने ही समान रूपवान और युवा बना देंगे। फिर हम तीनों में से जिसे तू चाहे वर लेना।" यह सुनकर सुकन्या अपने आश्रम को लौट गई और सारा हाल ऋषि से कह सुनाया और पूछा कि—"बताइये ऐसे समय मुझे क्या करना चाहिये। इन देवताओं के प्रपंचों को मैं नहीं समझ पाती। आप वृद्ध और अनुभवी हैं। इसलिए जो आज्ञा हो सो कहिए।" तब च्यवन ऋषि ने कहा—"हे पतिव्रता सुकन्या! मैं तुझे आज्ञा करता हूं कि तू वहां जाकर अश्विनीकुमारों को बुलाकर यहीं ले आ। फ़िलहाल उनकी शर्त को मान ले। आगे परमात्मा तेरे धर्म की जरूर रक्षा करेंगे और अच्छा मार्ग दिखा देंगे। जा, जरा भी चिन्ता मत कर।"

महर्षि च्यवन की आज्ञा पाते ही सुकन्या फौरन अश्विनीकुमारों के पास पहुंची और बोली "अच्छा, आपकी बात मंजूर है, चलिए मेरे पति को पहले युवा और दृष्टिवान बनाइए" यह सुनकर अश्विनीकुमार च्यवन ऋषि के पास गये। एक अनुभव-सिद्ध औषधि

खिलाकर ऋषि-सहित एक सरोवर में गोता लगाया। जब वे जल से बाहर निकले तो अश्विनीकुमारों के समान ही सुन्दर और युवा हो गये। अब तीनों ने मिलकर सुकन्या से कहा—'हे सुन्दरी, हम तीनों में से जिसे सबसे अधिक सुन्दर समझती हो अथवा जिसपर तेरा सबसे अधिक प्रेम हो, उसे अपना पति बना ले।' बेचारी सुकन्या तो बड़े चक्कर में पड़ गई। ये तो तीनों एक से रूप, सौन्दर्यशाली युवक हैं। इनमें से मेरे पतिदेव कौन से होंगे? मैं तो सिवा च्यवन के और किसीको नहीं वरूंगी फिर वह चाहे कितना ही बड़ा देवता क्यों न हो।' यह सोचकर और उन्हें पहचानने की और कोई सूरत न देखकर उसने भगवती जगदम्बा की प्रार्थना की—'हे माता, मुझे मेरे पति की पहचान बताओ। मैं तो चक्कर में पड़ गई हूँ, बताओ मेरे पति कौन से हैं? देवता बड़े कपटी हैं। मेरे पातिव्रत धर्म का खयाल करके हे माता मुझे मेरे पतिदेव को सौंप दो।'

सुकन्या की वह प्रार्थना सुनकर भगवती ने उसके हृदय में सत्यज्ञान की प्रेरणा कर दी। झट उसने अपने पति को पहचान लिया। "यही महापुरुष मेरे पतिदेव हैं, मैं इन्हींकी हूं और जब तक इस शरीर में प्राण हैं तब तक इन्हींकी सेवा करूंगी। इनको छोड़कर सारे पुरुष मेरे लिए पिता और भाई के समान हैं", यह कहकर उसने च्यवन ऋषि को वर लिया। उसकी अलौकिक पति-भक्ति देखकर अश्विनीकुमार दंग रह गये। प्रसन्न होकर उन्होंने उसे वर दे दिया और वहां से चल दिये।

एक दिन राजा शर्याति रानी के आग्रह करने पर उस जंगल में यह देखने के लिये आए कि च्यवन को वर लेने पर सुकन्या अपना जीवन किस तरह बिता रही है। उसने आश्रम में जाकर देखा तो सुकन्या एक रूपसौंदर्यशाली युवक के साथ घुल-घुलकर वार्तालाप कर रही है। राजा को च्यवन की कायापलट का पता नहीं

था। झट उसे संदेह हुआ कि यह कुपरिणाम मेरी ही ग़लती का है। मैंने इसको एक अंधे और बूढ़े ब्राह्मण से व्याह दिया और उसका नतीजा यह है कि इसने यह कुकर्म करके मेरे कुल को कलंकित कर दिया। क्रोध तो इस समय इतना चढ़ रहा है कि यहीं इसका सिर उड़ा दूं, पर यह पाप है। ऐसा करने से स्त्री-हत्या और पुत्री-हत्या दोनों पाप मुझे लगेंगे। राजा यों सोचता हुआ खड़ा था कि सुकन्या की दृष्टि अपने पिता पर पड़ी। मारे हर्ष के वह दौड़ी और पिताजी के चरणों में प्रणाम करके बोली—"पिताजी, आप किस चिन्ता में इस तरह मग्न हैं? चलिए, आश्रम के भीतर चलकर ऋषिवर के दर्शन कीजिए।"

सुकन्या के ये शब्द सुनकर तो शर्याति के सारे शरीर में आग लग गई। वह बोला "अरी चांडालिनी! मैंने जिस वृद्ध ऋषि से तेरा विवाह किया था, वह कहां गया? यह मदोन्मत्त वेहया युवक कौन है, जिससे तू पापिणी की तरह घुल-मिलकर बातें कर रही है? तेरी बातों से तो मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि तू अपने वृद्ध पति को छोड़कर नवीन पति कर लेगी।"

पिता के मुँह से ये शब्द सुनकर सुकन्या हँसकर बोली, "पिताजी आपके मुँह से ये शब्द शोभा नहीं देते। मुझे पूरा-पूरा ख्याल है कि मैं कैसे उज्ज्वल कुल में पैदा हुई हूँ। एक कुलीना आर्यबाला तो अपने हृदय में व्यभिचार के विचार को भी बरदाश्त नहीं कर सकती। मैंने तो पतिदेव महर्षि च्यवन की सेवा में ही अपने जीवन को सार्थक समझा है। इस आश्रम में आप जिस नर-रत्न को देख रहे हैं, वे आपके जामाता महर्षि च्यवन ही हैं।

"मेरी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने अपने अपूर्व आयुर्वेद ज्ञान की सहायता से ऋषि को नव-यौवन प्रदान किया है। आप निश्चय समझिएगा कि मैंने कभी पाप-कर्म नहीं किया है।

यदि आपको मुझपर विश्वास न होता हो तो भीतर चलकर ऋषि से पूछ लीजिएगा।" जब भीतर जाने पर महर्षि च्यवन के मुख से सुकन्या के पातिव्रत की सारी कहानी सुनी तब राजा को विश्वास हुआ और तब उसने भी सुकन्या को उसकी पतिभक्ति पर धन्यवाद दिया।

इसके बाद शर्याति ने एक महायज्ञ कराया। सुकन्या और च्यवन ने इस यज्ञ में विशेष भाग लिया। यज्ञ-समारंभ में अश्विनी-कुमारों को सोमपान का अधिकार नहीं था। अपने ऊपर किये हुए उपकारों के बदले में यह अधिकार उन्हें महर्षि च्यवन ने इस यज्ञ से दिलवाया।

महान् पति-भक्ता

शाण्डिली

यह तपस्विनी विदुषी शाण्डिल्य ऋषि की पुत्री थी। पिता से इन्होंने धर्म-शास्त्र और योगविद्या आदि का ज्ञान प्राप्त किया था। विवाह होकर सुसराल जाने के बाद, विद्वान् पति के सहवास में, इनके सद्गुण और भी खिले थे। घर-गृहस्थी के कामों में इन्होंने बड़ी होशियारी दिखाई थी और पति-भक्ति की वजह से ही किसी भी तरह की तपस्या किये वग़ैर ही इन्होंने स्वर्ग-लोक प्राप्त किया था।

सुमना नामक एक देवबाला को जब यह मालूम पड़ा कि शाण्डिली ने किसी तरह का ख़ास व्रत-अनुष्ठान या तप किये वग़ैर ही दुर्लभ स्वर्ग-लोक को प्राप्त कर लिया है, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। तब वह शाण्डिली के पास गई और पूछने लगी— "देवी! किन सुकर्मों के फल से तुमने इस देवलोक को प्राप्त किया है?" इसपर शाण्डिली ने कहा—"देवी! सिर मुड़ाकर, जटा बढ़ाकर, भगवे कपड़े पहनकर या किसी प्रकार की तपस्या करके मैंने इस लोक को प्राप्त नहीं किया है। मैं तो केवल पति-सेवा के प्रताप से ही यहां आ पहुंची हूं। जो स्त्री मन, वचन, कर्म से अपने पति की सेवा करती है, वह दूसरी कोई भी तपस्या किये

बग़ैर भी स्वर्ग में स्थान पाती है। भू-लोक में मैंने अपने पति की किस प्रकार सेवा की, यह जानना हो तो सुनो।

मैंने आज तक अपने मुँह से एक भी ऐसी बात नहीं निकाली कि जिससे मेरे पति को बुरा लगे या उनकी बदनामी हो।

एक बार मेरे पति परदेश गये थे। उस समय मैंने तमाम सुख-वैभव, खेल-कूद आदि को छोड़कर अपना सारा समय एकाग्रचित्त और पवित्र हृदय से उनकी कुशलता के लिए परमात्मा की प्रार्थना करने में ही विताया था। जबतक वह परदेश में रहे तवतक मैंने न तो कभी चोटी गुंथाई, न कभी तेल-फुलेल, इत्र आदि खुशबू-दार चीजों का इस्तेमाल किया और न दूसरे किसी उपाय से ही शरीर की शोभा और शृंगार बढ़ाने की कोशिश की।

घर के वाहरी दर्वाजे पर मैं कभी खड़ी न होती थी और न किसी वाहरी आदमी के साथ वातचीत ही करती थी।

खुले या छिपे तौर पर मैंने कभी भी कोई बुरा या निन्दनीय काम करने की इच्छा नहीं की।

देवता, ब्राह्मण और गुरुजनों के प्रति मैंने सदैव श्रद्धा रखी है, व्रत और उपवासों का पालन किया है और सास-ससुर की सेवा की है।

जब मेरे पति परदेश से वापस आये तो मैं एकान्त भक्ति और एकाग्र-चित्त से उनकी सेवा-शुश्रूषा में लग गई।

ऐसी कोई चीज मैंने कभी नहीं खाई जो मेरे पति को नापसन्द हो।

जबतक वे सो न जाते तबतक अत्यन्त जरूरी काम होने पर भी मैं उन्हें छोड़कर न जाती।

पति अगर अपनी कोई बात पूरी न कर पाते तो कोई कड़वी बात कहकर उन्हें कभी नाखुश न करती।

गुप्त बातों को मैं किसीके सामने न कहती। यहाँतक कि जो स्त्रियाँ जगह-जगह अपने पति और घर की गुप्त बातों को कहती फिरती हैं, उनसे मैं मिलती तक नहीं थी।

पुत्र, कन्या तथा सगे-सम्बन्धियों के लिए हर रोज़ जिन-जिन कामों की ज़रूरत होती उन्हें मैं सवेरे ही उठकर नियमित रूप से अपने ही हाथों करती थी। घर और घर की तमाम चीज़ों को साफ़-सुथरा रखती थी।

इन शब्दों में पति के प्रति पत्नी की बहुत ऊँची भावनाओं को इन्होंने हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इसलिए महान् पति-भक्ता के रूप में आज भी ये हमारे लिए अभिनन्दनीय हैं।

पति से जीवन पाने वाली

प्रमद्वरा

विश्वावसु मुनि से मेनका के गर्भ में प्रमद्वरा का जन्म हुआ। प्राचीन हिन्दू-साहित्य में ऐसे अनेक दृष्टान्त भरे पड़े हैं जिनमें तपोधन ऋषि अप्सराओं के रूप-लावण्य के मोह में फँस जाते हैं और उनसे फिर किसी-न-किसी बालक-बालिका का जन्म होता है। वासना-तृप्ति के बाद उनकी आँखें खुलतीं, उन्हें पश्चात्ताप होता और वे अपनी तपस्या के भंग में साधनीभूत होनेवाली नारी का त्याग करके कहीं दूसरे स्थान को चल देते।

प्रमद्वरा का जन्म इसी प्रकार विश्वावसु और मेनका के मिलने से हुआ। स्थूलकेशी नामक मुनि के आश्रम में इस कन्या को रखकर विश्वावसु और मेनका एक-दूसरे से विदा हुए थे। मुनिवर इस बालिका के अनुपम सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो गये और इसे स्वीकार कर अपनी कन्या के समान इसका पालन करने लगे। शनैः शनैः शुक्ल-पक्ष के चन्द्र की भाँति प्रमद्वरा बढ़ती गई। मुनिवर ने उसे ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देने तथा सदाचार और विवेक सिखाने में कोई बात उठा नहीं रखी।

उस समय भारत में बालिकाओं का विवाह इतनी जल्दी नहीं हो जाता था। वे तबतक नहीं ब्याही जाती थीं जबतक कि

सयानी और समझदार नहीं हो जाती थीं। यह भी वे पसन्द नहीं करती थीं कि अपने भावी पति से बिना पहले प्रेम दृढ़ हुए ही उनका विवाह कर दिया जाय। भारतीय माता-पिता अपनी कन्या के चरित्र और सदाचार पर विश्वास करते थे। परदे का तो नामो-निशान भी न था। अपने पिता के घर पर आनेवाले अतिथि-अभ्यागतों का स्वागत कुमारिकाएँ निःसंकोच भाव से कर सकती थीं।

महर्षि भृगु का रुरु नामक एक पुत्र था। वह अक्सर स्थूल-केशीऋषि के आश्रम पर आया करता था। वहाँ अपूर्व सुन्दरी प्रमद्वरा से उसकी भेंट हुई। प्रमद्वरा के अद्भुत सौंन्दर्य, विवेक, वाणी की मधुरता, विचारों का विकास इत्यादि सद्गुणों को देख-कर ऋषि-कुमार रुरु उसपर मुग्ध हो गया। वह उससे विवाह करने के लिए उत्कण्ठित हुआ। परिचय बढ़ने पर उसे यह भी पता चल गया कि प्रमद्वरा भी उसपर अत्यन्त अनुरक्त थी।

आजकल हमारे देश में कितने ही रिवाज मर्यादा के नाम पर प्रचलित हैं। यदि उन्हें तोड़ दें तो निन्दा और हँसी होती है। प्राचीन भारतवर्ष में ऐसी मिथ्या मर्यादाएँ नहीं थीं। ऋषि-कुमार रुरु ने अपने पिता भृगु से अपनी प्रेम-वार्त्ता कह सुनाई और कन्या को मांगने के लिए अपने पिता भृगुऋषि को स्थूलकेशी के आश्रम पर भेजा। स्थूलकेशी ने प्रमद्वरा से उसका अभिप्राय पूछा। उसकी स्वीकृति मिलते ही भृगुऋषि की बात मान लिया। विवाह का समय भी निश्चित हो गया। परन्तु विवाह होने से पहले ही एक अकल्पित दुर्घटना हो गई।

एक दिन प्रमद्वरा अपनी सखियों के साथ बाग़ में घूम रही थी। वहाँ फूल चुनते-चुनते एक जहरीले साँप ने उसे डस लिया। सांप इतना जहरीला था कि डसते ही प्रमद्वरा का प्राण निकल गया। यह समाचार मिलते ही महर्षि स्थूलकेशी भागते-दौड़ते बग़ीचे में

आये और बच्चों की तरह रोने लगे। बात-की-बात में तपोवन में रहनेवाले सभी लोग वहाँ इकट्ठे हो गये और बालिका प्रमद्वरा को मृतावस्था में देखकर रुदन करने लगे। स्त्रियाँ तो छाती पीटकर इतनी जोर से रोने लगीं कि चारों ओर हाहाकार मच गया। गौतम भरद्वाज आदि ऋषि भी दौड़े। रुरु और उसकी माता प्रमाखी भी दौड़ पड़े। रुरु का हृदय शोक से भर गया। अपने दिल को हलका करने के लिए वह बग़ीचे में एक एकान्त स्थान में चला गया और दारुण विलाप करने लगा। प्रमद्वरा और रुरु अभी लौकिक दृष्टि से विवाह-बन्धन में नहीं बँधे थे। परन्तु प्रेमी-जनों के हृदय सांसारिक लोकाचारों की राह नहीं देखते। उनके हृदय तो अन्य किसी आचार्य की सहायता के बिना ही ऐसे अमोघ मन्त्र से बँध गये थे कि कोई सांसारिक विघ्न उन्हें पृथक् नहीं कर सकता था।

ऋषि-कुमार रुरु व्याकुल चित्त से परमात्मा की प्रार्थना करने लगा, जिससे वे उसकी पत्नी को पुनर्जीवित करदें। रुरु बड़ा तपस्वी था। देवता उसकी प्रार्थना की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। रुरु की सान्त्वना करने के लिए देवेन्द्र ने अपना ख़ास दूत भेजा। उसने सान्त्वना की विविध बातें कीं, परन्तु प्रेम-विह्वल रुरु का धीरज़ न बँधा और वह प्रमद्वरा के पुनर्जीवन पर ही आग्रह करता रहा। आख़िर देवदूत ने यह कठोर परीक्षा की, "देवेन्द्र ने मुझे कहा है कि यदि रुरु अपनी आयु के आधे वर्ष प्रमद्वरा को देदे तो उसे पुनः जिलाया ज़ा सकता है।" और सच्चे प्रेमी रुरु ने तुरन्त इसे स्वीकार कर लिया।

रुरु के यह स्वीकार करते ही एक सोये हुए मनुष्य की भाँति प्रमद्वरा काल-निद्रा से उठ खड़ी हुई और यथासमय रुरु और प्रमद्वरा का विवाह हो गया। इसके बाद दोनों ने अपना जीवन परम सुख में व्यतीत किया।

प्राचीन भारत में विवाह के पूर्व वर-कन्या किस प्रकार एक-दूसरे के स्नेह-पाश में बँध जाते थे, उसका यह एक उदाहरण है। साथ ही इससे इच्छित पत्नी के प्रति रुरु अर्थात् पति के उत्कट प्रेम का भी हमें पता चलता है। इस प्रेम की अधिकारिणी प्रमद्वरा भी कितनी सद्गुणी होगी, यह हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

३४

पति की नाम-राशी

जरत्कारु

विदुषी जरत्कारु के पति का नाम भी जरत्कारु ही था। पहले उन्हींका कुछ हाल सुनिए।

जरत्कारुऋषि यायावर मुनि के वंश में पैदा हुए थे और ब्रह्मा के समान प्रभावशाली, पूर्ण ब्रह्मचारी, नियमित, मिताहारी तथा महातपस्वी थे। वे सदा घूमा ही करते और जहाँ शाम होती वहीं ठहर जाते थे। इस प्रकार वे तीर्थ-स्नान और तीर्थाटन भी खूब करते थे। कभी दरख्तों के पत्ते ही खाने को मिलते और कभी बिलकुल भूखे ही रहना पड़ता, पर भ्रमण कभी बन्द न करते। एक दिन भ्रमण करते हुए एक गड्ढे में इन्होंने अपने बाप-दादों को लटके हुये देखा, जिनके पांव तो ऊपर और सिर नीचे थे। अपने पूर्वजों को इस प्रकार औंधे सिर लटके हुए देखकर जरत्कारु ने उनसे पूछा—"तुम कौन हो और जहरीले सांपों के इस गड्ढे में औंधे क्यों लटक रहे हो?" पितरों ने कहा—"हम लोग यायावर-वंश के व्रतशील ऋषि हैं। हे ब्राह्मण! हमारा वंश लोप हो जाने का समय आया है, इसीसे हमारी यह दुर्गति हो रही है। हमारे जरत्कारु नामक एक अभागा पुत्र है। वह मूर्ख सिर्फ तपस्या ही किया करता है, पुत्रोत्पत्ति के लिए विवाह नहीं

करता, अतः उसके बाद हमारा वंश निर्मूल हो जायगा, इससे हम इस गड्ढे में औंधे-सिर लटक रहे हैं। हे साधु-शिरोमणि ! तुम कौन हो ? तुमने एक सच्चे मित्र की भांति हमारी दशा पूछी है, इसीसे हम यह जानना चाहते हैं कि तुमने सच्चे अन्तःकरण से हमारी शोचनीय दशा देखकर यह बात क्यों पूछी है ?" जरत्कारु बोला—"जरत्कारु मैं ही हूँ। आप सब मेरे ही पूर्वज हैं। अब आप ही बतलाइये, मैं क्या करूं" पितर बोले—"बेटा ! तू अपने वंश की बेल को बढ़ा, जिससे हम और स्वयं तू भी भविष्य की दुर्गति से बचें, क्योंकि जैसी सद्गति पुत्रवान् पुरुष की होती है वैसी वर्षों की तपस्या से भी नहीं होती। बेटा ! तू विवाह करके सन्तान पैदा कर। इसीसे हमारा परम-कल्याण होगा।" इसपर जरत्कारु ने कहा—"भोग-विलास के लिए तो विवाह या धनोपार्जन करने की मुझे इच्छा नहीं है। अलबत्ता वंश के भले के लिए विवाह करूंगा, लेकिन एक शर्त है। मैं विवाह उसी कन्या से करूंगा जो मेरी ही नाम-राशी हो और उसके सम्बन्धी स्वयं ही इच्छा करके उसे मेरे साथ व्याहें। इस प्रकार यदि कोई कन्या मिली तो मैं आपकी आज्ञा का पालन जरूर करूंगा।"

इसके बाद जरत्कारुऋषि पितरों से विदा होकर कन्या की खोज में निकले; पर उन्हें कहीं भी अपने योग्य पत्नी नहीं मिली। यह देखकर उन्होंने एकान्त वन में जाकर तीन बार पत्नी के लिए ईश्वर की प्रार्थना की। तब नागराज वासुकी उन्हें अपनी बहिन देने को तैयार हुए। पर जरत्कारु ने सोचा कि यह कन्या मेरे ही नाम की नहीं होगी; अतः कहने लगे—"मेरी तो यह प्रतिज्ञा है कि कन्या मेरे ही नाम-राशी हो और उसके रिश्तेदार स्वयं ही इच्छा करके मुझे कन्यादान करें, तभी मैं विवाह करूँगा। इसलिए हे वासुकि ! तुम सच-सच बतलाओ कि तुम्हारी इस बहिन का नाम

क्या है ?" वासुकि ने जवाब दिया-"जरत्कारु ! मेरी इस छोटी बहिन का नाम भी जरत्कारु ही है। मैं अपनी इच्छा से, खुशी के साथ, इसे तुम्हें देता हूँ; तुम भार्या के रूप में इसे ग्रहण करो। हे द्विजोत्तम ! मैंने अपनी बहन को तुम्हारे लिए ही रख छोड़ा है, अतः तुम इसे स्वीकार करो।" इस प्रकार कहकर नागराज वासुकि ने अपनी बहिन जरत्कारु को जरत्कारु मुनि के सुपुर्द कर दिया। मुनि ने भी विधिपूर्वक उससे विवाह कर लिया। विवाह के साथ ही उन्होंने वासुकि के साथ यह भी शर्त कर ली थी कि "अपनी बहिन की परवरिश तुम्हें ही करनी पड़ेगी और जरत्कारु ऐसा कोई काम हर्गिज नहीं करेगी जो मुझे नापसन्द हो। अगर कभी यह ऐसा काम करेगी तो तुरन्त ही मैं इसे छोड़कर चला जाऊँगा।" वासुकि को धन-दौलत की तो कुछ कमी थी नहीं; उसकी बहिन भी बड़ी सुशील, सदाचारिणी और समझदार थी। अतः उसने इन दोनों शर्तों को मंजूर कर लिया और जरत्कारु को अपने घर ले जाकर रहने को एक सुन्दर महल दे दिया, जिसमें पति-पत्नी आनन्द के साथ अपनी गृहस्थी चलाने लगे। पत्नी को भी जरत्कारु ने यह बतला दिया था कि यदि तू ऐसा कोई काम करेगी जो मुझे पसन्द न हो तो मैं तुरन्त तुझे छोड़कर चल दूँगा।

कुछ समय के बाद पतिव्रता जरत्कारु के महाऋषि जरत्कारु से गर्भ रहा और वह शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह दिन-दिन बढ़ता गया।

एक दिन थके-थकाये जरत्कारु मुनि पत्नी की गोद में सिर रखकर सो रहे थे। सूर्यदेव अस्ताचल को जा पहुँचे पर उनकी नींद न खुली, तब पतिव्रता जरत्कारु सोचने लगी कि "पति को नींद से जगाती हूं तो वे चिढ़ेंगे; और नहीं जगाती हूँ तो सूर्य

अस्त हो जायगा और उनके सन्ध्या-वन्दन का समय चला जाने से उनके धर्म में बाधा पड़ेगी।" अन्त में उसने सोचा कि 'पति नाराज हों तो हों, थोड़ी देर में शान्त हो जायेंगे।' यह सोचकर जरत्कारुऋषि को जगाने के लिए मीठे शब्दों में वह कहने लगी—"स्वामिन्! सूर्यदेव अस्त हो रहे हैं, आप जल्दी उठकर संध्योपासना कीजिए। देखिए अग्निहोत्र का समय हो गया है। कैसा रमणीय समय है! पश्चिम में सूर्यदेव अस्त हो रहे हैं!"

पत्नी के शब्द कान में पड़ते ही जरत्कारुऋषि उठ बैठे और क्रोध से लाल-पीले होकर बोले—"तूने मेरा अपमान क्यों किया? अब मैं तेरे साथ नहीं रहूँगा। जहाँ मेरी इच्छा होगी वहां चला जाऊँगा। जबतक मैं न जागता सूर्यदेव कभी अस्त न होते, यह मेरा विश्वास था। अपमान सहकर तो कोई पुरुष घर रहना पसन्द नहीं करता, फिर मेरे जैसे आदमी के लिए तो यह बिल्कुल असम्भव ही है।"

पति की ऐसी क्रोधपूर्ण बातें सुनकर जरत्कारु के तो होश-हवास ही उड़ गये। वह हाथ जोड़कर कहने लगी—"स्वामी! मैंने अपमान करने के इरादे से आपको नहीं जगाया; मैंने तो आपको इसलिए जगाया था कि आपके धर्म-कार्य में विलम्ब न हो।" पर उसके इस प्रकार विनय-पूर्वक खुलासा करने पर भी जरत्कारु ऋषि यही कहते रहे, "मेरी प्रतिज्ञा कभी भंग नहीं होती। अब मैं यहां से जरूर चला जाऊँगा। मेरे चले जाने पर अपने भाई वासुकि से कहना कि मैं यहां जितने दिन रहा बड़े आराम से रहा और तू भी मेरे जाने पर शोक से व्याकुल न होना।"

पर यह कहीं सम्भव है कि पति स्त्री को छोड़ जाने को तत्पर हो और स्त्री के हृदय में शोक न हो? अतः जरत्कारु मुनि के कठोर वचन सुनते ही सुन्दरी जरत्कारु शोक और चिन्ता से एक-

दम विह्वल हो उठी। उसका कमल-सरीखा मुख एकदम मुरझा गया। उसका हृदय कांपने लगा और दोनों नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गई। कुछ देर में मुश्किल से धीरज रखकर उसने पति से कहा—"हे द्विजोत्तम! आप धर्मज्ञ हैं; अतः आपको मुझे निर्दोष दासी का त्याग न करना चाहिए। मैं तो सदैव सच्चे दिल से धर्म-कार्य में आपकी सेवा और हित-साधना ही करती रही हूँ। फिर भी जिस इच्छा से मेरे भाई ने आपके साथ मेरा विवाह किया था, अभी तो वह इच्छा भी पूरी नहीं हुई। अब वह मेरा क्या करेंगे? हे महात्मन्! आपके वीर्य से मेरे पुत्र पैदा हो, इसके लिए मेरे सम्बन्धियों ने परमेश्वर से प्रार्थना की है। पर अभीतक वह पूरी नहीं हुई है। ब्रह्माजी का यह आशीर्वाद है कि आपके गर्भ से उत्पन्न होनेवाले पुत्र के द्वारा ही नागवंश को शाप से मुक्ति मिलेगी और उसका कल्याण होगा। इसलिए पतिदेव! मैं सिर्फ अपने स्वार्थ के लिए नहीं, किन्तु अपने सम्बन्धियों आदि सबके हित के लिए प्रार्थना करती हूं कि आप मुझपर प्रसन्न हों। आप के साथ मेरा जो सम्बन्ध हुआ है, उसे निष्फल न जाने दें। महात्मन्! आप तो विद्वान् हैं; फिर गर्भवती स्त्री को छोड़कर चले जाने को कैसे तैयार हुए?"

पत्नी की ऐसी बातें सुनकर जरत्कारुऋषि ने कहा—"सुभगे! तू शोक मत कर। अग्नि के समान तेजस्वी, परम धार्मिक और वेद-वेदांग में प्रवीण ऋषि-बालक तेरे गर्भ में मौजूद है।" और वे घोर तपस्या करने के लिए वन चल दिये।

जरत्कारु मुनि के वन चले जाने के कुछ ही महीने बाद उनकी पत्नी जरत्कारु के पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम 'आस्तिक' रखा गया। यह बालक छुटपन से ही बड़ा चंचल था। सती जरत्कारु ने भाई के घर बड़ी सावधानी से उसका पालन-पोषण करके उसे अनेक शास्त्रों का पारङ्गत बनाया।

वाणी के असंयम से दासी बननेवाली

शर्मिष्ठा

शर्मिष्ठा ईरान के राजा वृषपर्वा की पुत्री थी। तत्कालीन ईरान के आर्यों को महाभारत में असुर कहा गया है। असुरराज वृषपर्वा के गुरू शुक्राचार्य के भी देवयानी नामक शर्मिष्ठा की समवयस्का एक कन्या थी। एक दिन राजकन्या शर्मिष्ठा देवयानी तथा अन्य सखियों के साथ नदी पर स्नान करने गई। स्नान करके पहनने के वस्त्र सभीने नदी के किनारे पर रखे थे। इतने में जोर से ऐसी आंधी आई और सबके वस्त्र एकमेक होगये। शर्मिष्ठा ने भूल से देवयानी की साड़ी पहन ली। देवयानी इससे बड़ी नाराज़ हुई। उसने शर्मिष्ठा से कहा—"शर्मिष्ठा! तू मेरे पिता के शिष्य की लड़की है, फिर मेरे वस्त्र तूने कैसे पहन लिये?" शर्मिष्ठा ने हँसकर कहा—"मैं राजकन्या हूं। तेरे पिता मेरे पिता की खुशामद करके भिखारी की तरह दिये मेरे पिता के अन्न से अपनी गुज़र-बसर करते हैं। मैं तो दान देने वाले लोगों-द्वारा स्तुति किये जाने वाले की पुत्री हूं और उम्र में भी तुझसे कुछ बड़ी हूं। इसलिए तेरा वस्त्र मैंने पहन लिया तो क्या हुआ? तू चाहे कितना सिर पटक ले, इस पहने हुए वस्त्र को तो अब मैं तुझे नहीं दूंगा।"

यह ज़रा-सी बात थी। सम्भलकर न बोलने से मित्रों में भी कैसे वैमनस्य हो जाता है, इसका यह एक खासा नमूना है। इसीलिए वाणी के तप को समस्त देशों के शास्त्रों और धर्मों में इतना महत्त्व दिया गया है। हम दूसरे से सभ्यतापूर्वक पेश आवें तो वह भी सभ्यता से बातें करेगा। यदि हम अपना आदर कराने के लिये किसीको मजबूर ही करें तो वह हमारा निरादर ही करेगा; क्योंकि ऐसी थोथी श्रेष्ठता के सामने उसकी आत्मा विद्रोह कर उठती है। यही हाल शर्मिष्ठा का हुआ।

इस छोटी-सी बात पर दोनों सखियों में भारी कलह छिड़ गया। देवयानी ने ज़बर्दस्ती अपना वस्त्र शर्मिष्ठा से छीनना चाहा यहाँ तक कि बात बढ़ते-बढ़ते मारपीट तक नौबत पहुंच गई। अन्त में शर्मिष्ठा ने अपनी सखियों की सहायता से देवयानी को एक कुँए में ढकेल दिया और आप सखियों को लेकर चल दी। उसने सोचा कि देवयानी कुँए में डूबकर मर जायगी; किन्तु वस्तुतः कुँए में इतना पानी नहीं था कि देवयानी डूब जाती। इसलिए ऊपर से गिरने पर भी उसे न तो कोई चोट लगी और न वह डूब ही गई।

सौभाग्यवश इसी समय पुरुरवा राजा का प्रपौत्र ययाति आखेट करता हुआ थककर इसी कुँए पर आया। उसने देवयानी को कुँए में पड़ा देख उससे इसका कारण पूछा और उसे निकालकर अपनी राजधानी ले गया।

देवयानी कुँए से तो निकल गई, पर घर नहीं गई। एक दासी के यहां जाने पर उसने कहा—"पूर्णिका! जा, पिताजी से कह कि शर्मिष्ठा ने मेरा इतना घोर अपमान किया है कि अब मैं दैत्यपुरी में पैर तक नहीं रखूंगी।"

दासी की जबानी सब बात सुनते ही शुक्राचार्य वहाँ आये और उसे शान्त करने के लिये तरह-तरह से समझाने लगे ; किन्तु देवयानी टस-से-मस न हुई ।

आखिर शुक्राचार्य दैत्यराज वृषपर्वा के पास गये और उसे सारा हाल सुनाकर कहा—"देवयानी को सन्तुष्ट न करोगे तो उसके साथ-साथ मैं भी यहां से विदा होता हूँ ।"

शुक्राचार्य को छोड़ना मामूली बात नहीं थी। उन्हींकी बुद्धि और सलाह के कारण असुर देवताओं पर विजय प्राप्त कर अपना आधिपत्य प्रस्थापित कर सके थे। वे रूठकर चले जाते तो असुर बात-की-बात में चौपट हो जाते। अतः वृषपर्वा स्वयं गुरुदेव के साथ देवयानी के पास गया और उसकी खूब स्तुति करके कहा—"हे पवित्र स्मितवाली देवयानी! तुझे जिस चीज़ की इच्छा हो, मुझे कह दे ; मैं तुझे लाकर अवश्य दे दूंगा, फिर वह कितनी भी दुर्लभ क्यों न हो ।" देवयानी बोली—"एक हजार कन्याओं के साथ शर्मिष्ठा मेरी दासी हो और जहां कहीं मेरे पिता मुझे व्याहें वहाँ वह मेरे साथ जावे ।" तब वृषपर्वा ने फ़ौरन शर्मिष्ठा को बुलाने के लिए एक दासी को दौड़ा दिया ।

दासी ने जाकर शर्मिष्ठा से सारा हाल कहा और राजा की आज्ञा सुनाई। शर्मिष्ठा चतुर लड़की थी। परिस्थिति की गम्भीरता को वह समझ गई । उसे अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ । दासी से उसने कहा—"जा! गुरुजी से कह दे कि यदि वे देवयानी के कारण ही मुझे बुलाते हों तो मैं वह सब करने को तैयार हूँ जो देवयानी कहे। यह ठीक नहीं कि एक नादान लड़की की भूल के कारण दैत्यकुल शुक्राचार्य जैसे हमारे हितैषी, आधार और प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ को खो दे ।

शर्मिष्ठा पालकी में बैठकर अपनी एक हजार दासियों के साथ

तुरन्त नगर के बाहर देवयानी के पास आ पहुँची और बोली—"मैं अपनी एक हजार दासियों के साथ आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ। आपके पिताजी जहाँ कहीं आपको ब्याहेंगे वहाँ मैं भी आपकी सेवा करने के लिए आपके साथ चलूँगी।"

अबतक भी देवयानी की प्रतिहिंसा शान्त नहीं हुई थी। एक बेहद कड़ुवा और तीखा ताना मारते हुए उसने कहा—"अरे, आप तो राजकन्या हैं; दान देने वाले और स्तुतियों में गाये जाने वाले राजा की पुत्री हैं! आपके पिता की स्तुति गानेवाले, आपके अन्न से अपना पेट भरने वाले भिक्षुक की लड़की की आप दासी कैसे होंगी?"

शर्मिष्ठा ने कहा—"मैं दैत्य-कुल में पैदा हुई हूँ, दैत्य-राज्य में छोटी से बड़ी हुई हूँ और इस कुल तथा राज्य के कल्याण के लिए आपका दासीपन स्वीकार करने में मुझे जरा भी लज्जा नहीं है। न मैं यही मानती हूँ कि इससे मेरा कोई अपमान हो रहा है। मैं डरती हूँ कि भावी प्रजा कहीं मेरे सिर यह कलंक का टीका न लगाये कि शर्मिष्ठा की नादानी के कारण दैत्य-कुल का नाश हो गया।"

इस प्रकार स्वजाति और स्वदेश की रक्षा के लिए शर्मिष्ठा ने अपने व्यक्तिगत मानापमान के सवाल को अलग हटा दिया। कुछ ही घंटे पहले जिसको उसने अपने पिता का भाट और भिखारी कहकर तिरस्कृत किया था, उसीकी लड़की की दासी बनकर अब वह हाथ बाँधकर खड़ी हो गई।

देवयानी के देवता अब प्रसन्न हुए। वह वहाँ से उठकर शान के साथ अपने पिता के शिष्य के नगर में गई।

बहुत समय बीत गया। एक दिन ऋषि-कन्या देवयानी, शर्मिष्ठा तथा अन्य दासियों के साथ नगर से नजदीक वाले एक वन में क्रीड़ा करने के लिए गई। वन में खूब घूमने, मीठे-मीठे

फल खाने और जल-क्रीड़ा के बाद देवयानी थककर एक रमणीय स्थान में वृक्ष की छाया में लेट गई। राज-कन्या शर्मिष्ठा उसकी परिचर्या करने लगी। ठीक इसी समय वही ययाति राजा मृगया करता हुआ वहाँ आ पहुँचा। शर्मिष्ठा-जैसी राज-तेजवाली सुन्दरी कन्या को देवयानी के पैर दबाते तथा अनेक प्रकार की सेवा करते देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। देवयानी के पास जाकर राजा ने उसका परिचय पूछा और साथ ही शर्मिष्ठा के सम्बन्ध में भी पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। देवयानी ने भी राजा से उसका परिचय तथा उस वन-प्रदेश में आने का कारण पूछा। जब उसे मालूम हुआ कि यह मुझे कुँए से बाहर निकालनेवाला, मेरे प्राण बचानेवाला यशस्वी और गुणवान राजा ययाति है तब तो देवयानी के हृदय में उसके लिए विशेष प्रेम उत्पन्न हो गया। वह बोली—"राजन्! दो हज़ार कन्याओं तथा दासी शर्मिष्ठा-सहित मैं आपके अधीन होती हूँ। ईश्वर आपका कल्याण करें। आप मेरे स्वामी बनकर मेरे जीवन को सफल कीजिए।"

देवयानी ब्राह्मण-कन्या थी, इसलिए ययाति ने उसके साथ विवाह करने से इन्कार किया; परन्तु देवयानी ने कहा—"हे नहुष-कुल-गौरव राजा, अबतक मैंने अपना प्रेम किसीपर प्रकट नहीं किया है। मेरा हाथ भी पहले-पहल आपही ने ग्रहण किया था। उसी दिन से मेरे हृदय में आपके प्रति प्रेम के अंकुर उत्पन्न हो गये थे! आज इतने दिन बाद आपके दर्शन तथा वचनामृत का पान करते ही वे लहलहा उठे हैं। प्रेम का पूर्ण विकास हो गया है! मैं तो आपको वर चुकी हूँ। आप मुझे अस्वीकार न कीजिए। एक बार आपने जिस हाथ को ग्रहण कर लिया, भला अब उसे दूसरा पुरुष कैसे स्पर्श कर सकता है?"

बात यह थी कि ययाति शुक्राचार्य के शाप से डरते थे,

किन्तु राजा ने जब यह भेद देवयानी पर प्रकट किया तो वह फौरन राजा को अपने पिता के पास लेगई और उनकी सम्मति प्राप्त करली। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार दोनों का विवाह हो गया। देवयानी अपने पति-सहित ससुराल चली और पूर्वोक्त इकरार के अनुसार शर्मिष्ठा भी दो हजार दासियों को ले देवयानी के साथ हो ली। राजा ने देवयानी के साथ वर्षों तक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया। उससे राजा को दो पुत्र हुए। परन्तु शर्मिष्ठा के रूप-गुणों से राजा आकृष्ट हुए विना न रह सका। उसने देवयानी से छिपाकर शर्मिष्ठा से विवाह कर लिया। उससे द्रुह्म, अनु तथा पुरु ये तीन पुत्र हुए। जब देवयानी को यह मालूम हुआ तब तो उसके क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहा। वह वैसे ही अपराधी ययाति को अपने पिता के पास ले गई। शुक्राचार्य नें कहा—"जिस समय मैंने अपनी कन्या का तुम्हारे साथ विवाह किया और रूपवती शर्मिष्ठा को उसकी दासी बनाकर भेजा, उस समय तुमसे यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि तुम शर्मिष्ठा से एकान्तवास नहीं करोगे। तुमने अपने वचन का पालन नहीं किया। इसलिये मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम अपना यौवन खोकर एकदम वृद्धावस्था को प्राप्त होगे।" देवयानी ने देखा कि पिताजी ने तो सारा मामला विगाड़ दिया। मैं चाहती थी शर्मिष्ठा का सुखोपभोग छुड़ाना; पर इन्होंने तो मेरे सुख को भी स्वाहा कर दिया। तब वह शुक्राचार्य से कहने लगी, "पिताजी, यह तो आपने बड़ा कठोर शाप दे दिया। कृपाकर इसे कुछ सौम्य कर दीजिए।" शुक्राचार्य ने कहा, "अच्छा; इसकी वृद्धावस्था यदि कोई लेने को तैयार हो जाय तो यह दूसरे के यौवन के साथ अदल-बदल कर सकता है।" अब ययाति ने एक के बाद एक अपने पुत्रों से पूछा कि "क्या कोई अपना यौवन देकर मेरी वृद्धावस्था लेने के लिए

तैयार है ?" पर पुरु को छोड़कर सब मुकर गये। तब राजा ने पुरु से यौवन का अदल-बदल करके अनेक वर्ष तक संसार-सुख का उपभोग किया; किन्तु अन्त में वे इसी नतीजे पर पहुँचे कि—

न जातु कामः कामानुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
यत्पृथिव्यां व्रीही यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥

इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने पर भी इच्छा का अन्त नहीं होता; बल्कि जिस प्रकार अग्नि में घी आदि पदार्थ डालने पर वह और भी जोर से जलने लगती है उसी प्रकार काम-इच्छाएँ भी अधिकाधिक प्रदीप्त होती जाती हैं। इस संसार का समस्त सुवर्ण अन्न और समस्त स्त्रियां प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य को तृप्ति नहीं होती। इसलिये कल्याण इसीमें है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के मार्ग को छोड़कर ऐसी किसी तज-वीज में लग जाय जिससे इच्छाएँ उठने ही न पावें।

तब ययाति ने अपने पुत्र को बुलाकर उसे उसका यौवन लौटा दिया और आर्यों की प्राचीन प्रथा के अनुसार वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण कर लिया। शर्मिष्ठा और देवयानी भी संसार की वासनाएँ छोड़कर उसके साथ हो लीं। पुरु ने पुत्र-धर्म का ठीक-ठीक पालन किया; इसलिये राजा ने चलते समय उसे आशीर्वाद दिया कि राज्य तेरे ही वंश में चलेगा। इसी पुरु के वंशज आगे चलकर पौरव कहलाये। शकुन्तला का पति राजा दुष्यन्त इसी वंश का प्रदीप था।

———

राजा उत्तानपाद की रानियाँ

सुनीति और सुरुचि

शारद ऋतु का आरम्भ हो चुका था। पुण्य-सलिला यमुना प्रसन्नता-पूर्वक कलकल-निनाद करती हुई वह रही थी। उसके तीर पर एक रमणीय उद्यान था। जुही, चम्पा, वेला आदि पुष्पों की सुगन्ध उसके चारों ओर फैल रही थी। इसी उपवन के बीच उत्तानपाद राजा का मनोहर महल था। उत्तानपाद स्वायंभुव मनु के वंशज थे, इसलिये उनका ऐश्वर्य और गौरव भी वैसा ही था। उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं—बड़ी का नाम सुनीति था और छोटी का सुरुचि।

एक दिन रानी सुरुचि उस भव्य प्रासाद के एक एकान्त कमरे में जमीन पर सोई हुई थी। उसके बाल विखरे हुए थे। शरीर अलंकार शून्य था। वस्त्र मलिन और पुराने थे। उसके मुख से दीर्घ और गरम उच्छ्वास निकल रहे थे। दासियाँ भयभीत और शून्य दृष्टि से उसकी ओर देख रही थीं। किसीको यह हिम्मत न होती थी कि उससे कुछ कहे। संध्या समय राजा उत्तानपाद धर्मासन से उठे और उन्होंने अन्तःपुर में प्रवेश किया। प्रियतमा सुरुचि को उसके भवन में न देखकर उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे भी उसी एकान्त कमरे में जा पहुँचे। पत्नी को इस अवस्था

में पड़ी देखकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसके अङ्गों को स्पर्श करके राजा स्नेहपूर्वक पूछने लगे—"प्रिये! यह क्या? तुम आज इस तरह यहाँ क्यों लेटी हुई हो?"

रानी ने कोई जवाब न दिया। उलटा अपना अधूरा खुला हुआ मुख साड़ी के अंचल से पूरी तरह ढक लिया। पर राजा ने उस वस्त्र को हटा दिया और तरह-तरह से उसे समझाने लगे। ज्यों-ज्यों राजा उसे अधिकाधिक प्रेमपूर्वक समझाते गये त्यों-त्यों उसका रुदन बढ़ता ही गया। बहुत कहने-सुनने और आरजू-मिन्नत करने पर सुरुचि ने कहा—"महाराज, मैं तो आपकी केवल दासी हूँ। इतना प्रेम मुझपर आप क्यों बरसा रहे हैं?"

राजा ने कहा—"तेरी बात कुछ समझ में नहीं आती! अगर तू दासी है तो मेरी पत्नी कौन है?"

सुरुचि—"पत्नी तो सुनीति है महाराज! यदि पत्नी के योग्य स्थान देना मंजूर नहीं था तो मुझसे आपने विवाह क्यों किया?"

राजा—"प्रिये, मेरी समझ में नहीं आता कि इन सब बातों से तुम्हारा मतलब क्या है? दिल खोलकर पूरी-पूरी बात कहो?"

अब सुरुचि खुली और खोज-खोजकर बड़ी रानी सुनीति के प्रति पक्षपात के दोषारोप राजा पर करने लगी। राजा ने बहुतेरा समझाया पर उसकी समझ में कुछ न आया। तब राजा ने सुनीति को बुलवाया।

सुनीति देव-दर्शन करके लौटी ही थी, राजाज्ञा पाकर वैसे ही चली आई। उसके वस्त्र गेरुए रंग के थे। ललाट पर चन्दन की रेखा थी। कण्ठ और मस्तक पर देवता के प्रसाद-स्वरूप मालाएँ पड़ी हुई थीं। उसकी मुखाकृति अत्यन्त शान्त थी। यौवन का तरल लावण्य बीत गया था और प्रौढ़ावस्था के गम्भीर सौन्दर्य की शान्तिप्रद छाया उसके चेहरे पर जगमगा रही थी। आकर जैसे

ही उसने सुरुचि को देखा, वह चकित हो गई और बोली—"क्यों बहिन, आज यह क्या वेश बनाया है ? बाल खुल रहे हैं, ललाट पर सिंदूर नहीं, सारे शरीर में धूलि भरी हुई है, रो-रोकर आँखें सूज गई हैं ! बात क्या है ? मथुरा से कोई अशुभ समाचार तो नहीं आये ?"

पर सुरुचि पर तो सौत का भूत सवार हो रहा था। उसने अपने केश सुनीति के हाथों में से खींच लिये और झिड़ककर बोली—"सुनीति, तुम मुझे मत छुओ !"

सुनीति विस्मित होकर बोली—"यह क्या बहिन ! आज तक तो तुमने मुझे कभी नाम लेकर पुकारा नहीं, आज क्या हो गया है ? क्या तुम मुझसे नाराज होगई हो ?"

सुरुचि के जवाब देने के पहले ही राजा बोले—"देवी, आज सुरुचि मुझपर और तुमपर, हम दोनों पर, नाराज हो गई है। सुरुचि के मन में यह बात घुस गई है कि मैं इसकी अपेक्षा तुम्हें अधिक चाहता हूँ। इसका यह आरोप है कि रत्न-भण्डार में से सब से अधिक मूल्यवान हार मैंने तुम्हें दे दिया है।"

सुनीति—"बस यही ! यह कौन बड़ी बात है ? जब तुम्हारा विवाह भी नहीं हुआ था तब स्वर्गीय महाराज ने मुझे यह हार अपने हाथों पहनाया था। इस हार पर जितना मेरा अधिकार है उतना ही तुम्हारा भी है। लो, आज से यह तुम्हारा ही है।"

सुनीति ने वह हार अपने कण्ठ से उतारकर सुरुचि के कण्ठ में पहना दिया। दीप के प्रकाश में हार अपूर्व शोभादायक दिखाई देने लगा, परन्तु सुरुचि ने उसे उतारकर जोर से जमीन पर फेंक दिया और मुंह फुलाकर बोली—"सुनीति ! मैं मथुरा की राज-कन्या हूँ; भिखारिन नहीं। तुम्हारा दिया दान मैं नहीं चाहती।"

सुरुचि का यह विचित्र व्यवहार देखकर राजा और देवी

सुनीति भी चकित हो गई। थोड़ी देर बाद राजा बोले—"सुरुचि! आखिर तू चाहती क्या है, यह बता। तू जो कहेगी वह हम दोनों करने के लिए तैयार हैं।"

"सुनिए महाराज!" सुरुचि ने अपनी कुरुचि दरसाते हुए कहा—"अब इस घर में हम दोनों का निर्वाह नहीं हो सकता। जबतक मैं अनजान थी; मुझे अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं था, तबतक सुनीति ने मुझे जो कुछ भी दिया उसे लेकर मैं सन्तुष्ट रही। पर अब मैं समझदार हो गई हूँ। अब अपने अधिकारों का ज्ञान मुझे हो गया है और जिस-जिस चीज पर मेरा अधिकार होगा उसे मैं लेकर ही रहूँगी।"

सुनीति—"यह तो बड़ी अच्छी बात है। इसके लिए इतना बुरा मानने और क्लेश करने की क्या जरूरत है? तुम्हें वे चीजें तो जरूर ही मिलेंगी जिनपर तुम्हारा अधिकार है, पर उनके अलावा मेरा जो कुछ होगा वह सब भी तुम्हें ही देती रहूँगी।"

राजा ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा। मानो उनके हृदय का एक बहुत बड़ा भार हलका हो गया। वे बोले—"सुरुचि, देखो तो बड़ी देवी तुम्हें कितना चाहती हैं? तुम उनसे व्यर्थ ही नाराज हो रही थीं न?"

सुरुचि—"महाराज! आप नारी-हृदय को नहीं पहचानते। नारी और सब चीजों में हिस्सा बंटा सकती है, परन्तु वह अपने पति का हिस्सा स्वेच्छा-पूर्वक किसी भी अन्य स्त्री के साथ नहीं बँटा सकती। वस्त्र, अलङ्कार, ऐश्वर्य ये सब सुनीति भले ही रखे। मुझे तो अपने स्वामी पर पूर्ण अधिकार चाहिये।"

एक क्षण के लिये सुनीति के चेहरे पर दुःख की छाया छा गई। परन्तु फिर अपने हृदय को सम्भालकर वह अपने सहज मधुर स्वर में बोली—"बहिन! तुम्हारे आने के पहले बहुत दिन तक मैंने अकेले

स्वामी की सेवा कर ली है, तुम भी उनकी धर्मपत्नी हो, इसलिये जो सेवा मैं कर चुकी हूँ वह तुम्हें भी करने का सम्पूर्ण अधिकार है। अबसे तुम अकेले भले ही उनकी सेवा करती रहो, मैं तुम दोनों को सुखी देखकर सन्तुष्ट रहूंगी।"

उसकी बात का उत्तर दिये बिना ही सुरुचि ने कहा—"सुनिये महाराज! अब यह नहीं हो सकता कि इस नगरी में हम दोनों रह सकें। चौंकिए नहीं। मैं जो कुछ कहती हूँ, एक बार पूरी तरह सुन लीजिए। आपकी पहली स्त्री को पुत्र नहीं होता था। इसीलिए आपने मेरे पिता से मेरे लिये बातचीत की थी और उन्होंने भी इसी आशा से आपसे मेरा विवाह कर दिया। परन्तु अब यदि हम दोनों को एकसाथ इसी नगरी में रखेंगे तो फिर मेरे लड़के को राज्य मिलने की कोई आशा नहीं है। उस दिन महर्षि बौद्धायन ने हम दोनों को 'पुत्रवतीभव' कहकर आशीर्वाद दिया था। महर्षि का वचन कभी मिथ्या नहीं होता। इसलिए सुनीति को पुत्र जरूर होगा, फिर चाहे वह पहले हो या बाद में। और तब बड़ी रानी का लड़का समझकर बहुतसे प्रजाजन उसका पक्ष लेकर उसकी ओर से लड़ेंगे। मेरा पुत्र निर्बाध राज्य नहीं कर सकेगा। अतः या तो आप सुनीति को रखिए और मुझे विदा दीजिए, या उसे यहाँ से कहीं भेज दीजिये और मुझे मेरा सम्पूर्ण अधिकार दीजिए।"

सुनीति की आँखों में आँसू भर आये। वह गद्गद् होकर बोली—"बहिन, ऐसा क्यों कहती हो? हम दोनों अपने स्वामी की सेवा करके अपने जीवन को सार्थक करेंगी। मुझे राज्य, धन, वैभव किसी चीज की आवश्यकता नहीं है। बस, मेरी तो यही एक इच्छा है कि दिन में दो बार सुबह-शाम पतिदेव के चरण देख लिया करूँ और उनकी पूजा कर लिया करूँ।"

सुरुचि—"नहीं, यह नहीं हो सकता। वसन्त ऋतु में नवीन पल्लव आने के पहले पुरानी पत्तियों को अपने स्थान को छोड़ना ही पड़ता है। अब इस घर में तुम्हारे लिये कोई स्थान नहीं है।"

सुनीति—"महाराज,क्या आपकी भी यही आज्ञा है ?"

राजा का मानो सारा शरीर शतधा विदीर्ण होने लगा। उन्होंने सुरुचि की ओर दीन दृष्टि से देखा। सुरुचि की आँखों से मानो आग की ज्वालाएँ निकल रही थीं। वे निराश हो गये। सुनीति की ओर मुड़कर उन्होंने कातर स्वर से कहा—"प्रिये, मैं क्या कहूँ ? मेरी रक्षा करो।"

सुनीति राजा के मन का भाव समझ गई। हाथ जोड़कर उसने पति के चरणों में प्रणाम किया और कमरे से बाहर हो गई। अपने शरीर पर के अलङ्कार उतारकर उसने एक विश्वसनीय दासी को दिये और पहने हुए कपड़ों में रात के अन्धकार में अदृश्य हो गई।

दूसरे दिन सारे नगर में कोलाहल मच गया—"रानी साहिबा कहाँ गईं ? बड़ी रानीसाहिबा कहाँ गईं ?" पर कोई उनका निश्चित पता न बता सका! एक पहरेदार ने आकर कहा—"अन्तःपुर वासिनियाँ रात को जिस द्वार से यमुना में स्नान करने जाती हैं वह सुबह खुला पाया गया और यमुना की बालू में स्त्री के चरण-चिह्न अभीतक दिखाई देते थे।" यह समाचार सुनकर नगरवासियों ने अनुमान किया कि बड़ी रानीसाहिबा ने यमुना में कूदकर अपने प्राण छोड़ दिये। मर्मपीड़ित राजा का दीर्घ निश्वास आकाश में विलीन हो गया। आँसुओं से पृथ्वी भीग गई। उसी समय से उत्तानपाद के संसार से बड़ी रानीसाहिबा का नाम शनैः शनैः विलुप्त हो गया।

यमुना के उत्तर में कोसों तक एक सघन वन फैला हुआ है। इसी वन के एक भाग में महर्षि अत्रि का पवित्र आश्रम था। अनेक तपोनिष्ठ ऋषि और ऋषिपत्नियाँ यहां निवास करती थीं। यहां न राग था, न द्वेष; न हिंसा थी, न असूया। ऐश्वर्य या विलास का तो यहां नामोनिशान न था। प्रकृति के अपूर्व सौंदर्य का वे उपभोग करते थे, एक-दूसरे के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी होकर अच्छी बातें और सत्कार्य करते हुये अपना जीवन व्यतीत करते थे। आश्रम के एक निर्जन स्थान में एक छोटी-सी कुटीर थी। मालूम होता था इसे बनाये बहुत दिन नहीं हुए हैं। वह साफ-सुथरी थी। आस-पास कंकर या कांटों का नाम न था। इस छोटी-सी कुटीर के आस-पास असंख्य तुलसीवृक्ष लगे हुए थे। एक तपस्विनी इस कुटीर में अकेली रहती थी। आचार-व्यवहार में भी इस तपस्विनी में तथा अन्य तपस्विनियों में थोड़ा-सा अन्तर था। इसकी अंग-कांति तप्त सुवर्ण की भांति थी। शरीर-यष्टि सुललित और सुगठित थी। मुख-मण्डल पर ऐसा शान्त-सात्विक तेज झलक रहा था कि दर्शन करते ही मनुष्य का मस्तक बरबस उसके सामने झुक जाता। उसकी साड़ी गेरुए रंग की थी। कंठ में तुलसीमाला पड़ी हुई थी। सारे शरीर पर चन्दनचर्चित था। अधिकांश समय वह प्रायः समाधि-मग्न ही रहती-हां, कभी-कभी कुटीर से बाहर निकलती और वृक्षों से गिरे हुए पत्ते और फलों को बटोर लेती। वह अत्यन्त दयालु थी। आश्रम में यदि किसीको पीड़ा होती तो वह बराबर उसकी सेवा करने के लिए जाती, शोकार्त्त की सान्त्वना करती, घोंसले से नीचे गिरे हुए पक्षियों तथा मातृहीन मृग-शावकों के पालन-पोषण का काम उसने अपने जिम्मे ले रखा था। उसकी कुटीर हमेशा हरि-नाम से गूंजती रहती थी। जब उसका स्वर बन्द हो जाता तब उसके

पढ़ाये हुए शुक-सारिकादि भगवन्नाम का घोष करते रहते थे। सार यह कि उसकी कुटी एक अत्यन्त पवित्र स्थान हो गया था। आश्रमवासियों की उसपर असीम श्रद्धा थी और महर्षि स्नेहपूर्वक उसे 'आश्रम-लक्ष्मी' कहते थे। अन्य आश्रमवासी भी उसे इसी नाम से पहचानते थे। तपोवन में साधारणतया पूर्वाश्रम का परिचय पूछने का निषेध था, इसलिए कोई पूर्वाश्रम की कथा नहीं पूछते थे। एकमात्र महर्षि अत्रि ही उसका सच्चा परिचय जानते थे।

एक दिन अग्निहोत्र समाप्त कर लेने पर महर्षि अत्रि आश्रम-लक्ष्मी की कुटी पर गये। उन्हें देखते ही आश्रम-लक्ष्मी ने महर्षि के चरणों में प्रणाम किया। उन्हें बैठने के लिए आसन दिया और अर्घ्य-पाद्य आदि से उनका सत्कार किया। महर्षि आसन पर विराजे। आश्रम-लक्ष्मी भी उन्हें दण्डवत् प्रणाम करके उनके सामने एक आसन पर बैठ गई। परस्पर कुशल-प्रश्न हो जाने पर महर्षि बोले—"आश्रम-लक्ष्मी, इस आश्रम में आने पर मैंने एक दिन भी तेरे मुख पर हंसी नहीं देखी। जहाँ तू जाती है तहाँ तेरा मुख उदास ही रहता है। दोनों आँखों में आंसू भरे हुए रहते हैं। तू इतना शोक क्यों करती है?"

आश्रम-लक्ष्मी—"पिताजी मैं न रोऊँगी तो और कौन रोयेगा? बिना रुदन के मेरे पापों का प्रायश्चित्त होना असम्भव है।"

महर्षि—"वत्से, मैं तुझे कितनी बार कह चुका कि तू बिलकुल निष्पाप है। फिर तू व्यर्थ अपने-आपको पापी क्यों समझती है? जिस प्रकार धर्म का अभिमान करना मनुष्य के लिए निन्दनीय है उसी प्रकार अपने आपको हीन समझना भी महान् दोष है।"

आश्रम-लक्ष्मी—"यदि मैं निष्पाप होती तो मुझे इतना दुःख क्यों सहना पड़ता?"

महर्षि—"संकट कहीं हमेशा पापों के दण्ड-रूप ही नहीं होता। कई वार उसमें परमात्मा का विशेष हेतु होता है। देख न, सूर्यदेव प्रखर ताप से पृथ्वी को जला देते हैं सो कहीं उसे उसके पापों की सजा देने के लिये नहीं। वे तो उसे फलद्रूप करने के लिये इतने तपते हैं। परमात्मा हमपर कई वार बहुत बड़ा दुःख डाल देते हैं सो हमेशा हमें अपने पापों के दण्ड-स्वरूप नहीं वरन हमें कोई महत्कार्य करने के योग्य वनाने के लिए करते हैं। मुझे तो निश्चय है कि तेरा यह क्षणिक दुःख भी तेरे द्वारा कोई महान् कार्य कराने के लिये ही परमात्मा ने तुझपर डाला है। यह तेरे कल्याण के लिए ही है। स्वामी के द्वारा परित्यक्त होने पर आज तू जितनी अच्छी तरह संसार के स्वामी को पहचानने लग गई है उतनी अच्छी तरह पहले नहीं पहचानती होगी। अश्रु-प्रवाह से तेरा हृदय धुलकर अब परमात्मा का स्वागत करने के लिये तैयार हो गया है। वेटी, तेरे क्लेश से संसार का कल्याण ही होगा। मैंने दिव्य-चक्षु से देखा है कि तेरे गर्भ से एक ऐसा महापुरुष पैदा होगा, जो सारे संसार में भक्त-चूड़ामणि हो जावेगा। वह अध्रुव और असत्य पदार्थों का त्याग करके ध्रुव और सत्य वस्तु को प्राप्त करेगा।"

आश्रम-लक्ष्मी—"पिताजी, आपके वचन मिथ्या नहीं होंगे। पर मैं कहाँ और मेरे स्वामी कहाँ! क्या मुझे पुनः उनके चरणों के दर्शन होना असम्भव है?"

महर्षि—"हो सकते हैं वेटी, तुझे अपने पतिदेव के दर्शन पुनः हो सकते हैं। विधाता की लीला को कौन जान सकता है? उसकी वही जाने। अच्छा, अब मुझे यहाँ वहुत समय हो गया, मैं चलता हूँ।"

यों कह, आश्रम-लक्ष्मी को आशीर्वाद देकर महर्षि चले गये।

शनैःशनैः पूर्वाकाश से सूर्यदेव गगन के मध्य में आ पहुँचे, और मध्य गगन से धीरे-धीरे अस्ताचल की ओट में छिप गये। अन्धकार ने शनैःशनैः वनभूमि पर अपना अधिकार जमाया। संध्याकाल होते ही आकाश में घनघोर घटा छा गई। वायु प्रबल वेग से बहने लगी, बड़े-बड़े वृक्ष उखड़-उखड़कर जमीन पर गिरने लगे और वनचर प्राणी भय से चिल्लाने तथा इधर-उधर दौड़ने लगे। बात-की-बात में वनभूमि ने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया। पत्तियों के हिलने तथा घोर मर्मर-ध्वनि से शाखाओं के एक-दूसरे के साथ टकराने से, वन में बड़ी भयंकर ध्वनि होने लगी। कुछ देर बाद झंझावात बन्द हो गया और मूसलाधार पानी बरसने लगा। ऐसी भयंकर वृष्टि में बाहर खड़े रहने की हिम्मत किसे थी? सभी आश्रमवासी अपनी-अपनी कुटियों में घुस गये और तूफान के शान्त होने की राह देखने लगे। परन्तु वह तो एक पहर रात तक नहीं ठहरा। आश्रम-लक्ष्मी द्वार बन्द करके अपनी कुटी में अकेली बैठी हुई थी। प्रबल वायु से उसकी कुटी मानो उड़ी जा रही थी। यह देखकर आश्रम-लक्ष्मी का भी दिल काँप रहा था। इतने में किसीने जोर से द्वार खटखटाया और आवाज़ आई—"अरे, घर में कोई है? मेरा प्राण निकला जा रहा है। दरवाज़ा खोलो। मुझे बचाओ।"

पहले-पहल तो आश्रम-लक्ष्मी ने कुछ ध्यान न दिया। पर फिर वही ध्वनि आई और बार-बार आने लगी। तब उसने द्वार खोले और दीपक के प्रकाश में उसकी दृष्टि आगन्तुक मनुष्य पर पड़ी। दोनों एक-दूसरे को देखकर चौंक गये।

"देवी!"

"महाराज!"

इसके बाद दोनों के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल पाया।

आनन्दातिरेक के कारण दोनों मूर्च्छित हो ज़मीन पर गिर पड़े।

कहने की जरूरत नहीं कि आश्रम-लक्ष्मी हमारी वही चिर-परिचित पतिव्रता सती देवी सुनीति थी और आगन्तुक गृहस्थ महाराज उत्तानपाद। प्रासाद को छोड़कर सुनीति यमुना के किनारे-किनारे महर्षि के आश्रम पर आ पहुँची थी। उसका परिचय प्राप्त कर तथा उसके शील पर मुग्ध होकर महर्षि ने उसे बड़े आदर-पूर्वक पुत्री की तरह अपने आश्रम में रख लिया था। वहाँ ऋषियों तथा ऋषि-पत्नियों के सत्संग में सद्वार्त्ता-श्रवण से देवी सुनीति का समय अच्छी तरह बीतने लगा। जनसंकुल अंतःपुर में ध्यान-धारणा के काम में उसके मार्ग में कई बार बाधाएँ पड़ती थीं, वह कठिनाई आश्रम के इस एकान्त स्थान में नहीं रही। जिस प्रकार खेत पहले-पहल सूर्य के ताप से तप जाता है, फिर हल से उसे कमाया जाता है और उसके बाद वर्षा की शीतल धार से नाज पैदा होता है, उसी प्रकार सौत के दुर्व्यवहार से संतप्त होकर तथा स्वामी द्वारा निर्वासित होने के असह्य दुःख से हृदय विदीर्ण होने पर सुनीति ने महर्षि के सदुपदेश से शान्ति प्राप्त करली थी। अब वह ध्रुव के समान सन्तान प्राप्त करने की अधिकारिणी बन गई। इस आकस्मिक घटना से, यथाकाल, उसे पति-सेवा का सुयोग भी प्राप्त हुआ। मृगया से लौटते समय तूफ़ान से पराभूत हो राजा अपनी राह भूल गये और अचानक सुनीति की कुटी पर आ पहुँचे। महर्षि ने उससे ठीक ही कहा था। विधाता की लीला को कौन जान सकता है?

दीर्घ-वियोग के बाद इस अचानक अकल्पित भेंट में राजा और सुनीति के बीच जो बातचीत हुई, राजा ने सैकड़ों-हज़ारों बार अपना अपराध स्वीकारकर किस प्रकार रानी से क्षमा-याचना की, सुनीति ने भी किस प्रकार उदारतापूर्वक एक

पतिव्रता सती को शोभा देने योग्य शब्दों में राजा के सारे संकोच और आत्मग्लानि को दूर किया, ये सब बातें यहाँ लिखने की हम कोई आवश्यकता नहीं समझते। ये बातें ऐसीं हैं जो बिना अनुभव किये समझ में नहीं आ सकतीं। प्रभात होते ही सुनीति ने कृतार्थ हृदय से राजा को प्रणाम किया। राजा भी यथासम्भव पत्नी को धीरज और सान्त्वना देकर अपनी राजधानी की ओर चले गये।

सुरुचि को छोड़े हमें बड़ी देर हो गई। अब उस महत्वाकांक्षिणी रानी की भी ज़रा खबर लें। सौत का कंटक दूर करने पर सुरुचि प्रासाद की एकेश्वरी बन बैठी थी। धन, जन, संपदा और स्वामी इन सभीपर उसीका एकाधिपत्य था। उसने सोचा था कि सुनीति को अपने मार्ग से दूर करते ही मेरे सुख की सीमा न रहेगी। मैं निष्कण्टक और अविच्छेद सुख का उपभोग करूँगी। पर यह हो न सका। उसकी धारणा भ्रममूलक साबित हुई। इसके विपरीत उसके चित्त में घोर अशान्ति ने घर कर लिया। इस अशान्ति का पहला कारण था लोकनिन्दा। यद्यपि उसके आतंक के कारण उसके मुँह पर उसे कुछ कहने की किसीको हिम्मत नहीं होती थी तथापि वह अपने दिल में इस बात को पूरी तरह समझ गई थी कि बड़ी रानी के एकाएक महल से अदृश्य होने का कारण लोग मुझीको समझते हैं। चारों तरफ सुरुचि की निन्दा होती थी। उसकी अशान्ति का दूसरा कारण यह था कि उसका सुख जिसपर आधारित था वह स्वयं सुखी न था। पति-सेवा में रानी सुरुचि अपनी ओर से कोई बात उठा न रखती थी, परन्तु फिर भी वह अपने पति को पूर्णरूपेण सुखी नहीं कर पाई। वह देखती थी कि राजा को भोजन से तृप्ति नहीं होती, रात में नींद नहीं आती, राज-कार्य में भी वे अब पहले की भाँति दिलचस्पी नहीं ले रहे हैं। कभी राजा रात को नींद में

एकाएक चौंक पड़ते तो कभी दीर्घ निःश्वास डालने लग जाते। कभी-कभी तो वे एकान्त स्थल में बैठकर रोते हुए भी पाये जाते। सुनीति के चले जाने पर उसका शयन-गृह, शय्या, वस्त्रालङ्कार सब सुरुचि के हो गये थे। परन्तु वह देखती कि शयन-गृह में प्रवेश करते ही राजा एकदम म्लान हो जाते। उसके पलंग पर सोने की अपेक्षा ज़मीन पर बिस्तर डालकर सोना वे अधिक पसन्द करते थे। सुरुचि इन सब बातों का कारण ठीक-ठीक समझ नहीं पाती थी। वह जो अनुमान करती थी वह उसका हृदय विदीर्ण कर देता था। फिर जिस दिन से राजा मृगया से लौटे तब से तो उनकी जीवन-चर्या में विलक्षण फ़र्क़ दिखाई देने लग गया था। वे सुरुचि के प्रति अपना प्रेम और आदर-भाव व्यक्त करने में कोई बात उठा न रखते थे, फिर भी सुरुचि की तृप्ति नहीं होती थी। हमेशा उसे एक वस्तु का अभाव खटकता रहता था। कई बार सुरुचि सोचती कि इसकी अपेक्षा तो मैं तभी अधिक सुखी थी जब सुनीति यहाँ थी। राजा तो अब मेरा पहले से भी अधिक आदर करते हैं, परन्तु वे मुझसे दिल खोल कर बातें क्यों नहीं करते ?

इसी बीच सुरुचि के एक पुत्र हुआ। अब उसे आशा हुई कि अब तो जरूर सुनीत की अपेक्षा मेरा सम्मान बढ़ जायगा। इस आशा और पुत्र के लालन-पालन में वह अपने चित्तोद्वेग को शनैः शनैः भूलने लगी।

उधर तपोवन में उत्तानपाद के साथ एक रात्रि रहने के कारण सुनीति भी गर्भवती हो गई थी। यथाकाल उसे भी एक परम सुन्दर पुत्ररत्न हुआ। महर्षि अत्रि ने शास्त्रानुसार उस बालक के जातकर्मादि संस्कार किये और उसका नाम ध्रुव रखा। यह संस्कार करते समय अत्रिऋषि ने बालक को आशीर्वाद दिया

कि इस संसार में जो ध्रुव वस्तु है उसे यह बालक प्राप्त करेगा। ध्रुव शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति दिन-दिन बढ़ते हुए अपनी माता के मन और नयनों को तृप्त करने लगा।

शनैःशनैः ध्रुव किशोर अवस्था को पहुँचा। वय के साथ उसके अंग-प्रत्यंग भी विकसित होने लगे। तप्त कंचन के समान उसका वर्ण, सुडौल शरीर, मधुर मुखाकृति इत्यादि देखकर सब मोहित हो जाते। ध्रुव का स्वभाव भी इतना दयालु था कि पशु-पक्षी तक को उसका साथ छोड़ने की इच्छा नहीं होती थी। ध्रुव माता की गोद में बैठकर हरिभजन करना सीख गया। शाम को आश्रम के बालकों को लेकर ध्रुव माता की कुटी के आंगन में बैठकर भजन गाता। वे अन्य बालक भी उसके साथ हरिभजन गाते-गाते नाचने और कूदने लग जाते। यह तो बच्चों का संगीत था। इसमें न ताल थी न सुर। परन्तु फिर भी इसे जो लोग सुनते सब मोहित हो जाते। सफेद बालों वाले ऋषिजन भी इस बाल-संगीत को सुनकर इतने तल्लीन हो जाते कि अपने नित्य-कर्म भूलकर उसे सुनने के लिए घण्टों खड़े रह जाते। ध्रुव की रम्य, गम्भीर, तेजोमयी, सात्विक, भक्तिमयी मूर्ति देखकर सबको यही ख़याल होता कि यह तो कोई भक्ति-रस का नवा-वतार ही है।

कई बार प्रसंगवश ऋषि-बालक अपने-अपने पिता की बात कहते। परन्तु ध्रुव ने तो कभी अपने पिता को देखा ही नहीं था। इसलिए वह अपने पिता के विषय में कुछ भी नहीं कह सकता था। एक बार ऋषि-बालकों ने ध्रुव से पूछा—"भाई, सबके तो पिता हैं, तेरे पिता कहाँ हैं ? हमने तो कभी उन्हें देखा ही नहीं है ?" ध्रुव ने चिन्तित होकर माता से पूछा—"माँ, मेरे पिताजी कहाँ हैं ?" यह सुनते ही सुनीति चौंक गई। उसने

पूछा—"बेटा, आज यह पूछने की इच्छा तुझे कैसे हुई ?"

ध्रुव—"ये ऋषि-बालक कहते थे कि हम सबके तो पिता हैं, केवल तेरे पिताजी नहीं हैं। माँ, क्या सचमुच मेरे पिताजी नहीं हैं ?"

सुनीति—"यह अमंगल वाणी न बोल। कौन कहता है कि तेरे पिता नहीं हैं ? तेरे पिता तो राजराजेश्वर हैं।"

ध्रुव—"माँ, तब वे हमारे पास क्यों नहीं आते ?"

सुनीति—"यह हमारा भाग्य है। वे हमेशा अपनी राजधानी में रहते हैं।"

ध्रुव—"राजधानी कहाँ है ?"

सुनीति—"यमुना के किनारे-किनारे पूर्व की ओर जो रास्ता जाता है वह राजधानी को ही पहुँचता है।"

ध्रुव—"माँ, एक बार राजधानी में जाकर पिताजी से मिल आऊँ ?"

सुनीति दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोली—"बेटा, राजधानी बहुत दूर है। तू अभी बालक है। तू इतना न चल सकेगा। नारायण की कृपा होगी तो वे स्वयं ही तुझे देखने के लिए यहाँ आयेंगे।"

ध्रुव कुछ न बोला। वह अपने साथियों में लौट गया और अपने पिता का परिचय उन्हें सुना दिया। तब तो सभी बालक बोल उठे—भाई, चलो, हम स्वयं राजधानी में चलें और तेरे पिता से मिल आवें।" ध्रुव बोला—"हाँ, चलो; यही मैं भी चाहता हूँ।"

दूसरे दिन सुबह ध्रुव को लेकर सभी बालक राजधानी की ओर चले। एक तो रास्ता किसीको मालूम नहीं था, दूसरे एक

भी बालक को अधिक चलने की आदत नहीं थी, इसलिए भूलते-भटकते भूखे-प्यासे वे दोपहर को राजा उत्तानपाद की राजधानी में पहुँचे। अबतक तो उन्हें खयाल था कि राजधानी भी आश्रम के समान ही कोई छोटी-सी सीधी-सादी बस्ती होगी, पर यहाँ आने पर तो बड़े-बड़े भव्य महल, लम्बे-चौड़े रास्ते तथा विशाल उद्यान और विविध प्रकार के मनुष्यों के झुण्ड-के-झुण्ड दिखाई दिये। यह देखकर वे विस्मित और भयभीत हो गये। राजप्रासाद का रास्ता पूछते-पूछते वे सब प्रासाद के सामने आकर खड़े हो गये।

ध्रुव ने अन्य बालकों को लेकर भीतर प्रवेश किया। ऋषि-कुमारों ने राजा को आशीर्वाद दिया। राजा ने उन्हें प्रणाम करके आसनों पर बैठाया। ऋषि-कुमारों की कोमल वयस, प्रशान्त मुख और सरल भाव देखकर समस्त सभाजन मुग्ध हो गये। इनमें से एक की ओर सबकी आँखें विशेष रूप से आकर्षित हो गईं। यही बालक हमारा ध्रुव था।

अन्य सभी बालक आसन पर बैठ गये, परन्तु ध्रुव राजा के सिंहासन के समीप पहुँचा और नतमस्तक हो हाथ जोड़कर राजा को प्रणाम किया।

राजा बोले—"तुम ऋषि-कुमार हो। मैं क्षत्रिय हूँ। तुम मुझे प्रणाम क्यों करते हो?"

ध्रुव—"आप मेरे पिताजी हैं। मैं आपका पुत्र हूँ।"

राजा—"तुम्हारा नाम क्या है और तुम कहाँ से आये हो?"

ध्रुव—"मेरा नाम ध्रुव है। महर्षि अत्रि के आश्रम से मैं आ रहा हूँ।"

राजा के शरीर में मानो बिजली दौड़ गई। ध्रुव को अपनी गोद में लेने के लिए एक बार तो उन्होंने अपना हाथ भी बढ़ा

दिया। परन्तु फिर लज्जित हो उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। बोले—"वत्स, मैंने तो तुझे कभी देखा नहीं। तू मुझे अपना पिता कहता है, तो यह तो बता कि तेरी माता कौन है?"

ध्रुव—"तपोवन में सभी मेरी माता को आश्रम-लक्ष्मी कहते हैं। परन्तु मैंने सुना है कि उनका पूरा नाम सुनीतिदेवी है।"

"सुनीति" इस शब्द के उच्चारणमात्र ने एक महामंत्र का काम किया। राजा ने लज्जा और सङ्कोच को दूर करके प्रेमावेश में कहा—"बेटा, आ मेरी गोद में!" यों कह उन्होंने ध्रुव को अपनी गोद में बैठा लिया और उसे प्रेम-पूर्वक दृढ़ आलिंगन किया। सभाजन चित्र की भाँति निश्चल होकर इस दृश्य को देखने लगे।

बात-की-बात में सारे नगर में यह ख़बर फैल गई कि बड़ी रानीसाहिबा जीवित हैं और उनका पुत्र राज-सभा में आया है। ये समाचार मिर्च-मसाले के साथ अन्तःपुर में भी जा पहुँचे। सुरुचि ने भी सब सुना। स्वभावतः सुरुचि को तो मानो काठ मार गया। सच्ची बात तो यह है कि उसे उसी दिन से सन्देह हो गया था जिस दिन राजा मृगया से रात को नहीं लौटे थे। अब उसे निश्चय हो गया कि उसका वह सन्देह मिथ्या नहीं था। उसका धैर्य और लज्जा जाने कहाँ चले गये। मारे क्रोध के उसकी मूर्ति अकराल-विकराल हो गई। बाल बिखर गये। आँखें लाल हो गईं। वह उसी प्रकार अपने अन्तःपुर के वेश में ठेठ राजसभा में चली गई। द्वारपालों ने डरकर उसे मार्ग दे दिया। सभाजन उसे एकाएक इस तरह आई हुई देखकर चौंक पड़े। सुरुचि सीधी सिंहासन तक चली गई और अत्यन्त कर्कश स्वर में ध्रुव से पूछा—"तू कौन है?"

"मैं ध्रुव हूँ।"

"ध्रुव! तेरा बाप कौन है? अपनी माता का नाम बता।"

राजा की ओर इशारा करते हुए ध्रुव बोला—"ये बैठे हैं मेरे पिताजी, और मेरी माता का नाम है सुनीतिदेवी।"

सुरुचि गरज कर बोली—"ओ भिखारिन के बेटे! इस सिंहासन पर बैठने की हिम्मत तुझे कैसे हुई?"

'भिखारिन के बेटे' शब्द ध्रुव के हृदय में चुभ गये। उसने कहा—"मेरे पिताजी ने मुझे सिंहासन पर बैठाया है। आप कौन हैं?"

सुरुचि ने गर्वपूर्वक कहा—"मैं रानी हूँ। इस घर के धन-वैभव की मालकिन।"

ध्रुव ने सुरुचि के गर्वयुक्त चेहरे को देखकर कहा—"क्या आप रानी हैं और मेरी माता भिखारिन?"

ध्रुव के इस तीखे प्रश्न ने सुरुचि के मर्मस्थल पर बड़े जोर का प्रहार किया। उसके प्रश्न का जवाब दिये ही बिना सुरुचि बोली—"ध्रुव! यह सिंहासन मेरे बेटे का है। तू इसपर कैसे बैठ गया?"

ध्रुव बोला—"यह सिंहासन तो मेरे पिताजी का है। उन्होंने मुझे इसपर बैठाया है।"

राजा की ओर तीव्र-भेदक दृष्टिपात करती हुई सुरुचि बोली—"महाराज, आपको धिक्कार है! अभीतक आप छल-प्रपंच करना नहीं भूले! मुझपर और मेरे पुत्र पर आपका प्रेम केवल दिखावे के लिए है। अन्यथा जिस स्त्री को आपने महल से निकाल दिया उसके बेटे को सिंहासन पर आप कैसे बैठाते?"

राजा को यों फटकार कर सुरुचि ध्रुव की ओर मुड़ी और बोली—"बेवकूफ लड़के! अगर तू अपने अपमान से डरता हो

तो, अब कभी इस सिंहासन को न छूना। यह सच है कि तू राजा का पुत्र है, परन्तु मेरा बेटा नहीं है। तू एक अभागी औरत का लड़का है। बिना मेरे गर्भ से जन्म लिये इस संसार में किसी लड़के को सिंहासन पर बैठने का अधिकार नहीं है। तू इस सिंहासन पर बैठने के योग्य नहीं है।"

यों कहकर ध्रुव को सिंहासन से जबरदस्ती खींचकर उतारने के लिए हाथ बढ़ाया। परन्तु चतुर बालक पहले ही सिंहासन से नीचे उतर आया था। सुरुचि के इस सारे बर्ताव से ध्रुव के दिल में गहरी चोट लगी। बड़े कष्ट से अपने आँसुओं को रोककर उसने राजा से कहा—"पिताजी! आप राजाधिराज हैं; परन्तु मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं आपकी अपेक्षा भी अधिक ऊँचे पद को प्राप्त कर सकूं। आपके आशीर्वाद से यह सिंहासन ही मेरे बैठने के योग्य न रहे।"

यह कहने के बाद ध्रुव राजसभा में एक घड़ी भर भी नहीं ठहरा। वह फ़ौरन् वहाँ से चला गया। ऋषि-कुमार भी रानी सुरुचि पर नाराज़ होते हुए ध्रुव के पीछे-पीछे चल दिये। सुरुचि के इस बर्ताव से राजा भी मूढ़वत् हो गया। उसकी समझ में यही न आता था कि अब क्या करना चाहिए!

इधर तपोवन से ध्रुव के एकदम अदृश्य हो जाने के कारण उसकी माता बड़ी चिन्तातुर होगई। चारों ओर पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि अन्य ऋषिकुमारों के साथ ध्रुव यमुना-तट से पूर्व की तरफ गया है। सुनीति को निश्चय हो गया कि ध्रुव जरूर राजधानी को ही गया है। अब उसे दूसरी चिन्ताओं ने आ घेरा। बच्चा इतनी दूर कैसे चल सकेगा? उसे देखकर राजा क्या कहेंगे? निर्दय सुरुचि उसके साथ कैसा व्यवहार करेगी? इत्यादि चिन्ताओं के कारण सुनीति का हृदय विकल

हो उठा। परन्तु सौभाग्यवश इतने में तो स्वयं ध्रुव ही आश्रम में आ पहुँचा। उसका उदास चेहरा देखते ही सुनीति ताड़ गई कि उसे कोई दारुण चिन्ता सता रही है। सुनीति ने उसकी सान्त्वना करने की अनेक चेष्टाएँ कीं; परन्तु वह ध्रुव को शान्त न कर सकी। माता की ममता और स्नेह से तो उसके दुःख की मानो बाढ़ आगई। वह रोके न रुका। और छोटे बालक की तरह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। सुनीति का चित्त भी अस्थिर हो उठा। उसने पूछा—"बेटा, तू इतना रो क्यों रहा है? तेरे पिताजी ने तुझे कोई कडुवे वचन तो नहीं कहे?"

ध्रुव बोला—"नहीं मां, उन्होंने तो मुझे स्नेहपूर्वक गोद में उठाकर सिंहासन पर बैठाया था। परन्तु इतने ही में एक स्त्री न जाने कहाँ से राजसभा में आ पहुंची। उसके कपड़े अस्तव्यस्त और मलिन थे। बाल बिखरे हुए थे। आँखों से मानो आग बरस रही थी। उसने कर्कश स्वर में मुझसे कहा, "भिखारिन के पुत्र! तू इस सिंहासन पर बैठनेवाला कौन होता है?" मैंने जवाब दिया, "मेरे पिताजी ने मुझे सिंहासन पर बैठाया है।" यह सुनते ही वह तो ऐसी बिगड़ी कि कुछ कहते नहीं बनता। उसने पिताजी को खूब धमकाया, तुम्हें अभागिन कह डाला और अन्त में मुझे सिंहासन से उतारने के लिए मेरा हाथ पकड़ने को बढ़ी। पर मैं तो अपमान के डर से पहले ही सिंहासन से नीचे उतर गया था। मां, वह स्त्री कौन थी?"

सुनीति सब समझ गई। उसने जवाब दिया—"वह तेरी विमाता है।"

ध्रुव—"विमाता क्या होती है मां?"

सुनीति—"तेरे पिताजी की दूसरी पत्नी। तेरे पिताजी ने

जिस प्रकार मुझसे विवाह किया है उसी प्रकार उससे भी विवाह किया है।"

ध्रुव—"तब, वह रानी और तू भिखारिन कैसे ?"

सुनीति—"बेटा, यह मेरा नसीब। तूने अपनी विमाता से कुछ कहा-सुना तो नहीं ?"

ध्रुव—"नहीं मां, उसे तो मैंने एक अक्षर भी नहीं कहा। हाँ, लौटते समय मैंने पिताजी से यह जरूर कहा था कि "पिताजी आप राजराजेश्वर हैं। परन्तु मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं आपकी पदवी से भी किसी ऊँची पदवी को प्राप्त कर सकूँ।"

सुनीति ने ध्रुव को गोद में लेकर स्नेह करते हुए कहा—"बेटा, नारायण तेरी मनोकामना अवश्य पूरी करेंगे। तू उन्हीं-को याद कर।"

ध्रुव—"मां मैं नारायण को कैसे याद करूँ ?"

सुनीति—"उन्हें पुकारता जा। कहना, 'हे पद्मलोचन भगवान् आप कहाँ हो' ?"

ध्रुव—"तो वे मेरी पुकार सुनलेंगे ?"

सुनीति—"यदि तू मन से पुकारेगा तो क्यों न सुनेंगे ?"

ध्रुव—"वे हैं कहाँ ?"

सुनीति—"आकाश में, वायु में, जल में, थल में, मेरे और तेरे हृदय में। वे फल में हैं, फूल में हैं। नारायण सब जगह विराजते हैं, बेटा ! तेरी प्रेमभरी पुकार सुनते ही वे दौड़ पड़ेंगे।"

ध्रुव—"तब मैं यह चला। हरि को ढूँढूंगा। तुम मेरे लिए शोक न करना। जबतक भगवान् नारायण के दर्शन नहीं करूँगा तबतक वापस नहीं लौटूंगा।"

सुनीति ने ध्रुव को बहुतेरा समझाया, परन्तु ध्रुव अपने निश्चय से न डिगा। अन्त में सुनीति ने अपने हाथों ध्रुव को

सन्यासी का वेश पहनाया। उसके सिर के लम्बे बालों की जटा बनाई, वस्त्र उतारकर उसे बल्कल पहनाये, कान में तुलसी की मंजरी खोंसी, उसके ललाट और वक्षःस्थल पर हरि के पद-चिह्न अंकित किये और तब हाथ जोड़कर बोली—"हे पद्मलोचन नारायण, आजतक ध्रुव मेरा था, अबसे वह आपका है। आप उसकी रक्षा कीजिये।"

माता के चरणों की वन्दना करके ध्रुव विदा हुआ।

महर्षि अत्रि के आश्रम से बहुत दूर सघन वन में ध्रुव ने अपना आश्रम बनाया। आश्रम नहीं, उसे तो आसन कहना अधिक सार्थक होगा। उस वन में एक निर्झरिणी के तट पर एक पुराना वट-वृक्ष अपनी शाखाएँ फैलाये हुए खड़ा था। उसके नीचे एक अच्छी साफ़-सुथरी इकसार शिला पड़ी हुई थी। ध्रुव ने इसी शिला को अपना आसन और उस विशाल वृक्ष को अपना आश्रय अथवा आश्रम बना लिया। वहीं बैठकर वह ध्यान और भगवत्‌चिंतन करता था। ध्रुव तो यह भी नहीं जानता था कि तपस्या कैसे की जाती है। आसन, प्राणायाम, मनन, निदिध्यास इनमें से ध्रुव कुछ भी नहीं जानता था। माता ने जिस महामन्त्र की दीक्षा दी थी, बस वह तो उसीका जप दिन-रात करता रहता था। वही उसकी उपासना, आराधना और तपस्या थी। माता ने कहा, नारायण सर्वत्र हैं। ध्रुव भी प्रत्येक वस्तु से—वृक्ष, लता, शिला इत्यादि से पूछता, 'तुम्हीं हो मेरे देव नारायण ?' ध्रुव की भोली-भाली भक्ति देखकर सारी जड़-चेतन सृष्टि मुग्ध हो गई। समस्त सृष्टि उसके वश में हो गई। उसके निश्चय प्रेम और भक्ति के कारण वृक और व्याघ्र जैसे हिंस्र पशु भी पालतू कुत्ते की तरह उसके चरणों को चाटने लगे। भयंकर भुजंग उससे खेलने लगे। स्थावर सचेतन सृष्टि फल-फूलों से सुशोभित हो गई। माता धरित्री के

स्तनों से निर्मल जल-वाहिनी निर्झरणियों के रूप में वात्सल्य-रस वह निकला। ध्रुव तो रात-दिन जड़-चेतन समस्त वस्तुओं से केवल एक ही प्रश्न पूछता—'पद्मलोचन हरि, आप कहाँ हैं ? आप जहां कहीं हों वहां से आकर मुझसे मिलें।' इस तरह व्याकुल चित्त से पुकारते-पुकारते कई दिन बीत गये। ध्रुव ने सोचा—'मां ने कहा था कि दिल से पुकारने से हरि तुझे मिल जायेंगे। पर मैं तो कई दिन से व्याकुल होकर उन्हें पुकार रहा हूँ। फिर भगवान् मुझसे क्यों नहीं मिलते ?'

एक दिन ध्रुव ने देखा कि एक सौम्य-मूर्ति पुरुष उसकी ओर आ रहा है। उसके मस्तक के केश सफेद थे और मूछें, वस्त्र तथा कण्ठ में पड़ी हुई पुष्पमाला भी श्वेत ही थे। उसका मुख हास्य के कारण उज्ज्वल दिखाई देता था। मुख से निरन्तर भगवन्नाम का उच्चारण हो रहा था। ध्रुव ने सोचा, वे ही मेरे नारायण हैं। ध्रुव दौड़ा और अपने कोमल हाथों से उस पुरुष के पैरों में लिपटकर पूछने लगा—"मेरे पद्मलोचन हरि आप ही हैं न ?"

आगन्तुक पुरुष ने ध्रुव को अपनी गोद में उठाकर कहा—"वत्स, मैं तो तेरे पद्मलोचन हरि का दासानुदास हूँ। मेरा नाम नारद है। उन्होंने मुझे तेरे कुशल-समाचार पूछने को भेजा है।"

ध्रुव—"क्या उन्होंने मेरी पुकार सुन ली ?"

नारद—"जिस दिन से तूने पहले-पहल उन्हें पुकारना शुरू किया तभीसे वे बराबर सुन रहे हैं।"

ध्रुव—"फिर वे आते क्यों नहीं ?"

नारद—"मैं लौटकर उन्हें कहूँगा तब वे जरूर आयेंगे।"

ये शुभ समाचार सुनकर ध्रुव की आंखों से आंसू बहने लगे। नारद बोले—"ज़रा मुझे बता तो सही, तू उन्हें किस तरह पुकारता है ? हां देखें, एक बार सुना तो ?"

ध्रुव बोला"—"पद्मलोचन हरि आप कहां हैं ? आओ ! आओ !"

नारद—"तू और तो कुछ नहीं न कहता ?"

ध्रुव—"नहीं, मां ने जो सिखाया है वही कहता हूँ "

नारद—"तब मैं कहता हूँ इस तरह पुकार—'पद्मलोचन हरि, आप कहां हैं ? आओ, मुझपर दया करके आओ !"

ध्रुव ने भी यही दोहराकर कहा।

नारद ने फिर बताया "पद्मलोचन हरि आप कहां हैं ? आप मेरी माता पर दया कीजिए।"

ध्रुव ने भी यही कहा

नारद ने पुनः कहा—"बोलो वत्स, पद्मलोचन हरि आप कहां हैं ? आओ, मेरे पिताजी पर दया करो।

ध्रुव ने देवर्षि के बताये मन्त्र का फिर उच्चारण किया।

देवर्षि पुनः बोले—"कहो, 'पद्मलोचन हरि, आप कहाँ हैं ? आओ मेरी विमाता पर दया करो।"

ध्रुव चुप रहा।

नारद बोले—"कहो वत्स ! पद्मलोचन हरि, आओ, मेरी विमाता पर दया करो !'।"

ध्रुव बोला—"विमाता ने तो मुझे बड़ा दुःख दिया है।"

नारद—"इसीलिए तो हरि से उसके लिए प्रार्थना करनी पड़ेगी।"

ध्रुव फिर भी चुप रहा। तब नारद बोले—"तो ले, यह मैं चला। क्या तू नहीं जानता कि भक्त के दुःख से भगवान् दुःखी होते हैं ? तेरी विमाता के वचनों से जितना दुःख तुझे हुआ है उससे कहीं अधिक क्लेश पद्मलोचन हरि को हुआ है। पर फिर भी वे तेरी विमाता को चाहते हैं। और तू उसे नहीं चाह सकता ?"

क्षण भर के लिए ध्रुव चुप रहा। नारद के मुँह के सामने उसने ज़रा गौर से देखकर पूछा—"क्या कहा आपने? मेरे पद्मलोचन हरि मेरी विमाता को चाहते हैं? तब तो मैं भी उन्हें चाहूँगा।" यों कह ध्रुव बोला—"हे पद्मलोचन हरि, आप कहाँ हैं? आओ, मेरी विमाता पर दया करो।"

ध्रुव ने देखा कि दूसरे ही क्षण नारद अन्तर्धान हो गये और वसुन्धरा एक अपूर्व प्रकाश से जगमगा उठी। सारा वन-प्रदेश एकाएक किसी अपूर्व सौरभ से मस्त हो गया। क्षण भर में ध्रुव के कानों पर कहीं से स्वर्गीय संगीत की ध्वनि सुनाई देने लगी। ध्रुव के सामने वही नारायण की मंगल-मनोहर दिव्य मूर्ति प्रकट हो गई, जो इतने दिनों से उसके हृदय पर अंकित थी। भक्त और भगवान् का मिलन अप्रतिम होता है। भाषा द्वारा वह व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका अनुमान तो वही कर सकता है जिसने कभी अपने जीवन में इस रस का आस्वादन किया है। ध्रुव कृतार्थ हुआ। उसने अन्तर्बाह्य पद्मलोचन हरि के दर्शन किये और कृतार्थ होकर वह वापस लौटा।

आँखों के तारे ध्रुव को वापिस आता हुआ देखकर माता सुनीति के आनन्द की कोई सीमा न रही। वह भी कृतार्थ हो गई। महर्षि अत्रि, उनकी पत्नी, तथा अन्य आश्रमवासी सुनीति की कुटी पर एकत्र हो गये और ध्रुव को अपनी गोद में लेकर उसे अशीर्वाद देने लगे। महर्षि अत्रि बोले—"इतने दिन बाद आज मेरा आश्रम सचमुच पुण्यक्षेत्र बना है। भक्त-चूड़ामणि ध्रुव को अपने हृदय से लगाकर आज मेरा जन्म सफल हुआ।"

उधर जिस क्षण ध्रुव ने अपनी विमाता के लिए प्रार्थना करना शुरू किया, उसी क्षण से सुरुचि के अन्तःकरण में भी एक अपूर्व

परिवर्तन शुरू हो गया। ध्रुव को अपनी गोद में बैठाने तथा सुनीति से क्षमा-याचना करने के लिए वह व्याकुल होगई। शीघ्र ही वह राजा उत्तानपाद के साथ महर्षि अत्रि के आश्रम पर पहुँची। वहाँ सुनीति की कुटी पर जाकर वह उसके चरणों में गिर पड़ी और उसके दोनों चरण पकड़कर बोली—"जीजी ! अबतक मैं मूर्खा थी। मूर्खा के अपराध क्षमा करने चाहिएँ। तुम मेरे सब दोषों को क्षमा करो; नहीं तो मैं यहीं तुम्हारे चरणों में अपने प्राण छोड़ दूंगी।"

सुनीति बोली—"बहिन, तुम्हारे ही कारण तो मेरा ध्रुव पद्म-लोचन हरि के दर्शन करने योग्य भाग्यशाली हो सका। मैं तुम्हारे दोष का कभी खयाल नहीं करूँगी। चलो बहिन, हम दोनों रानियाँ हिल-मिलकर आजीवन अपने पतिदेव की सेवा करें।"

सुनीति और सुरुचि के शेष जीवन की कथा का वर्णन करना अब निष्प्रयोजन है। महर्षि अत्रि, उनकी धर्मपत्नी तथा अन्य आश्रमवासियों से विदा हो और अपनी दोनों पत्नियों तथा भक्त-राजा ध्रुव को लेकर राजा अपनी राजधानी को लौट गये। राजा और सुरुचि ने सुनीति और ध्रुव का बड़े समारोह के साथ नगर-प्रवेश कराया। जनता ने भी सुनीति को ध्रुव की उच्च और उदात्त शिक्षा के लिए खूब धन्यवाद दिये। इसके बाद रानी सुनीति और सुरुचि ने अपना शेष जीवन बड़े आनन्द के साथ व्यतीत किया।

हरिश्चन्द्र पत्नी

शैव्या

प्राचीन काल से पुराण-प्रसिद्ध पवित्र अयोध्या नगरी में राजा हरिश्चन्द्र राज्य करते थे। तारामती उनकी सहधर्मिणी थीं, जो शिव-तनया होने के कारण साधारणतः शैव्या के नाम से प्रसिद्ध हैं। जहाँ राजा बड़े सत्यवादी थे, शैव्या स्त्री-जाति का गौरव थीं। अनेक वर्षों तक उनके कोई सन्तान नहीं हुई, तब पति-पत्नी ने कठोर तपश्चर्या करके भगवान् वरुण के वर से एक पुत्र प्राप्त किया। अब तो उनकी सुख की सीमा न रही। राजा का अन्तःकरण और भी खिल गया। सत्यवादी तो थे ही, उन्होंने अब नाना प्रकार के दान देकर तथा यज्ञ-याग करके विपुल पुण्य का संचय किया। राज्य में अनेक प्रकार के सुधार करके प्रजाजनों को भी सन्तुष्ट किया। राजा-प्रजा पिता-पुत्र की तरह सुखपूर्वक रहने लगे। राजा के सुशासन की कीर्ति त्रैलोक्य में फैल गई।

अमरपुरी में एक दिन यही विषय छिड़ गया कि भूलोक में आजकल सबसे अधिक पुण्य-प्रतापी राजा कौन है? विविध लोक-विहारी देवर्षि नारद ने कहा—"यों सत्ता और वैभव में तो कई राजा एक-से-एक बढ़कर हैं, परन्तु पुण्य-प्रताप में तो राजा

हरिश्चन्द्र से बढ़कर मुझे कोई नहीं दिखाई देता। उसकी सत्यनिष्ठा कमाल की है।"

यह सुनकर ब्रह्मर्षि का हृदय फूल उठा। अपने शिष्य की प्रशंसा किस गुरु को प्रिय न होगी? परन्तु वशिष्ठ को हर्षित देखकर विश्वामित्र की चिर-विस्मृत ईर्ष्या जाग उठी। वे बोले—"यह सब मुँहदेखी बात है। कौन कहता है कि हरिश्चन्द्र अत्यन्त पुण्यशील और प्रतापी राजा है? भूलोक आखिर भूलोक ही है। सत्यनिष्ठा तो अब कथा-कहानियों का विषय ही रह गई है।"

"परन्तु मुनिवर", वशिष्ठ ने कहा, "अभीतक शायद आपको हरिश्चन्द्र से मिलने का मौक़ा नहीं हुआ। वे वस्तुतः ऐसा ही सत्यनिष्ठ है।"

विश्वामित्र—"मैं ऐसी बातों को अन्धे की तरह मानने वाला नहीं हूँ।"

वशिष्ठ—"हां, आप उसकी परीक्षा करने के लिए स्वतन्त्र हैं।"

लापरवाही दिखाते तथा सौम्य शब्दों में वशिष्ठ की चुनौती स्वीकार करते हुए विश्वामित्र ने जवाब दिया—"अच्छा, समय आने पर देखा जायगा।"

इसके बाद विषय बदल गया और शीघ्र संध्या-समय देवर्षिगण संध्या-वंदन के लिए उठ गये।

एक बार, घूमते हुए, विश्वामित्र अयोध्या पहुँचे और राजा हरिश्चन्द्र से राज्य की याचना की। हरिश्चन्द्र ने श्रद्धापूर्वक ऋषि की कपटयाचना को स्वीकार करते हुए कहा—"भगवन्, यह लीजिए। हरिश्चन्द्र का राज्य गो-ब्राह्मणों की सेवा के लिये ही है।"

हरिश्चन्द्र ने जल मँगाया और उसी समय संकल्प करके राज्य विश्वामित्र को सौंप दिया।

परन्तु विश्वामित्र ने कहा, "विना दक्षिणा के दान व्यर्थ है। इसके साथ तुम्हें दक्षिणा भी तो देनी चाहिए।"

"भगवन्", हरिश्चन्द्र ने कहा, "दक्षिणा के लिए भी आप जो चाहें माँग लें। अब हम तीनों रहे हैं। चाहे दक्षिणा में हमें रखें, या और किसीको बेच दें।"

विश्वामित्र ने कहा—"मैं इस झंझट में नहीं पड़ूंगा। मैं तुम्हें एक महीने का समय देता हूँ। इस बीच तुम मेरी दक्षिणा चुका देना। नहीं तो मेरे शाप को जानते ही हो। अब क्षणभर भी मेरे राज्य में न ठहरो। अब यह भूमि और ऐश्वर्य मेरा हो गया है।" और राज्य-संचालन के विषय में मंत्रियों को कुछ सूचनाएँ देकर वे चले गये।

मन्त्री और प्रजाजन विस्मित थे। पर किसीके मुख से एक अक्षर तक न निकला। आखिर एक साहसी युवक मन्त्री ने कहा, "राजन्, दान में भी विवेक की आवश्यकता है। राज्य का दान करना अनुचित है। यह सम्पत्ति पैतृक है। इससे केवल आपके अपने जीवन का सम्बन्ध नहीं है। असंख्य प्रजाजनों के जीवन का यह प्रश्न है। एक संकल्प-मात्र से हम बिना उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता का विचार किये उनको निर्जीव सम्पत्ति के समान दूसरे को कैसे अर्पण कर सकते हैं?" परन्तु राजा की विचार-शैली जुदी थी। वे राज्य को अपनी सम्पत्ति समझते थे। वे ऋषि को यह वचन दे चुके थे कि आप जो चाहेंगे मैं दूंगा। दान देने पर तो उसे वापिस लेने या उसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु, वे अपने निश्चय पर अटल रहे।

सारी नगरी में सन्नाटा छा गया। राजा एक साधारण मनुष्य की भाँति पैदल ही रानी शैब्या के महल पर पहुँचे। शैब्या भी

सब सुन चुकी थी। क्षणभर के अन्दर ही शैव्या ने अपने भावी जीवन के विषय में निश्चय कर लिया। एक दासी को उसने कुमार को बुलाने के लिए भेजा और अपनी सारी चिन्ता को दबाकर वह पति के स्वागत के लिये खड़ी हो गई। उसने कहा—"महाराज, आपके अप्रतिम दान के शुभ समाचार मुझे मिल गये। आपका यह महत्कार्य सूर्यवंश को शोभा देने योग्य ही है। मैं इसमें आपका साथ दूँगी। धर्म-साधना में दुःख और पीड़ा तो होती ही है। परन्तु ऐसे दुःखों और पीड़ाओं को बिना सहन किये मनुष्य धर्म-कार्य के रहस्य को भी नहीं समझ सकता। हे आर्यपुत्र, आप ज़रा भी चिन्ता न करें। सत्य-पालन के लिए हम सब कुछ सहने को तैयार हैं। वह देखिए, कुमार भी आगया। हमें अब इस दान-भूमि को छोड़ने में विलम्ब न करना चाहिए। आप मेरे प्रभु हैं, स्वामी हैं, परमआराध्य देवता हैं। आपके धर्मानुष्ठान में साथ देना मेरा परमधर्म है।"

संसार में योग्य सहधर्मचारिणी का मिलना बड़े सौभाग्य की बात है। वह सुख को द्विगुणित कर देती है और बड़े-से-बड़े दुःख को अपने त्यागमय जीवन से बहुत-कुछ सह्य बना देती है। शैव्या के उपर्युक्त वचनों से सत्यवीर हरिश्चन्द्र के हृदय को बहुत बल मिला। इसके बाद राजा, रानी और कुमार सब विदा लेकर पुण्यधाम काशी की ओर चले। सारे राज्य में शोक छा गया। विश्वामित्र की कठोर आज्ञा थी कि प्रजाजनों में से जो हरिश्चन्द्र को स्थान देगा या उससे सहानुभूति दर्शावेगा वह कठोर दण्ड का पात्र होगा। अतः प्रजाजनों का दिल भीतर-ही-भीतर टूट रहा था, परन्तु वे लाचार थे।

शैव्या, सुकुमारी शैव्या, राजमहलों के सुखों में संवर्धित हुई शैव्या आज नंगे पैर वन-काननों में घूम रही थी। पर उसे अपनी

तनिक चिन्ता नहीं थी। वह तो चिन्तित थी अपने पति और पुत्र के लिए। उन्हें इन कष्टों को झेलते हुए देखकर उसका हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा था। परन्तु फिर भी उसने अपने मुँह से निरुत्साह और निराशा का एक अक्षर भी न निकलने दिया। अपने मीठे शब्दों तथा मधुर हास्य से वह दोनों को बराबर उत्साह दिलाती ही रही।

हरिश्चन्द्र, शैव्या और पुत्र रोहित तीनों अनेक कष्ट और आपदाएँ झेलते हुए काशी पहुँचे। पर वहां भी उनके लिए सुख कहाँ था? ऋषि की दक्षिणा की चिन्ता उन्हें रात-दिन सता रही थी। बड़े कष्ट करके तो वे तीनों अपना पेट भर पाते थे। महीने भर में एक सहस्र मुद्राएँ कहाँ से एकत्र कर सकते थे? और एक महीना तो बात-की-बात में बीत गया। निष्ठुर महर्षि पुनः आ पहुँचे और अपनी दक्षिणा मांगने लगे। हरिश्चन्द्र ने कहा—भगवन्, हम तीनों आपकी सेवा में मौजूद हैं। आप हमसे जो चाहें काम लीजिए। हम आजन्म आपके दास होकर रहेंगे।"

विश्वामित्र ने कहा—"चालबाजी से काम न चलेगा। तुम मेरे किस काम के? मुझे तो एक सहस्र मुद्राओं की जरूरत है। वह लाओ, नहीं तो शाप देता हूँ।"

हरिश्चन्द्र काँप गये। बोले, "महाराज, एक महीने में अभी एक दुपहरी बाकी है। आज शाम को पूरा महीना होगा। तब तक मैं किसी प्रकार आपकी दक्षिणा की व्यवस्था कर दूंगा।"

"शाम तक व्यवस्था न हो सकी तो निश्चय ही मैं शाप दे दूंगा। मुझमें अब शान्ति नहीं है।" यों कह, शाम को लौटने की धमकी देकर, विश्वामित्र चले गये।

इधर हरिश्चन्द्र इस चिन्ता में ग्रस्त हुए कि अब क्या करना चाहिए? बहुत कुछ सोच-विचार के बाद वे इसी नतीजे पर

पहुँचे कि दूसरे से याचना करने की अपेक्षा तो यही श्रेयस्कर है कि अपने-आपको बेचकर ऋषि का ऋण चुका दें। परन्तु पत्नी और पुत्र की चिन्ता से वह पुनः खिन्न हो गये।

चतुर शैव्या से वह अपनी चिन्ता को नहीं छिपा सके। शैव्या ने कहा—"नहीं महाराज! आपको न बिकने दूंगी। मैं स्वयं बिक जाऊँगी। आप रोहित का पालन-पोषण कीजिए और अपने पराक्रम से फिर कहीं अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कीजिए। रोहित हमारे कुल को आगे चलायेगा। अब यह आवश्यक नहीं कि मैं भी आपके साथ ही रहूं।"

शायद ही संसार ने इससे अधिक कठोर कर्त्तव्यपरायणता के वचन सुने हों। 'मैं बिक जाऊँगी, दूसरे की गुलामी स्वीकार करूँगी, परन्तु पति के पुण्य और यश को कलङ्कित न होने दूँगी।' एक पतिव्रता स्त्री के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर कर देने की अपेक्षा भी कहीं अधिक कठिन यह आत्मोत्सर्ग है। परन्तु यही हरिश्चन्द्र का भी मर्मस्थान था। वे पत्नी को अपनी आँखों बिकते हुए देखें इसके बजाय इस बात को ज्यादा पसन्द करते थे कि वे स्वयं बिक जायें। प्रसंग बड़ा ही विकट था। एक महीने पहले जो अयोध्या का राजा था आज वही बाजार में खड़े-खड़े यह विचार कर रहा है कि पत्नी को बिकने दूँ, या मैं ही बिक जाऊँ!

पति को चिन्तामग्न देखकर शैव्या फिर बोली—"महाराज, मुझे इस विषय में ज़रा-सी भी चिन्ता नहीं कि आप धर्मानुष्ठान में कभी हिचकिचायेंगे। मैं तो सिर्फ यही चाहती हूं कि आप मुझे बिक जाने दें। एक सहस्र मुद्राओं में मैं जरूर बिक सकती हूँ। आप और कुमार रोहित स्वतन्त्र रहेंगे तो मेरे पुनः छुटकारे की आशा तो बनी रहेगी। इसके विपरीत आप ही बिक जायेंगे

तो मैं और रोहित भी उसी क्षण बिके-बिकाये हैं। तब हमारा पोषण कौन करेगा? हमें भी बिकना ही होगा। रहा मेरा सतीत्व; सो इस विषय में तो आप निश्चिन्त रहें। इस संसार में पतिव्रता स्त्री की ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता। पतिव्रता अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने सतीत्व की रक्षा करना जानती है; फिर महाराज हरिश्चन्द्र की रानी पर हाथ डालने की हिम्मत तो हो ही किसे सकती है?"

शाम हुई जाती थी। महर्षि के शाप की तलवार तीनों के सिर पर लटक रही थी। ऐसी अवस्था में भविष्य को आशा को देखते हुए, पत्नी को बेचने के सिवाय, हरिश्चन्द्र के लिए कोई मार्ग ही नहीं था। अतः पत्नी और सुकुमार बालक को लेकर एक जन-संकुल चौराहे पर वह गये। दुःखोद्वेग के कारण हृदय उमड़ रहा था। मुँह से शब्द तक नहीं निकलता था। आखिर शैव्या ने कड़ा दिल करके पास में खड़े हुए एक व्यक्ति से कहा, "किसीको दासी खरीदना है?" यह सुनते ही आस-पास के पाँच-सात व्यक्तियों का ध्यान भी इधर आकर्षित हो गया। किसीने पूछा, "कौन है दासी?" शैव्या बोली, "मैं ही बिकना चाहती हूँ।" बात-की-बात में उस अभिजात किन्तु दुर्गत परिवार के आस-पास एक खासी भीड़ इकट्ठी हो गई। पर एक सहस्र मुद्राएँ देने की किसीको हिम्मत न हुई। अन्त में एक वृद्ध ब्राह्मण आगे बढ़ा। शैव्या को देखते ही उसको निश्चय हो गया कि शैव्या किसी उच्चकुल में पैदा हुई है। ब्राह्मण ने कहा—"मेरी गृहिणी बूढ़ी हो गई है। घर में काम-काज के लिए एक दासी की आवश्यकता भी है। पर मैं एक सहस्र मुद्राएँ तो नहीं दे सकता।" बड़ी मुश्किल से ब्राह्मण ने तारामती के मूल्य-स्वरूप ५०० सुवर्ण-मुद्राएँ देना स्वीकार किया। हरिश्चन्द्र विषण्ण हृदय से एक तरफ़ खड़े थे।

ब्राह्मण ने ५०० मुद्रायें उनके अंचल में डालीं और शैव्या को लेकर चलने को तैयार हुआ।

पर वह सौदा किसी नाज, फल या खिलौने का नहीं था। दुर्भाग्यवश उसमें तीन आत्माओं के दृढ़तम और सुस्निग्ध प्रेम-बन्धन का प्रश्न था। बिक जाने पर भी न तो शैव्या के पैर वहाँ से उठते थे और न रोहित तथा हरिश्चन्द्र ही ढाढ़स बाँध सके। तारामती ने ब्राह्मण से कहा—"विप्रदेव, निःसन्देह मैं आज से आपकी ख़रीदी हुई दासी हूँ। परन्तु मातृत्व के बन्धन अत्यन्त दुस्तर होते हैं। अतः बिक जाने पर भी मैं आपके यहाँ भली-भांति काम-काज न कर सकूंगी और न यह बालक ही सुखी रहेगा। अतः यदि आप इस बालक को भी ख़रीद लें तो बड़ी कृपा हो। हम दोनों मां-बेटे एकसाथ रह सकेंगे, और आपके काम-काज में भी सुविधा हो जायेगी। साथ ही वह ऋण भी कुछ और हलका हो जायगा जिसके कारण हम इस विपत्तावस्था में गिरे हुए हैं।"

ब्राह्मण दयालु था। मां-बेटे का वियोग उससे न देखा गया। उसने कुछ सुवर्ण-मुद्राएँ और देकर रोहित को भी ख़रीद लिया। शैव्या ने हरिश्चन्द्र के चरणों को प्रणाम किया और कहा—"नाथ, घबराइये नहीं। विपत्ति धर्म की कसौटी है। धर्माचरण हमारी नौका है, वही हमें पार लगावेगा। हमें आशीर्वाद दीजिए। परमात्मा कल्याण करेगा।" इसके बाद हरिश्चन्द्र को वहीं छोड़ वह पुत्र-सहित उस ब्राह्मण के साथ चली गई।

हरिश्चन्द्र के लिए यह वियोग राज्य-त्याग की अपेक्षा कहीं अधिक दुःखदायी था। परन्तु अब दुःख करने का समय नहीं था। शाम हुई जा रही थी। सूर्यास्त के पहले ऋषि को दक्षिणा की मुद्राएँ देने का उसने वचन दिया था। अतः शोकातुर चित्त

से वह अपने-आपको भी वेंचने के लिए आगे बढ़ा। लोगों को पुकारकर उसने कहा—"अगर किसीको एक दास को जरूरत हो तो, आइये, मैं अपने को वेचना चाहता हूँ।"

यह पुकार सुनकर प्रवीह नामक एक चाण्डाल आया। वह बोला, "इस नगरी के मुर्दों के वस्त्रों को लेने का अधिकार मुझे है। मुझे इस काम के लिये एक दास की आवश्यकता है।" हरिश्चन्द्र चाण्डाल के यहाँ बिकना नहीं चाहते थे। परन्तु अब समय बहुत थोड़ा रह गया था। पल-पल पर ऋषि के आ जाने की सम्भावना थी। यह भय था कि इस मौके को हाथ से छोड़ देंगे तो पता नहीं कोई दूसरा आदमी उन्हें मिले या न मिले। अतः उन्होंने अपने-आपको चाण्डाल के हाथों बेच दिया। वे मुद्राएँ गिन ही रहे थे कि विश्वामित्र भी वहाँ आ पहुँचे। दक्षिणा की शेष मुद्राएँ उन्हें सौंपकर हरिश्चन्द्र ने उन्हें विदा किया और आप चाण्डाल के साथ हो लिये। चाण्डाल ने जाते ही उन्हें श्मशान पर आने-वाले मुर्दों के वस्त्र इकट्ठे करने के काम पर तैनात कर दिया।

श्मशान पर आते ही जीवन की नश्वरता उनके सामने मूर्तिवत् खड़ी हो गई। पूर्वजीवन एक स्वप्न के समान दिखाई देने लगा। शैव्या और रोहित का बार-बार ख़याल आता, पर कठोरतापूर्वक उसे हटा देते। वे सोचते, "यह विश्व एक रंगभूमि है। हमारा जीवन एक नाटक है। हमें कभी किसीका अभिनय करना पड़ता है, कभी किसीका। वास्तव में हम सब एक हैं। मृत्यु पटाक्षेप है। इसके बाद हम अपने असली रूप में मिलते हैं। शैव्या और रोहित भी नट हैं। परन्तु उनका कोमल शरीर उन्हें बार-बार याद दिलाता कि वे दास नहीं अयोध्या के राजा हैं। वे दास की तरह कठिन परिश्रम करने जाते, पर उन्हें अनेक कष्ट होते। उनके अन्दर धर्मनिष्ठा की अमर-ज्योति थी। श्मशान

में आने पर वह और भी अधिक तेज प्रकट करने लग गई। सूर्यवंश के आदर्श राजा हरिश्चन्द्र काशी में आदर्श सेवक और आदर्श चाण्डाल का काम करने लगे। नट कुशल थे। सूत्रधार ने जिस भूमिका को धारण करने का उन्हें आदेश दिया उसीको उत्तम रूप से कर दिखाने का उन्होंने निश्चय कर लिया। यह आपत्ति आपत्ति नहीं, धर्म-परीक्षा की धधकती हुई आग थी।

शैव्या भी इस अद्वितीय पुरुष के योग्य ही थी। वह भी ब्राह्मण के यहाँ वृद्धा ब्राह्मणी की सेवा करते हुए अपने दिन काटने लगी। ब्राह्मणी के यहाँ दिनभर काम करती और अपने बेटे का मुंह देखकर अपने दिल को बहला लेती। पर कुमार रोहित तो अबोध था। उसके लिये पुरानी बातों को भुलाना बहुत कठिन था। एक दिन वह अपनी माता से पूछने लगा—"मां, पिताजी कहाँ गये?" शैव्या की आँखों में आँसू आ गये। वह क्या बताती?

पर तारा के भाग्य में इससे भी अधिक दुःसह दुःख बदा था। मानो परमात्मा उसकी परीक्षा ही लेना चाहते थे। एक दिन शाम को रोहिताश्व अपनी माता की आज्ञा लेकर मुहल्ले के दूसरे लड़कों के साथ शहर के बाहर एक बगीचे में फूल चुनने गया। वह फूल चुन रहा था कि कहीं से एक भयंकर साँप आया और उसने रोहिताश्व को डस लिया। बेचारी दुखिया का एकमात्र सहारा भी न रहा। बालकों ने दौड़कर यह दुःखदायी खबर शैव्या को सुनाई। वह तो सुनते ही मूर्च्छित हो गई। अन्त में बड़े कष्ट से उठी और बच्चे की लाश को लाने के लिये निकली। मारे दुःख के आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। रोती, छाती पीटती, चिल्लाती और लड़खड़ाती हुई शैव्या बगीचे में पहुंची और पुत्र की लाश को देखते ही फिर बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ी। वह शोक-सागर में डूब गई।

तबतक वृद्ध ब्राह्मण भी वहाँ आ पहुँचा। एक-दो पड़ोसी भी थे। शैव्या पर पानी छिड़ककर उसे चैतन्य किया। उन सबने उसे समझाया कि अब ज्यादा रोना-पीटना व्यर्थ है। अब तो इसकी अन्तिम क्रिया जितनी जल्दी हो सके कर डालना अच्छा है। तब शैव्या और एक-दो पड़ोसी रोहिताश्व की अन्तिम क्रिया करने श्मशान गये। इस समय मध्य-रात्रि हो चुकी थी।

श्मशान में लाश को रखकर तारा फिर जोर-जोर से रोने लगी। "हाय! बेटा रोहिताश्व, तुम कहां गये? हे नाथ, आप कहाँ हैं? हाय रे भगवान्, अब मैं कैसे जीवूँ? प्राणनाथ ने छोड़ दिया और आज बेटा रोहिताश्व भी छोड़कर चला गया! अब मैं क्या करूँ?" उसके विलापों से सारा श्मशान और भीषण मालूम देने लगा।

शैव्या के रुदन को सुनकर हरिश्चन्द्र भी मुर्दे का कर वसूल करने तथा वस्त्र लेने के लिए आ पहुँचे। रात अँधेरी थी, परन्तु शैव्या का स्वर तो परिचित जान पड़ता था। हरिश्चन्द्र को अपनी स्त्री और बालक की याद आई। यह भी आशंका हुई कि उन्हीं-पर तो कोई आपत्ति नहीं आगई?

इधर शैव्या को अब यह विवेक नहीं रहा कि हमारा असली परिचय कोई न जाने। वह हरिश्चन्द्र का नाम ले लेकर अपने पूर्व दिनों को याद करती हुई रोहिताश्व के लिये रोने लगी। तब तो हरिश्चन्द्र का सारा सन्देह जाता रहा। हरिश्चन्द्र का हृदय भी मारे दुःख के विदीर्ण होने लगा। वे बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े। शैव्या के पड़ोसी यह सब देखकर बड़े चकित हुए। पास ही एक लाश जल रही थी। उसमें से एक जलती हुई लकड़ी ले आये और हरिश्चन्द्र की सूरत देखने लगे। शैव्या भी आई। वह तो पति को इस अवस्था में देखकर और भी पागल हो गई

और बेहोश होकर पति के पास ही गिर पड़ी। पड़ोसियों ने बड़ी मुश्किल से दोनों को चैतन्य किया। दोनों एक-दूसरे की हालत देखकर दुःखी और चकित हो रहे थे। राजा ने रानी को अपना हाल सुनाया और रोहिताश्व की मृत्यु की कथा पूछी। शैव्या ने सारी कथा हरिश्चन्द्र को सुनाई। पर राजा के हृदय में फिर वही तेज जाग्रत हो उठा। उन्होंने कहा—"शैव्या, दुःख न करो। यह सब उसकी इच्छा है। हम तो इस विश्व की रंगभूमि पर नाचनेवाली उसके हाथ की कठपुतलियाँ हैं। रोहिताश्व को जिसने हमें दिया था उसीने वापिस ले लिया। अब शरीर का मोह न कर इसको अन्तिम क्रिया कर डालो।"

शैव्या हृदय को कठोर कर प्यारे पुत्र की अन्तिम क्रिया करने को तैयार हुई। इसी समय हरिश्चन्द्र को मुर्दे के लिए लिये जाने वाले कर का खयाल आया। पर रानी के पास कर देने को क्या था? लेकिन हरिश्चन्द्र लाचार थे। मुर्दों का कर वसूल करने के लिये ही वे तैनात थे और अगर कर लिये वग़ैर रोहिताश्व को जलाने देते तो अपने कर्तव्य में असत्याचरण के दोषी होते। अतः जबतक कर न मिल जाय, उन्होंने रोहिताश्व का जलाया जाना रोक दिया।

कठोर परीक्षा थी, पर सत्यनिष्ठ हरिश्चन्द्र टस-से-मस न हुए। लोग दंग थे। एकाएक सारा श्मशान किसी दिव्य तेज से प्रकाशित हो गया और राजा के सामने विश्वामित्र तथा धर्मराज आ खड़े हुए। विश्वामित्र ने कहा—"राजन्, तुम्हें धन्य है। आज मैं हार गया। यह सब मेरी माया का खेल था। धर्मराज अभी रोहिताश्व को जिलाए देते हैं। मैं तुम्हारी धर्मनिष्ठा, हिम्मत और सत्य पर मुग्ध हूँ। मुझे क्षमा करो।"

यह सब देखकर राजा, रानी और पड़ोसी चकित हो गये। किसीकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

इधर भगवान् धर्मराज ने रोहिताश्व के शरीर पर अपना हाथ फिराया और अमृत-स्पर्श से उसे जिला दिया। उसने खड़े होकर देखा तो वह भी चकित हो गया। पिता को एकाएक सामने देखकर वह हरिश्चन्द्र के पैरों से लिपट गया और पूछने लगा—"पिताजी, इतने दिन आप हमें छोड़कर कहाँ चले गये थे ?"

विश्वामित्र की आँखों से आँसू बहने लगे। उन्होंने कहा—"बेटा, तुम सबका अपराधी मैं हूं। मैंने ही तुम्हें यह दुःख दिया था। राजन्! तुम अब अयोध्या जाओ और सुखपूर्वक राज्य करो। तुम्हारी निर्मल कीर्ति सारे संसार में फैल जायगी और जबतक चन्द्र-सूर्य रहेंगे तबतक लोगों के अंतःकरण पवित्र करती रहेगी।"

"शैव्या, तुम्हारी अप्रतिम पति भक्ति, हिम्मत और धर्मनिष्ठा देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं। तुम पतिव्रताओं में शिरोमणि हो। जबतक तुम्हारे समान पतिपरायणा स्त्रियां इस देश में पैदा होती रहेंगी तबतक इसका कभी अकल्याण नहीं हो सकता।"

इसके बाद फिर सब पूर्ववत् हो गया और राजा हरिश्चन्द्र के साथ-साथ रानी शैव्या की कीर्ति भी दिगदिगन्त में व्याप्त होगई। यहाँ तक कि आज भी भारत के स्त्री-रत्नों में उनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है और उनके चरित्र से संकट के समय बड़ी स्फूर्ति मिलती है।

सत्यवान-पत्नी

सावित्री

भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति सावित्री का नाम जानता है। सबको मालूम है कि सावित्री ने सतीत्व के बल पर अपने मरे हुये पति को फिर जीवित कर लिया था। इसीलिये आदर्श सती की तरह यह संसार में प्रसिद्ध है। यही नहीं बल्कि जिस दिन सावित्री ने अपने धर्म-बल से अपने मृत पति सत्यवान को फिर से जिन्दा किया था उस पुण्य-तिथि (ज्येष्ठ मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी) को गृह-लक्ष्मियाँ अपने पति की दीर्घायु के लिये कठोर व्रत करती हैं, जो सावित्री के नाम पर वट-सावित्री का व्रत ही कहा जाता है।

प्राचीन काल—सतयुग—में भारतवर्ष के पञ्जाबप्रान्त में मद्र-देश नाम का एक राज्य था। अश्वपति नाम का राजा इस राज्य का स्वामी था, जो बड़ा पराक्रमी और सद्गुणी था। वह पृथ्वी की तरह सहनशील और क्षमावान था, कर्ण के समान महादानी था और उसकी बुद्धि देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान थी। इसके सिवाय वह बड़ा सुन्दर, धैर्य्यवान् और भक्त था।

इस राजा के राज्य में न तो किसी प्रकार की अशान्ति थी, न कोई बुराई। राजा बड़े सुख से राज्य करता था। पर जगदीश्वर की इस सृष्टि में सम्पूर्ण सुख किसीके भाग्य में बदा है? राजा

अश्वपति के भी दुःख का एक कारण था। वह वृद्ध होने आया, किन्तु सन्तान का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इससे राजा और रानी—दोनों दुःखी रहते थे। प्रजा को भी चिन्ता रहती थी कि अभी तक राज्य का कोई योग्य उत्तराधिकारी पैदा नहीं हुआ।

सन्तान होने के लिए रानी ने कितने ही व्रत-उपवास और यज्ञ-याग किये, परन्तु परिणाम कुछ न निकला। बेचारी रानी और क्या करती, दिन-रात गहरी साँस भरती और आँखों से आँसू बहाती रहती थी।

राजा ने इस विषय में सलाह करने के लिये ऋषि-मुनि तथा विद्वान् ब्राह्मणों की सभा की। अन्त में यह निश्चय हुआ कि पुत्र-प्राप्ति के लिये राजा जंगल में जाकर तपस्या तथा सावित्रीदेवी की उपासना करे। सावित्रीदेवी विधाता ब्रह्मा की प्रिय पत्नी हैं, उन्हें प्रसन्न करने से ब्रह्मा भी प्रसन्न होंगे और तब वे अपना विधान बदल देंगे।

विद्वानों की सलाह मानकर राजा वन में तपस्या तथा सावित्रीदेवी की उपासना करने के लिए तैयार हुआ। रानी तथा प्रजा से विदा मांगकर वह तीर्थराज पुष्कर गया और वहां एकाग्र-चित्त हो सावित्रीदेवी का ध्यान और पूजा करने लगा। पूरे अठारह वर्ष तक बड़ा कठोर तप किया। प्रतिदिन यज्ञ में सावित्री-मन्त्र की एक लाख आहुति देता और दिन छिपने के बाद कन्द-मूल जो कुछ मिलता उसका आहार कर जीवन व्यतीत करता। इस प्रकार अठारह वर्ष तक तपस्या करने के बाद सावित्रीदेवी उसपर प्रसन्न हुई। अश्वपति हवन कर रहा था; इतने में हवन की अग्नि में से सावित्रीदेवी प्रत्यक्ष हुईं और वरदान माँगने को कहा। राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"मैं अपने हृदय में कुछ अभिलाषा

रखकर तप कर रहा हूँ, यह बात आपसे छिपी नहीं है। आप मुझ-पर प्रसन्न हुई हैं, तो मुझे वर दीजिए कि मेरे कुल के दीपक सौ पुत्र उत्पन्न हों।" सावित्रीदेवी ने कहा—"मुझे पहले ही से तुम्हारा विचार मालूम हो गया था और ब्रह्माजी से तुम्हें पुत्र प्रदान करने के लिए कहा था। इसपर उन्होंने कहा है कि कुछ ही दिनों में तुम्हारे यहाँ कन्या का जन्म होगा और वह कन्या ही सौ पुत्रों की आवश्यकता पूरी करेगी।" इतना कहकर सावित्रीदेवी अन्तर्धान हो गई और अश्वपति देवी का आशीर्वाद पाकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानी को लौट गया।

कुछ दिनों बाद रानी के गर्भ रहा और पूरे दिनों बाद एक अपूर्व सुलक्षणा कन्या का जन्म हुआ। देवताओं के शरीर में जिस तरह के शुभ चिह्न दिखाई देते हैं, वैसे ही चिह्न इस कन्या के शरीर पर भी थे। इस अपूर्व ज्योतिर्मय बालिका को देखकर अश्व-पति तथा रानी मालवीदेवी कुछ देर के लिए स्वर्गीय आनन्द में निमग्न हो गये। सम्पूर्ण देश में आनन्दोत्सव होने लगा। ग़रीबों को बहुत-सा धन दिया गया। यथाविधि जातकर्म और नामकरण संस्कार हुए। सावित्रीदेवी के वरदान से बालिका का जन्म हुआ था, इसलिए सावित्री ही उसका नाम रखा गया।

शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह, सावित्री दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। ज्यों-ज्यों वर्ष बीतते गये, त्यों-त्यों, कन्या का रूप-लावण्य भी बढ़ता गया। सावित्री ने जब यौवन में पदार्पण किया तब उसका अपूर्व रूप देखकर सबकी यह धारणा होने लगी कि यह कोई साधारण स्त्री नहीं वरन् देवी है। वास्तव में जब सावित्री स्नान करने के बाद अपने लम्बे और भौंरे के समान काले बाल पीठ पर फैलाकर खड़ी होती, उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो किसी कुशल कारीगर ने नवीन मेघ (बादलों) पर बिजली का रङ्ग चढ़ाकर एक तस्वीर बनाई हो।

परन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार किसी भी वस्तु का सीमा से अधिक होना अच्छा नहीं। रूप अथवा सुन्दरता के सम्बन्ध में भी कदाचित् यही बात ठीक है। सौंदर्य का भी एक सीमा है। एक सौंदर्य ऐसा होता है जो मनुष्य के हृदय में भक्ति-रस पैदा करता है किन्तु प्रणय का भाव उत्पन्न ही नहीं होने पाता। सावित्री का रूप भी इसी तरह का होने से कोई उसके साथ विवाह करने को तैयार नहीं हुआ। कई युवक सगाई के लिये आये, परन्तु सावित्री की देवी-सी कान्ति देखकर लौट गये। राजा अब कन्या के विवाह के सम्बन्ध में बड़े असमंजस में पड़ गया।

सावित्री बड़ी हो गई थी। अब वह संसार की अनेक बातें समझने लगी थी। उसके विवाह की चिन्ता में पिता रात-दिन शोक-ग्रस्त रहते हैं, यह देख सावित्री भी गम्भीर विचार में पड़ गई। सूर्योदय से लेकर सोने के समय तक वह व्रत, पूजा, शास्त्र-पाठ तथा माता-पिता की सेवा आदि कितने ही काम करती थी, जिन्हें देखकर मन में आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता था। फिर ये काम होते भी बड़ी कुशलता के साथ थे। इन सब कार्यों को करते समय उसे यही ध्यान रहता कि मैं किस तरह पिता को अपने विवाह की चिन्ता से मुक्त करूँ ?

इसी तरह कई वर्ष बीत गये, पर सावित्री का पाणि-ग्रहण करने के लिए कोई आगे नहीं आया। यह देखकर राजा एकदम निराश हो गया। पिता का दुःख देखकर सावित्री को भी बड़ा दुःख हुआ। इसी बीच एक दिन राजा अश्वपति ने कन्या को बुलाकर कहा, "बेटी सावित्री ! अब तेरे विवाह का समय आ गया है, किन्तु मेरे सामने कोई पुरुष तुझे ग्रहण करने की इच्छा से नहीं आया। इसलिए, मैं तुझे आज्ञा देता हूँ कि तू स्वयं ही

अपने योग्य पति को ढूँढ़ ला। तू जिस वर को पसन्द करेगी उसके हाल-चाल मुझे सूचित कर देना; मैं उसपर विचार करने के बाद तेरा कन्या-दान कर दूंगा।"

सावित्री ने नीचा सिर कर मौन-द्वारा पिता के विचारों के साथ अपनी सहमति प्रकट की और वृद्ध-मन्त्री तथा अन्य सेवक और सखियों को साथ लेकर वर की खोज में देशाटन के लिए रवाना हो गई।

शुभ मुहूर्त में सावित्री ने यात्रा प्रारम्भ की। कितने ही नदी, गाँव, नगर वन और पर्वतों को पार करते हुए उसका रथ जाने लगा। अपनी राजधानी के बाहर के प्रदेश की शोभा देखकर सावित्री को बड़ा आनन्द हुआ। प्रकृति को निरंकुश अवस्था में स्वच्छन्द विहार करती हुई देखकर जो आनन्द होता है, कृत्रिम सौन्दर्य के बीच में रहनेवाले नगर-निवासियों को उसकी कल्पना तक नहीं हो सकती। इस यात्रा में सावित्री ने कई राज-पुत्र तथा ऋषि-कुमार देखे, किन्तु जँचा उसे कोई भी नहीं। अन्त में वह एक रमणीक सुन्दर तपोवन में पहुँची। तपोवन की शोभा देखकर उसके मन में अपूर्व आनन्द का संचार हुआ। तपोवन में अनेक ऋषियों के आश्रम थे। दूर से ही उनकी स्वच्छ पर्णकुटियाँ (पत्तों की झोंपड़ियाँ) दिखाई देती थीं। प्रत्येक आश्रम में हवन, तप और वेद-गान हो रहा था। यज्ञ-याग के कारण सारे तपोवन की वायु सुगन्धित हो रही थी। किसी जगह मोर नाच रहे थे, और कहीं अपने बछड़ों के साथ गायें शान्त भाव से चर रही थीं। यह सब देखकर सावित्री को बड़ा सुख मिला। चित्त कुछ स्वस्थ हुआ। अन्य सब सखियों को पीछे छोड़, केवल एक सखी के साथ, पैदल ही वह तपोवन में घूमने लगी। इतने में एक आश्रम पर नजर पड़ी और सावित्री का पैर एकदम रुक गया। एक-

टक वह उस ओर देखने लगी; उसके नेत्र वहीं स्थिर हो गये, शरीर चेतनारहित हो गया और मुँह से शब्द निकलना बन्द हो गया। उसकी यह हालत देखकर साथ वाली सखी भी अवाक् रह गई। सखी के पूछने पर आश्रम में बैठे हुए एक तरुण तपस्वी की ओर इशारा करके सावित्री ने कहा—"सखी! इस ऋषिकुमार को तो देख, कैसा सुन्दर है!"

कुछ देर में सावित्री के अन्य साथी भी आ पहुँचे और सब इस आश्रम के सामने आ गये। वहां एक सुन्दर युवक घोड़े के एक बछड़े के साथ खेल रहा था। किशोरावस्था से वह युवावस्था में पैर रख चुका था। जवानी की छटा से उसके अङ्गों की स्वाभाविक सुन्दरता विशेष तेजस्वी हो गई थी। उसमें बालकों की-सी सरलता और नम्रता थी। आश्रम के पास रथ के पहुँचते ही वह भी कुतूहलवश उसके सामने आ गया। सावित्री का अपूर्व दैवी रूप, उसकी सखियों के बहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा उसकी राज्योचित पोशाक देखकर युवक समझ गया कि अवश्य ही ये कोई असाधारण अतिथि आये हैं। इतने में, ऋषिकुमार को पास आते देखकर, सावित्री के साथी मंत्री ने पूछा—"ऋषिकुमार! हम लोग देश-भ्रमण के लिए निकले हैं। हम जानना चाहते हैं कि यह सुन्दर आश्रम किसका है? क्या हम रातभर यहाँ ठहर सकते हैं?" युवक ने उत्तर दिया—"श्रीमन्! यह आश्रम राजर्षि द्युमत्सेन का है। मैं उनका पुत्र हूँ। मेरे पिता शाल्वदेश के राजा थे, परन्तु अठारह वर्ष से उनके शत्रुओं ने उन्हें अपने राज्य से हटा दिया है। वे अन्धे हैं और अभी आश्रम में तपस्या कर रहे हैं। चलिए, मैं आपको उनके पास ले चलता हूं।"

युवक की विनय-युक्त मीठी बातें सुनकर तथा शाल्वदेश के एकमात्र राजपुत्र को इस प्रकार मुनिवेश में देखकर सब आश्चर्य-

चकित हो गये। सावित्री ने तो देवता के समान ऐसा कोई युवक पहले कभी देखा न था। उसका मुनि-वेश और चेहरे पर झलकता हुआ ब्रह्मचर्य का तेज देखकर सावित्री को विश्वास हो गया कि यह युवक अत्यन्त पवित्र होना चाहिए।

राजमन्त्री ने पूछा—"राजकुमार, आपका क्या नाम है ?" युवक ने कहा—"मुझे राजकुमार न कहिए, मैं तो केवल ऋषि-कुमार हूं। मेरा नाम सत्यवान अथवा चित्राश्व* है।"

सत्यवान का ऐसा विनम्र उत्तर सुनकर सब प्रसन्न हुए। प्रथम दर्शन से ही जिस युवक के प्रति अनुराग या प्रेम उत्पन्न हो गया था वह ऋषि-सन्तान नहीं वरन् राजकुमार है और इतना विनम्र तथा मधुर-भाषी है, यह जानकर सावित्री के हर्ष की सीमा न रही।

इसके बाद मंत्री सावित्री-सहित सत्यवान के माता-पिता के पास गये। महाराज अश्वपति की कन्या अपने आश्रम में आई है, यह जानकर वे बड़े प्रसन्न हुए और हार्दिक प्रेम से उन्होंने सावित्री को आशीर्वाद तथा सत्यवान को यथाविधि अतिथियों की सेवा करने का आदेश दिया। सत्यवान ने इन्हें भोजन के लिए मीठे कन्दमूल भेंट किये, तपोवन का सुन्दर निर्मल जलपान कराया और अनेक ऋषियों तथा ऋषि-कन्याओं से इनका परिचय कराया। इस प्रकार कुछ दिन तपोवन में रहने के बाद सावित्री, सत्यवान तथा उसके माता-पिता की आज्ञा लेकर, वहां से विदा हुई और मन्त्री से कहा कि अब आगे न जाकर मद्र देश को ही लौट चलो।

---

* राजकुमार को घोड़ों से बड़ा प्रेम था। वह एकान्त में बैठा-बैठा घोड़ों के चित्र खींचा करता था। इसलिए उसका दूसरा नाम चित्राश्व पड़ गया था।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सावित्री ने अपना हृदय इस वनवासी राजकुमार को अर्पण कर दिया था। सत्यवान भी सावित्री के गुणों तथा उसके असाधारण सौन्दर्य से मुग्ध हो गया था, किन्तु अपनी दरिद्रावस्था को देखते हुए उसे यह अभिलाषा करने का साहस न हुआ कि यह गुणवती राजकुमारी उसकी पत्नी बने।

सावित्री अपने लिए वर पसन्द करके लौट आई और सबसे पहले पिता के चरणों में दण्डवत प्रणाम करने गई। इस समय देवर्षि नारद भी वहां उपस्थित थे। सावित्री ने पहले उनको नमस्कार कर फिर पिता के चरणों में सिर नवाया। नारद ने पूछा—"तुम्हारी यह कन्या कहाँ गई थी और अब कहाँ से आ रही है?" अश्वपति ने देवर्षि के प्रश्न का उत्तर देने के बाद सावित्री की ओर देखकर पूछा—"तू जो संकल्प करके तीर्थ और तपोवन में भ्रमण करने गई थी, उस विषय में तुझे कितनी सफलता मिली, यह मुझे निःसंकोच होकर बता। मैं यह जानने के लिए बड़ा उत्सुक हूँ।"

उस समय पिता का इस प्रकार पुत्री से खुल्लमखुल्ला पूछना अविवेकयुक्त अथवा मर्यादारहित नहीं समझा जाता था। वह वास्तव में सत्य और सरलता का युग था। फिर भी सावित्री स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जाशीलता के वश सकुचा गई और नीचा सिर करके कहने लगी—"शाल्वदेश के राजा का नाम द्युमत्सेन है। दैवयोग से वे अन्धे हो गये और संगी-स्नेही उनका राज्य दबा बैठे, इसलिए वे अपनी स्त्री और एकमात्र पुत्र को साथ लेकर तपस्या कर रहे हैं। उनके इस पुत्र का नाम······"

सत्यवान का नाम आते ही सावित्री का हृदय प्रेम और संकोच से उछलने लगा। इसलिए उसके मुँह से सहसा नाम

निकल ही न सका। अन्त में काँपते हुए स्वर से उसने कहा—"मैं उसीसे विवाह करना चाहती हूं।"

इतना सुनते ही नारद ने भौंहें टेढ़ी करके कहा—"सावित्री ने यह ठीक नहीं किया। इसमें शक नहीं कि सत्यवान तेजस्वी, बुद्धिमान् और सच्चरित्र है और माता-पिता के प्रति उसकी भक्ति अतुलनीय है। उसका शरीर भी सबल, स्वस्थ और सुगठित है। तपाये हुए स्वर्ण के समान उसकी कान्ति है। वह अद्वितीय रूपवान और गुणवान है। फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि उसे पसन्द कर सावित्री ने बड़ी भारी भूल की है।"

राजा अश्वपति देवर्षि का तात्पर्य न समझ सके; इसलिए नम्रतापूर्वक उन्होंने पूछा—"देवर्षि! आपने सत्यवान के सम्बन्ध में जो-कुछ कहा उससे तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सावित्री ने योग्य वर पसन्द किया है। फिर भी आप यह किस तरह कहते हैं कि उसने ठीक नहीं किया? आपके शब्द सुनकर मेरे हृदय में अनेक प्रकार की शङ्काएँ होती हैं, इसलिए कृपाकर मेरे हृदय की सब शङ्का और उत्कण्ठा दूर कीजिए।"

सत्य बात अप्रिय हो तो उसका कहना बड़ा कठिन होता है। 'अप्रियस्यापिसत्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः' के अनुसार ऐसा कहने और सुनने वाले—दोनों दुर्लभ होते हैं। परन्तु देवर्षि नारद तो जनता के सच्चे हितैषी थे, इसलिए सच्ची और खरी बात कहने में वे कभी संकोच नहीं करते थे। उन्होंने कहा—'सत्यवान में गुणों के होते हुए भी एक दोष ऐसा बड़ा है कि वह सब गुणों पर परदा डाल देता है। वह दोष यह है कि वह जिन्दा बहुत कम रहेगा। आज से ठीक एक वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो जायगी। इसीलिए मैं कहता हूँ कि सावित्री ने यह चुनाव अच्छा नहीं किया।"

इस समय सावित्री के मन की क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना कितनी रोमाञ्चकारी है ! नारद के मुँह से ऐसे दारुण शब्द निकलते ही उसका कमल-सा खिला हुआ सुन्दर मुँह कुम्हला गया और नेत्रों से मोतियों की तरह टपाटप आँसू गिरने लगे। सावित्री को अपने चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार नजर आने लगा।

तब क्या देवर्षि नारद के वचन सुनकर सत्यवान पर से सावित्री का मन हट गया ? हर्गिज नहीं। सावित्री ऐसी कन्या नहीं थी। अवश्य ही उसे विश्वास था कि देवर्षि नारद का वचन मिथ्या नहीं होता। इसलिये उसे यह भी निश्चय था कि सत्यवान की आयु अब केवल एक वर्ष और है। ऐसी दशा में किसका हृदय काँप नहीं उठता और किसके मुँह पर शोक नहीं छा जाता ? सावित्री में भी शोक, दुःख और खेद के सब चिह्न दिखाई दिये। किन्तु उसका मन एक क्षण के लिये भी विचलित नहीं हुआ। उसने मन-ही-मन निश्चय किया—"जो होना होगा सो होगा, किन्तु सावित्री का पति सत्यवान के सिवाय और कोई नहीं हो सकता।"

नारदजी की बात पर राजा अश्वपति का मुँह सूख गया। उन्होंने सावित्री की ओर देखकर कहा—"सावित्री ! देवर्षि के मुँह से तुमने सब सुन लिया है, इसलिए अब मेरा आग्रह है कि तुम अपने मन से सत्यवान का विचार निकाल दो और अपने लिए कोई दूसरा वर पसन्द कर लाओ।"

सावित्री ने कोई उत्तर नहीं दिया। बस, नीचे की ओर मुँह किये चुपचाप आँसू बहाने लगी। क्योंकि ऐसी स्थिति में मन के भाव को व्यक्त करने और हृदय का बोझ हलका करने की शक्ति यदि किसीमें है तो वह केवल आँसुओं में ही है।

अश्वपति ने समझा कि कन्या को यौवन का प्रथम मद चढ़ा

है। मोह में फँसकर यह अपने सामने आई हुई विपत्ति को देखते-समझते हुए भी उसपर ध्यान नहीं देती। यह सोचकर उसने फिर सावित्री को अनेक उपदेश दिये और दूसरा पति तलाश करने पर जोर दिया।

अब सावित्री से चुप न रहा जा सका। आर्य बालाओं को धर्म सबसे अधिक प्रिय होता है। धर्म-नाश होने का प्रसंग आता दिखाई देने पर वे संसार की सब लोक-लाज और मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर पावन-प्रकोप धारण कर लेती हैं। इसी प्रकार सावित्री ने अब सिर उठाया। राजसभा में बैठे पुरुषों ने देखा कि इस समय उसके मुख पर एक प्रकार की दिव्य-ज्योति प्रकाशित हो रही थी। सावित्री समझ गई कि पिता स्नेहवश आज उसे धर्म-विरुद्ध उपदेश कर रहे हैं। उसने सोचा, "यदि आज मैं ऐसा करूँ तो भविष्य में अन्य आर्य बालिकाएँ भी इसी प्रकार करेंगी। दो हृदयों का परस्पर आदान-प्रदान होने में जो महत्त्व है वह जाता रहेगा। आर्यों का विवाह आत्म-संस्कार से बदलकर केवल व्यावहारिक देह-संस्कार मात्र रह जायगा। नहीं-नहीं, मैं ऐसा कदापि न होने दूँगी।" इसके बाद उसने कहा—

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥
मनसा निश्चयं कृत्वा, ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः॥

अर्थात्, जायदाद की बिक्री के लिए चिट्ठी एक ही बार आती-जाती है, कन्या का दान केवल एक ही बार किया जाता है, और कोई वस्तु दूसरे को केवल एक ही बार दी जाती है। संसार

में तीनों काम एक बार होते हैं। इसलिए जब मैं सत्यवान को आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ, तब फिर वह चाहे अल्पायुषी हो या दीर्घायु, गुणवान् हो या गुणहीन जबतक उसकी देह में प्राण हैं तब तक मैं किसी दूसरे का पाणि-ग्रहण नहीं करूँगी। अब उसके सिवाय और दूसरा कोई मेरा पति नहीं हो सकता। देखिए, पहले मनुष्य किसी काम को करने का विचार करता है, फिर भाषा द्वारा शब्दों में उसे प्रकट करता है और अन्त में उसे कार्य-रूप में परिणत करता है; इसलिए इस विषय में मेरा मन ही मेरा प्रमाण है।

सावित्री का यह शास्त्रानुकूल उत्तर सुनकर और उसका अपूर्व तेजस्वी मुख देखकर अश्वपति कुछ भी न बोल सके। देवर्षि नारद प्रफुल्लित हो, सावित्री की ओर देखकर, कहने लगे—"सावित्री, तू स्त्रियों में धन्य है। तेरी अटल बुद्धि और सतीधर्म में अपूर्व निष्ठा देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं। मैं तुझे आशीष देता हूं कि तेरे द्वारा संसार में सतीत्व की महिमा उज्ज्वलरूप से फैले और तू सत्यवान से विवाह कर दीर्घकाल तक उसके साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करे।"

इस प्रकार आशीर्वाद देकर तथा राजा को विवाह की तैयारी करने की सूचना देकर, नारदजी वीणा बजाते हुए वहाँ से बिदा हुए।

राजा अश्वपति ने विवाह की तैयारी आरम्भ कर दी। तपोवन-निवासी राजर्षि के पुत्र के साथ विवाह करना था, इसलिए अधिक ठाट-बाट की आवश्यकता न थी। इस समय विपत्ति के मारे वनवासी समधी को बारात लेकर अपने यहाँ आने का कष्ट देना भी राजा अश्वपति को उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसलिए वे स्वयं ही अच्छा दिन देखकर थोड़े-से सगे-

सम्बन्धी, राजपुरोहित तथा नौकरों को लेकर वन में गये। तपोवन में पहुँचने के बाद राजा रथ से नीचे उतर पड़े और दूसरे साथियों को वहीं खड़ा रहने की सूचना देकर एक वृद्ध मन्त्री को साथ लेकर पैदल ही राजा द्युमत्सेन के आश्रम में जा पहुँचे और अपना परिचय देने तथा साधारण शिष्टाचार के बाद उन्होंने अन्ध-राजर्षि को अपने आने का कारण बतलाया। द्युमत्सेन ने कहा—"महाराज ! आपकी बात सुनकर मुझे आश्चर्य होता है। आपकी कन्या राजमहल के सुख-वैभव एवं लाड़-प्यार में पली हुई है और मेरे यहाँ का वैभव तो आप देखते ही हैं। पत्तों की कुटियों में निवास और दिन बीतने पर कन्दमूल का आहार। राजकुमारी से आश्रम का यह कठोर जीवन किस तरह सहा जायगा ? इसलिये मेरा तो यही कहना है कि मेरे सत्यवान को अपनी कन्या देने का आपका जो विचार है वह ठीक नहीं है।" तब अश्वपति ने कहा—"राजर्षि ! आपने जो कुछ कहा वह एक तरह से ठीक है, किन्तु सावित्री यह सब देख और समझ-बूझकर अपनी इच्छा से मन-ही-मन सत्यवान को वर चुकी है, इसलिये मेरी आपसे प्रार्थना है कि अब आप इसमें किसी प्रकार की आपत्ति न करें। राजधानी के ठाट-बाट की अपेक्षा तपोवन की सेवा और शान्त जीवन मेरी सावित्री को अधिक पसन्द है, इसलिए वह इसमें कुछ कष्ट न मानेगी।"

इस प्रकार कितनी ही बातचीत होने के बाद विवाह का दिन निश्चित हुआ। सत्यवान को स्वयं अपनी आँखों से देखने के बाद राजा को भी यह विश्वास हो गया कि सावित्री ने योग्य वर को ही पसन्द किया है। इसके बाद शुभ-मुहूर्त में ऋषियों और ऋषि-पत्नियों के सामने, पवित्र अग्नि की साक्षी में, वेदोच्चारण के साथ सावित्री का सत्यवान के साथ पाणि-ग्रहण (विवाह) हो गया

और पुत्री को तपोवन (ससुराल) में ही छोड़कर राजा अश्वपति अपनी राजधानी को लौट गये।

पिता के चले जाने पर सावित्री ने राजकीय वेश तथा हीरा-मोती आदि के आभूषणों का परित्याग कर दिया और सत्यवान के जैसे गेरुए वस्त्र धारण कर लिये। इस प्रकार सावित्री राजकुमारी से तपस्विनी बन गई। किन्तु वास्तविक सौन्दर्य तो सादगी में और भी हजार गुणा अधिक झलक उठता है। इसीलिये इस तपस्वी-वेश में सावित्री और सत्यवान एक-दूसरे को पाकर स्वर्गीय सुख में निमग्न हो गये। मणि के साथ कञ्चन का संयोग हुआ। सावित्री के आगमन से तपोवन की शोभा में भी बड़ी वृद्धि हो गई।

तपोवन के पवित्र जल-वायु के प्रभाव से विशेष स्फूर्तियुक्त बनकर सावित्री सच्चे हृदय से आश्रम-धर्म का पालन करने लगी। स्वामी तथा सास-ससुर की सेवा, अतिथि-सत्कार, पूजा-पाठ, तथा यज्ञ-याग आदि की सामग्री तैयार करना उसका नित्य-प्रति का काम हो गया और अपने इस कर्त्तव्य का उसने बड़ी सावधानी तथा सुन्दरता से पालन किया। पशु-पक्षियों को दाना-पानी देना, और तरु-लताओं को पानी सींचना आदि सब काम स्वयं अकेले करने में सावित्री किसी प्रकार का दुःख या कष्ट अनुभव नहीं करती थी। सत्यवान जंगल से लकड़ी का बोझ लेकर आता तब सावित्री तुरन्त आगे बढ़कर उसके कन्धे से बोझ नीचे उतरवा लेती। इस प्रकार पति के सब कामों में भी वह सहायता करती। सावित्री के गुणों से सब तपोवन-वासी मुग्ध हो गये और ऋषि-पत्नियों के मुँह से रात-दिन उसकी प्रशंसा-ही-प्रशंसा निकलती थी। इस प्रकार सावित्री के दिन कटने लगे। सब देखते थे कि सावित्री गृहस्थी के सुख भोग रही है और आश्रम-धर्म का पालन कर रही है, परन्तु उसके मन में रात-दिन जो एक मर्म-भेदी पीड़ा रहा

करती थी उसका पता या तो स्वयं उसे था या फिर सर्वान्तर्यामी भगवान् को। नारदजी ने भविष्य की जो दारुण बात कही थी, सावित्री एक पल के लिये भी उसे कैसे भूल सकती थी? सोते-जागते और उठते-बैठते ही नहीं, स्वप्न तक में उसे यही विचार रहता और पति की आयु में अब कितने दिन शेष हैं, इसकी वह बराबर गिनती करती रहती। इस प्रकार करते-करते वर्ष पूरा होने में केवल चार दिन शेष रह गये। अभीतक सावित्री ने अपने मन का सारा उद्वेग एवं अस्थिरता मन-की-मन में ही रोक रखी थी, सास-ससुर अथवा स्वामी किसीको कुछ भी नहीं बताया था। उसका मुख शान्त था, किन्तु उसके हृदय में होली जल रही थी। केवल पतिप्राणा स्त्रियाँ ही सावित्री के मन की इस समय की स्थिति की कुछ कल्पना कर सकती हैं।

सत्यवान की मृत्यु-काल के चौघड़िये के केवल चार दिन ही शेष रहने पर, भगवान् के चरणों में सम्पूर्ण आत्म-समर्पण करके सावित्री ने त्रिरात्र-व्रत आरम्भ किया। इन तीन दिनों के लिए अन्न, जल आदि सब छोड़ दिया। सावित्री के मुख पर गम्भीरता थी। उसका मुँह देखते ही मालूम हो जाता था कि आज सावित्री ने किसी बात का दृढ़ संकल्प किया है।

शाम को द्युमत्सेन को खबर हुई। उन्होंने सावित्री को समझाया—"इतना कठोर व्रत तेरे-जैसे सुकुमार शरीर से न हो सकेगा। तीन दिन तक निराहार और निर्जल रहने की तेरी शक्ति नहीं है।" सावित्री ने कहा—"पिताजी, आपके आशीर्वाद से मैं अवश्य इस व्रत का उद्यापन कर सकूँगी। इसमें आप किसी तरह का सन्देह न करें। केवल आपका आशीर्वाद चाहती हूँ।" बहू की इतनी दृढ़ता देखकर द्युमत्सेन ने फिर कोई आपत्ति नहीं की। सत्यवान की माता ने भी विवश हो उसको स्वीकृति दे दी।

तीन दिन बीत गये। इन तीनों दिनों के उपवास तथा जागरण के कारण सावित्री का शरीर सूखकर आधा रह गया। पूर्णिमा का सोलह-कला-युक्त चन्द्रमा कृष्णपक्ष की एकादशी के दिन जिस दिशा को पहुँच जाता है, लगभग ऐसी ही अवस्था द्युमत्सेन के आश्रम में निवास करनेवाली प्रभामयी कनक-प्रतिमा (स्वर्ण-मूर्ति) जैसी सावित्री की हो गई थी। आज नारद का कहा हुआ मृत्यु-दिन आ पहुँचा है। आज सत्यवान इस देवी समान पत्नी को चिरकाल के वैधव्य-दुःख में डालकर इस संसार को छोड़ जानेवाला था। जिस दिन साध्वी सावित्री का पत्नी-जीवन समाप्त होने वाला था, सत्यवान के प्रेम के लिए ही ग़रीब की कुटिया में भी पृथ्वी के साम्राज्य-सुख का अनुभव करनेवाली कन्या जिस दिन इस सुख से सदा के लिए वंचित होने वाली थी, अन्त में वह दिन आ पहुँचा। हृदय की सम्पूर्ण शक्ति तथा समस्त तेज को एक ही स्थान पर एकत्र कर, धर्म के तेज से तेजस्वी बनी हुई सावित्री विधाता के नियम को भी पराजित करने के लिए दृढ़ संकल्प करके तैयार हो गई।

प्रातःकाल देव-यज्ञ के लिए प्रज्वलित अग्नि में हवन कर सावित्री ने उसमें आहुति दी। फिर सब बनवासी ब्राह्मणों और सास-ससुर को प्रणाम कर उनका आशीर्वाद मांगा। सबने उसे एक स्वर से "अखण्ड सौभाग्यवती हो" की आशीष दी। नीचे मुँह किये हुए हृदय की एकमात्र इच्छा को परिपूर्ण करने वाली यह आशीष प्राप्त कर, सावित्री दृढ़ एवं स्थिर चित्त से काल-मुहूर्त की वाट जोहने लगी।

व्रत समाप्त हुआ, इसलिए सास ने उससे भोजन करने के लिए कहा, किन्तु सावित्री ने कहा—"माताजी अभी नहीं। अभी खाने की रुचि नहीं है। सूर्यास्त के बाद भोजन करूँगी।"

सायंकाल को सत्यवान यज्ञ-समिधा के लिए लकड़ी तथा माता-पिता के आहार के लिए कन्दमूल लाने को कुल्हाड़ा लेकर पास के घने जंगल में जाने को तैयार हुआ। सावित्री का जी उड़ गया। वह समझ गई कि काल-चौघड़िया आ पहुँचा। विधाता का लेख पूरा होने का समय आ गया। क्या आज सावित्री को घने जंगल में अकेली छोड़कर सत्यवान इस संसार से बिदा हो जायगा? सावित्री निश्चिन्त न रह सकी। वह सत्यवान के साथ जाने को तैयार हुई। सत्यवान ने कहा—"तुमने तीन दिन से कुछ खाया नहीं है, अब किस तरह मेरे साथ जंगल में चलकर घूम-फिर सकोगी?" सावित्री ने जवाब दिया—"न खाने से मुझे किसी तरह का कष्ट नहीं होता। मैं सब सहन कर सकती हूं। मैं आज तुम्हारे साथ वन अवश्य चलूँगी। मुझे रोको मत।" सत्यवान ने कहा—"तब माता-पिता के पास जाकर आज्ञा ले आओ।" भूखी-प्यासी सावित्री को इस समय वन में जाने के लिए तैयार देख सास-ससुर भी विचार में पड़ गये। उन्होंने उससे आग्रह किया कि वह कुटी में ही रहे। किन्तु ऐसे समय में कुटी में रहना उसे बिलकुल न रुचा। सावित्री को न तो भूख का कष्ट था, न ऐसी और कोई दूसरी चिन्ता ही थी। वह तो व्याकुल हो रही थी एकमात्र अपने स्वामी के निकट आ पहुँचने वाले मृत्यु-समय की चिन्ता से। बड़ी अनुनय-विनय से सास-ससुर की आज्ञा लेकर अन्त में वह स्वामी के साथ जंगल को रवाना हुई। कहीं अमङ्गल की आशङ्का कर वह खिन्न न हो जाय, इस भय से अपने मन का शोक मन-ही-मन दबाकर सावित्री हँसती हुई सत्यवान के साथ चलने लगी।

वन में कुछ दूर निकल जाने पर, सत्यवान एक विशाल वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया। सावित्री के मुँह की ओर देखा तो

उसका चेहरा सूखकर कुम्हलाया हुआ दिखाई दिया। उसके मुँह पर रास्ते की थकान और चिन्ता के चिह्न नज़र आये, इसलिए सत्यवान उसे इस वृक्ष के नीचे बैठाकर स्वयं पास के जंगल में लकड़ी काटने के लिए गया। सावित्री वृक्ष के नीचे बैठकर अपने अदृष्ट भविष्य की बाट जोहने लगी। उसने सोचा, देवर्षि का वचन मिथ्या तो हो नहीं सकता। पर आज उसकी चूड़ी-बिछुए जन्म भर के लिए उतर जायेंगे, यह अच्छी तरह जानते हुए भी सावित्री ने धैर्य नहीं छोड़ा। इतने में सत्यवान कुल्हाड़ी से लकड़ी काटते-काटते एकदम सिर में अत्यन्त पीड़ा हो जाने से विह्वल होकर कराहता हुआ सावित्री के पास आ पहुँचा। लकड़ी और कुल्हाड़ी उसी जङ्गल में जहाँ-की-तहाँ पड़ी रही। पास आकर उसने कहा—"सावित्री, सिर में असह्य पीड़ा हो रही है। ओहो! मुझे पकड़, मेरे प्राण निकलते हैं।"

सावित्री ने पति को पकड़ कर अपनी गोद में उसका सिर रखके पृथ्वी पर लिटा दिया। उसकी वेदना धीरे-धीरे बढ़ने लगी। सावित्री के मुँह की ओर प्रेम-पूर्वक देखकर, अस्पष्ट शब्दों में कुछ कहने का प्रयत्न करते हुए, उसने आँखें बन्द कर लीं। उसके सारे शरीर में पसीना बहने लगा। समूचा शरीर ठंडा पड़ गया। सावित्री समझ गई कि देवर्षि नारद का भविष्य कथन सत्य निकला। वन में सर्वत्र घोर अंधकार फैल गया। सूर्यदेव इस समय अस्ताचल में जा पहुँचे थे। आह, सावित्री का सौभाग्य-सूर्य भी इसी क्षण अस्त हो गया।

सावित्री मृत पति की देह को गोद में रखकर उसके मुँह की ओर टकटकी लगाकर देखती हुई मूर्ति की तरह अचल बैठ रही। उसके होश उड़ गये। विलाप तक करने की उसमें शक्ति न रही।

सत्यवान को लेने यमदूत आये, पर वे सती का तेज देखकर सत्यवान के पास न जा सके। वे दूर से ही वापिस लौट गये और स्वयं यमराज को ही इस कार्य के लिए आना पड़ा।

अब यमराज स्वयं ही सत्यवान को लाने के लिये मृत्यु-पाश हाथ में लेकर आये। उनका तेज देख सावित्री खड़ी हो गई और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करती हुई बोली—"अवश्य ही आप कोई देवता हैं। कृपाकर कहिये, आप कौन हैं और किसलिए यहाँ आये हैं ?"

यमराज ने कहा—"सावित्री ! मैं यमराज हूँ और तेरे स्वामी सत्यवान की आयु समाप्त हो गई, इसलिए उसे लेने आया हूँ।"

सावित्री बोली—"यमराज ! पर मैंने तो सुना है कि मनुष्यों की जीवात्मा को लेने के लिये आपके दूत आते हैं, तब आज स्वयं आपने क्यों कष्ट किया ?"

यमराज—"सत्यवान सत्यपरायण, साधु और संयमी था। मेरे दूत ऐसे पुण्यात्मा को स्पर्श करने योग्य न थे, इसलिए मैं स्वयं आया हूँ। तेरे स्वामी का समय पूरा हो गया, अब उसे ले जाने दे।"

सावित्री—"मैं अपने पति को गोद में से नीचे उतार दूं, उसके बाद आप इनके जीवन को ले जाना चाहें तो ले जा सकते हैं। मैं इनके देह की पृथ्वी पर रक्षा करूँगी। परन्तु याद रखिए, जहाँ मेरे पति रहेंगे वहीं मैं भी जाऊँगी।"

सावित्री ने सत्यवान को गोद में से नीचे उतारा कि तुरन्त ही यमराज उसके शरीर में से सूक्ष्म प्राण निकाल कर चलते बने। तब सावित्री भी उनके पीछे हो ली। यम ने पीछे फिर कर देखा तो सावित्री साथ आ रही थी। उन्होंने कहा—"सावित्री,

यह क्या ? मेरे साथ क्यों आती है ? मरा हुआ मनुष्य फिर वापिस नहीं आता । तू बुद्धिमान है, घर जा और पति की उत्तर-क्रिया कर ।"

सावित्री के नेत्रों से टपाटप आँसू गिरने लगे । सिसकी मारते-मारते वह बोली—"आह ! स्वामी-रहित खाली कुटी में मैं कैसे रहूँगी ? यमराज ! आप विचार करके देखिये कि स्वामी विना कोई सती स्त्री अपना जीवन किस तरह व्यतीत कर सकती है । स्त्री का सर्वस्व पति ही है । पति ही उसकी परमगति है । आप मेरे स्वामी को जहाँ ले जायँगे वहीं मैं भी चलूँगी ।"

सावित्री की बात सुनकर यमराज हँसे और कहने लगे—"तू यमपुरी तक किस तरह मेरे साथ जा सकती है ? क्या कभी ऐसा हो सकता है ? शरीर सहित कोई वहाँ नहीं जा सकता । तू यह कैसे समझती है कि पीछा करने से तेरा पति तुझे मिल जायगा ? पूर्वजन्म के कर्मानुसार सत्यवान की आयु पूरी हो चुकी, इसीलिए मैं उसे ले जाता हूँ । कर्म-फल के अनुसार मनुष्य दीर्घायुषी अथवा अल्पायुषी बनता है, शुभाशुभ कर्मानुसार कोई ब्रह्म-लोक में, तो कोई वैकुण्ठ में जाता है और किसी को नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ी हैं । इसलिए तू समझदार होते हुए भी मरे हुए मनुष्य के लिए क्यों विलाप करती है ? मेरा कहा मानकर तू वापिस लौट जा ।"

यम की यह बात सुनकर तेजस्विनी सती सावित्री ने जो-जो उत्तर दिये, उन्हें सुनकर यमराज आश्चर्य-चकित रह गये । धर्म क्या है, अधर्म क्या, शुभ-कर्म किसे कहते हैं और अशुभ किसे कहते हैं इन सब विषयों पर सावित्री ने अत्यन्त गम्भीर प्रश्न करने शुरू किये । इन प्रश्नों को सुनकर ही यमराज हैरान होगये । सावित्री की असाधारण प्रतिभा, असाधारण शास्त्र-ज्ञान, असा-

धारणा विचार-शक्ति तथा एकनिष्ठ पति-भक्ति देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"सावित्री ! प्यासे आदमी को पानी मिलने पर जिस तरह तृप्ति होती है, उसी तरह आज तेरे उत्तरों से मैं तृप्त हुआ हूँ। तेरे मुँह से निकले हुए प्रत्येक शब्द ने मेरे कानों में अमृत-वर्षा की है। इससे मैं तुझसे बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। सत्यवान के जीवन के सिवाय दूसरी जो वस्तु चाहे माँग, मैं वही तुझे दूँगा।"

सावित्री ने कहा—"यमराज ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हुए हैं, तो मुझे ऐसा वरदान दीजिए कि मेरे वृद्ध सास-ससुर का अन्धापन दूर हो; उन्हें फिर दीखने लगे और वे सूर्य के समान तेजस्वी बनें।"

"तथास्तु।" कहकर यम ने कहा, "तू बहुत थक गई है, अब घर लौट जा।"

सावित्री ने कहा—"पति के पास रहने से मुझे थकान किस तरह आ सकती है। पति की जो गति होगी, वही मेरी भी होगी। वे जहाँ जावेंगे, वहीं मैं भी जाऊँगी। इस विषय में मैं आपके रोके रुक नहीं सकती। कृपाकर मेरी दो-एक बातें और सुनते जाइए।"

इसके बाद सावित्री ने हृदय-स्पर्शी कई ऐसी धार्मिक बातें कहीं, जिन्हें सुनकर यमराज बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उससे फिर एक वरदान माँगने को कहा। इसपर सावित्री ने कहा—"मेरे ससुर का राज्य शत्रुओं ने छीन लिया है, जिससे उन्हें वन में रहना पड़ता है; इसीलिए मुझे वर दीजिये कि ससुरजी को फिर से अपना राज्य प्राप्त हो और वे धर्म-मार्ग पर चलते हुए सुख से राज्य करें।"

यम ने "तथास्तु" कहा।

सावित्री ने फिर यमराज के साथ धर्म की बातचीत छेड़ी और उन्होंने सब बातें एकाग्र-चित्त से सुनीं। सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और एक साथ दो वरदान और माँगने को कहा। तब सावित्री ने तीसरा वरदान यह मांगा कि "मेरे पिता अश्वपति के सौ पुत्र हों।" और यम ने सन्तुष्ट हो "तथास्तु" कहा।

अब चौथा वरदान माँगने की बारी आई। इस समय सावित्री ने अपने हृदय की सच्ची बात प्रकट की। उसने कहा—"सत्यवान के द्वारा मेरे सौ पुत्र उत्पन्न हों और वे मेरे कुल को उज्ज्वल करें, यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है।" और यमराज ने इसपर भी अनायास ही "तथास्तु" कह दिया।

अब सावित्री का मनोरथ सिद्ध हो गया। उसने जिस मन-वाँछित वरदान की प्राप्ति के लिए इतने व्रत-उपवास किये थे, उन व्रत-उपवास तथा तपस्या का फल आज उसे मिल गया। उसने नम्रतापूर्वक यमराज से कहा—"देव! आपने कृपाकर सत्यवान के द्वारा मुझे सौ पुत्र होने का वरदान तो दिया है, तब आप अब मेरे पति को किसलिए लिये जाते हैं? अब तो कृपाकर मेरे पति के प्राण वापिस दीजिए, इसीसे आप का वचन सत्य होगा।"

वचन से बंधे हुए यमराज अब क्या करते? उन्होंने कहा—"सावित्री! तू धन्य है। तेरे जन्म से स्त्री-जाति धन्यवाद की पात्र हुई है। ले, तेरे स्वामी का प्राण वापिस करता हूं। तू तुरन्त जंगल को लौट जा, तेरा पति सत्यवान फिर जीवित हो गया है। अब विलम्ब न कर।"

परमात्मा की इच्छा विचित्र है, उसकी लीला अद्भुत है। यह चराचर जड़-चेतन—संसार उसके नियमों से बँधा हुआ है। जन्म-मृत्यु, उन्नति-अवनति तथा उत्पत्ति-विनाश, सब उसके

नियमानुसार होते हैं, परन्तु आज इस सनातन नियम में भी अन्तर पड़ गया। सृष्टि के आरम्भ से आजतक जो सम्भव न हुआ था, वही आज प्रत्यक्ष हो गया। सती के ज्वलन्त सतीत्व का प्रभाव दिखाने एवं संसार में सती की मर्यादा स्थापित करने के लिए विधाता ने आज अपने नियम को भी अपवाद बनाकर सावित्री की प्रार्थना पूरी की। उसीकी कृपा से आज सत्यवान फिर जीवित हुआ।

सावित्री तुरन्त उस जंगल में वापस लौटी, तो सत्यवान को अँगड़ाई लेकर उठते और यह कहते हुए पाया—"सावित्री! रात बहुत गई मालूम होती है। मुझे बहुत नींद आगई। अबतक तुमने मुझे जगाया क्यों नहीं? नींद में मुझे ऐसा स्वप्न दिखाई दिया कि मानो एक प्रकाशमान काले रंग का पुरुष मुझे खींच कर कहीं ले जा रहा है। इसके बाद मुझे कुछ स्मरण नहीं रहा। यह सब क्या था सावित्री?" सावित्री ने पति की इस बात को योंही उड़ा दिया और कहा—"रात बहुत बीत गई है, चलो अपने आश्रम चलें।" और पति के साथ वह चल दी।

सत्यवान के माता-पिता अपने पुत्र और पुत्र-वधू के वापिस आने में बहुत देर हो जाने से अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। सारी रात उन्होंने वन में दोनों को ढुँढवाया। इतने में उषा—के नवीन प्रकाश में—दिन निकलते-निकलते—सावित्री और सत्यवान ने पहुँच कर माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने बड़े प्रेम से पुत्र और पुत्र-वधू को छाती से लगाया और बार-बार कुशल-समाचार पूछने लगे। यमराज के वरदान के कारण आज उनका अन्धापन दूर होगया था, अतः आज अपनी आँखों से पुत्र और पुत्र-वधू को देखकर उनके नेत्र सफल हो गये।

दूसरे दिन शाल्व देश से खबर मिली कि सेनापति ने शत्रुओं

को हराकर राजा द्युमत्सेन (सत्यवान के पिता) का राज्य वापिस ले लिया है, अतः महाराज को अब अपनी राजधानी को वापिस लौटकर पहले की तरह फिर राज्य-भार ग्रहण कर प्रजा का पालन करना चाहिये। वनवासी तपस्वियों ने आकर इस समाचार पर राजा को बधाई और शुभाशीर्वाद दिये और मङ्गलाचरण कर उन्हें विधिपूर्वक राजवेश पहनाया। तब पुत्र और पुत्र-वधू सहित राजा-रानी राजधानी को वापिस आये और बहुत वर्षों तक सुखपूर्वक राज्य करते रहे।

सावित्री के पिता भी यह समाचार सुनकर पुत्री और जामाता से मिलने आये और विधाता का लेख किस तरह बदला गया, यह सब सावित्री से पूछने लगे। उसके मुँह से सारा हाल सुन कर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और ईश्वर को अनेक धन्यवाद देने लगे। अभीतक सावित्री ने यह बात किसीपर प्रकट न की थी, किन्तु अब धीरे-धीरे सर्वत्र फैल गई और सब इसके लिये सावित्री की सराहना करने लगे।

इस प्रकार सावित्री ने अपने उज्ज्वल दृष्टान्त से सतीत्व का श्रेष्ठ आदर्श स्थापित किया है और सावित्री-व्रत द्वारा भारत-ललनाओं ने सावित्री का वह उच्च आदर्श अभी तक जीवित रखा है। सावित्री ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पवित्र और दृढ़-निश्चय हो तो अनन्य पातिव्रत-धर्म के बल से स्त्री के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। यही सावित्री का मूक सन्देश है।

———

नल की सहधर्मिणी

दमयन्ती

दमयन्ती उन परमोज्वल भारतीय स्त्री-रत्नों में से एक थी जिन्होंने प्राचीन काल में दुःख और विपत्ति में भी पति का साथ देने में अपना सौभाग्य समझा, उसके साथ जङ्गलों में पर्ण-कुटियों के निवास को, राज-महलों के निर्भय और ऐशो-आराम के जीवन की अपेक्षा अधिक सुखदायक समझा और अपने अतुल पवित्र सती-जीवन से भारतवर्ष का सिर संसार में ऊँचा कर दिया।

विदर्भ-राज भीम की यह कन्या थी। भीम के चार बच्चे थे। दम, दान्त और दमन नामक तीन पुत्र और चौथी कन्या थी—दमयन्ती। अपने चारों बच्चों के नामों के आरम्भ में भीम ने 'दम' क्यों लगाया, इसका भी एक कारण था। बहुत अधिक उम्र हो जाने तक भीम के कोई सन्तान नहीं हुई थी। अन्त में दमन नामक एक महान् ऋषि के वरदान से उनके चार बच्चे हुए। इसीलिये राजा ने कृतज्ञतापूर्वक अपने चारों अपत्यों के नाम इस तरह रखे।

इसी समय निषध देश में नल नामक एक राजा राज्य करता था। यह 'पुण्यश्लोक' कहा जाता था। जिनका यश पवित्र होता है, जो अपने सत्कार्यों के कारण प्रसिद्ध हो जाते हैं, उन स्त्री-

पुरुषों को पुण्यश्लोक कहा जाता है। प्राचीन काल में केवल चार व्यक्तियों को ही जनता की ओर से यह बहुमूल्य उपाधि दी गई थी—नल, युधिष्ठिर, सीता और भगवान् जनार्दन।

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥

रूप, गुण, विद्या और शौर्य इन—सब बातों में उस समय के सारे भारतवर्ष में नल राजा के समान कोई पुरुष नहीं था। उसके शासन-काल में प्रजा अपने मकान के द्वार खोलकर सोती, पर कहीं कभी तिनका भी इधर-का-उधर नहीं होता था। राजा बड़ा सत्यशील था। शहर में कोई न तो बीमार था, न दुःखी। कोष सोने से भरा हुआ था। राजा भी दानी था। उसने सब याचकों को मुँह-मांगा धन देकर उनके दारिद्र्य को भगा दिया था।

राजा नल अभीतक अविवाहित ही था, क्योंकि कोई उपयुक्त गुणवती लड़की उसे नहीं मिली थी जिसे वह अपनी सहधर्मिणी बनाता। दमयन्ती के रूप-गुणों की चर्चा सुनकर वह उसपर अनुरक्त हो गया। पर इसके लिये प्रयत्न करने से पहले, दमयन्ती की इच्छा जान लेना उसने आवश्यक समझा। वह पशु-पक्षियों की भाषा जानता था। अतः हंस के हाथ उसने दमयन्ती के पास अपना सन्देश भेजा। दमयन्ती ने नल की इच्छा का स्वागत किया और मन-ही-मन वह उसपर अनुरक्त हो गई। फिर भी, लोकाचार के लिये पिता से कहकर उसने स्वयंवर का आयोजन कराया।

दमयन्ती के स्वयंवर की घोषणा सुनकर, देश-विदेश के राजा विदर्भ नगरी में एकत्र हुए। निषध-राज नल भी आये। इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम भी दमयन्ती को ब्याहने की आशा में पहुँचे।

दमयन्ती के सौन्दर्य पर मुग्ध हो देवता लोग विवाह करने

निकले तो, पर रास्ते में उन्हें खयाल आया कि हम चारों में से किसीको दमयन्ती ने नहीं चुना तो हमारी लज्जा और अपमान का ठिकाना नहीं रहेगा। इसलिये उन्होंने सोचा कि एक दूत भेज-कर पहले दमयन्ती के प्रति अपना मनोरथ प्रकट कर दें। राजा नल को सब प्रकार सर्वश्रेष्ठ जानकर उनसे उन्होंने कहा "देखो नल, हम सब देवता हैं और दमयन्ती से विवाह करने की अभि-लाषा से इस स्वयंवर में आये हैं। तुम हमारा इतना काम करो कि दमयन्ती के पास जाकर आग्रहपूर्वक उससे कहो कि वह हम में से किसी एक के साथ विवाह कर ले।"

नल ने कहा "हे देवताओ! मैं भी तो यहाँ पर आपके ही समान दमयन्ती से विवाह करने की इच्छा से आया हूँ? अतः आपकी इस आज्ञा का पालन मैं कैसे कर सकता हूँ? जब कि मैं स्वयं दमयन्ती का पाणिग्रहण करने के लिये लालायित हूँ तब मैं उससे कैसे कह सकूंगा कि तू दूसरे से विवाह कर ले? इसलिये मुझे क्षमा कीजिए। दूसरे किसीसे आप यह काम करालें तो बड़ा अच्छा होगा।"

पर देवता लोग फिर भी उन्हींपर जोर देते रहे। तब वे देव-दूत बनकर दमयन्ती के पास जाने को तैयार हो गये। देवताओं की कृपा से वे गुप्त रूप से स्वयं दमयन्ती के महल में जा पहुँचे और देवताओं की सारी कथा सुनाकर उनमें से किसी एकको वरने के लिये दमयन्ती से आग्रह करने लगे।

दमयन्ती ने कहा—"हे दूत-श्रेष्ठ! आप वृथा कष्ट न करें। देवताओं को मेरा प्रणाम सुनाकर कहिए कि मैं इससे पहले ही राजा नल को अपना पति बना चुकी हूँ। स्वयंवर में मैं उन्हींके कण्ठ में माला पहनाऊँगी।"

तब नल ने अपना परिचय देते हुये कहा—"हे राजकुमारी,

नल तो मैं स्वयं ही हूँ। देवताओं के आदेश से मैं उनका दूत बनकर तुम्हारे पास आया हूँ। अतः तुम्हारा यह उत्तर लेकर मैं उन्हें अपना मुँह कैसे दिखाऊँगा? वे मेरे विषय में क्या सोचेंगे?"

दमयन्ती बोली—"मैं जिसे चाहूँ वरमाला पहना सकती हूँ इसमें आपका क्या क़सूर? आपको मैं कहीं छिपाकर तो वरमाला पहनाती नहीं। सभा में सबके सामने पहनाऊंगी। उस सभा में देवता भी होंगे। उनके देखते-देखते मैं अपनी इच्छानुसार आपको वरूँगी। फिर देवता आपको दोष नहीं लगावेंगे।"

नल लौट गये और सारा हाल देवताओं से कह सुनाया। उन्हें यह बात बड़ी बुरी लगी कि दमयन्ती ने हमारी अवगणना कर दी। स्वयंवर-सभा में सभी देवता नल का रूप धारण कर के बैठ गये।

यथासमय दमयन्ती भी वरमाला हाथ में लेकर सभा-मण्डप में आ पहुँची। उपस्थित राजाओं के नाम-गुण आदि का परिचय उसे दिया जाने लगा। पर दमयन्ती का ध्यान उधर नहीं था। उसने तो पहले से ही नल राजा को अपना वर निश्चित कर लिया था। इसलिए अन्य राजाओं के गुण-संकीर्तन सुनने से उसे कोई मतलब नहीं था। नल को खोजते हुए उसने अपनी आँखें चारों तरफ दौड़ाई; तब उसने देखा कि नल के समान आकृतिवाले चार पुरुष बैठे हैं। दमयन्ती चौंकी। वह समझ गई कि मुझे ठगने के लिए देवताओं ने यह माया-जाल रचा है।

वह किसी भी प्रकार सच्चे नल को पहचान नहीं सकी, तब उसने उच्च स्वर से कहा—"हे देवताओ, मैं तो पहले ही से राजा नल को अपना पति समझ चुकी हूँ। आप देवता हैं, शरणागत मनुष्य के धर्म की रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है। फिर क्यों छल-

कपट करके मुझे अधर्म के मार्ग पर ले जाने की कोशिश कर रहे हैं ? इस अबला पर दया कीजिये। सच्चे नल को पहचानने में मेरी सहायता कीजिये। आप अपने-अपने चिह्नों को धारण कर लीजिए। मैं अपने स्वामी को ढूंढकर उसीको वरूँगी। सती के धर्म की रक्षा कीजिए।"

शरणागत दमयन्ती की प्रार्थना से संतुष्ट होकर देवताओं ने अपने-अपने चिह्न धारण कर लिये और दमयन्ती महाराज नल के कण्ठ में वरमाला पहनाकर कृतार्थ हो गई। देवताओं ने प्रसन्न होकर राजा नल को वरदान दिया कि जहाँ तू चाहेगा वहाँ उसी समय अग्नि प्रकट हो जायगी, तथा जल भी उत्पन्न हो जायगा और तू जैसी रसोई बनावेगा वह स्वादिष्ट होगी।

इस तरह वरदान देकर देवता तो स्वर्गलोक को चल दिये। रास्ते में देवताओं को द्वापर और कलि मिले। वे भी दमयन्ती के स्वयंवर में आ रहे थे। दुष्ट कलि को इस बात पर बड़ा क्रोध आया कि दमयन्ती ने देवताओं को छोड़कर मानव-नल को ही अपना पति बनाया। उसने द्वापर से कहा, "भाई, जिस प्रकार होगा मैं राजा नल के शरीर में प्रवेश करके उसे जुआ खेलने में प्रवृत्त करूँगा तथा उसे राज्य-भ्रष्ट करा के दमयन्ती का वियोग कराऊँगा। तू पाँसों में प्रवेश कर के मेरी सहायता करना।" इस तरह सलाह करके ये दोनों दुष्ट नल के राज्य में चले गये।

दमयन्ती के सहवास में राजा बड़े सुख से राज्य करने लगा। उसे इन्द्रसेन और इन्द्रसेना नामक पुत्र और पुत्री हुए। परन्तु कलि के प्रताप से वे दोनों अधिक दिन तक सुखोपभोग नहीं कर सके॥

एक दिन भ्रमवश नल ने अपवित्र अवस्था में ही संध्यावन्दन कर डाला। यह मौक़ा देखकर झट कलि उसके शरीर में घुस गया। राजा नल का पुष्कर नामक एक दुष्ट-बुद्धि और दुश्चरित्र

भाई था। कलि ने उसके पास जाकर कहा—"तुम नल से जुआ खेलो। मैं नल के शरीर में प्रवेश करके उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर डालूँगा। द्वापर पाँसों में प्रवेश करके तुम्हारी सहायता करेगा। जुए में नल को हराकर तुम उसके विस्तीर्ण राज्य के मालिक बन जाओ।"

राज्य के लोभ से पुष्कर अपने भाई का सर्वनाश करने को उद्यत हो गया। नल के पास जाकर उसने उसे जुआ खेलने के लिए बुलाया। कलि के प्रभाव से नल ने भी इन्कार नहीं किया।

खेल शुरू हुआ। नल बाज़ी-पर-बाज़ी हारने लगा। पर हारने वाला तो दूना जुआ खेलता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों नल हारता गया त्यों-त्यों वह पागल की तरह बढ़-बढ़कर बाज़ी लगाता गया। दमयन्ती ने भी देखा कि सर्वनाश नज़दीक है। उसने राजा से स्वयं बहुतेरा कहा, मंत्रियों से कहलवाया, अन्य अधिकारियों द्वारा प्रार्थना करवाई; पर महाराज तो कलि के प्रभाव में थे, इसलिए किसीकी कुछ न चली।

दमयन्ती ने समझ लिया कि अब हमारे राह के भिखारी बनने में कोई देर नहीं है। वह भावी विपत्ति का सामना करने के लिए तैयारी करने लगी। "मैं तो पतिदेव के साथ हो लूँगी, पर इन बच्चों का क्या होगा?" यह सोचकर फ़ौरन उसने सारथी को बुलाया और बच्चों को अपने मैके पहुँचवा दिया।

इधर राजा नल अपने सारे राज्य को भी हार गया। अब बाज़ी लगाने के लिए उसके पास कुछ भी न बचा। पुष्कर ने कहा, "अब दमयन्ती को न रख दो?" यह सुनकर नल आग-बबूला हो गया। पर वह कर ही क्या सकता था? जुए में सर्वस्व हार चुका था। उसने अपना राजवेश उतारकर रख दिया। राजमुकुट तथा अलंकारादि का त्याग किया और केवल शरीर पर

पहने हुए कपड़ों के साथ शहर से बाहर एक राह में जाकर खड़ा हो गया। दमयन्ती तो अपने पति के साथ जाने के लिये तैयार ही थी। उसने भी अपने क़ीमती कपड़ों को फेंक दिया और मामूली कपड़े पहनकर वह भी नल के साथ हो गई। नल कुछ न बोले, मुड़कर देखा तक नहीं। नगर छोड़कर बाहर गये और एक वृक्ष की छाया में जाकर जब खड़े हुए तो पीछे दमयन्ती पर नज़र पड़ी। केवल एक ही वस्त्र पहने हुए अलंकारहीन, राजकन्या और राजमहिषी दमयन्ती आज भिखारिन के वेश में उसके पास खड़ी थी! नल की आँखों में आँसू छल-छला आये। उसने कहा—"दमयन्ती, तुम कहाँ जा रही हो? मैं भिखारी हूँ, तुम राजकन्या हो। भिखारी के साथ तुम कहाँ जाओगी?" पर दमयन्ती ने कहा—'निषध देश के राज्येश्वर आज राज छोड़कर भिखारी बने हैं तो उनकी यह दासी भी भिखारिन बनकर जाने के लिए तैयार है। बिना आपके मेरी क्या गति है? आप राजा हों या ग़रीब, बिना आपके मुझे कौन पूछने वाला है? कौन मेरा सम्मान करेगा? राज-नगरी में अब मेरा क्या रक्खा है?"

नल ने उसे लौटाने की बहुतेरी चेष्टा की, पर वह अपने निश्चय से न डिगी। तब पति-पत्नी दोनों ही शहर छोड़कर चल दिये। आश्रयहीन होकर उपवास और प्यास से घबराकर राजा ने एक वन का आश्रय लिया।

इस वन में रहते हुए एक दिन ये दोनों क्षुधा से बड़े व्याकुल हो गये। खाने को कुछ भी नहीं मिला कि इतने में नल को कितने ही सुन्दर पक्षी दिखाई दिये। पक्षियों को पकड़ने के लिये नल ने अपना एकमात्र वस्त्र उनपर फेंका। पर वे तो उसको ही ले उड़े और आकाश से यह कहते हुए सुनाई दिये, "हे नल, हम वे ही द्यूत के पाँसे हैं। तेरी और भी दुर्गति करने के लिये आज

यह तेरा वस्त्र भी लिये जा रहे हैं।" तब नल की मर्यादा की रक्षा करने के लिये दमयन्ती ने उन्हें अपना वस्त्र दिया।

इस दुःख से नल का हृदय भर आया। यह दुःख उन्हें असह्य लगा। वे यदि अकेले होते तो हर तरह के कष्ट सह लेते, परन्तु दमयन्ती को इस तरह वन-भ्रमण में भूख-प्यास से व्याकुल होते देखकर उनके हृदय में दारुण वेदना होने लगी। दमयन्ती यदि अपने मैके चली जाती तो वे सब कष्ट मिट जाते। पर यह सम्भव नहीं था कि दमयन्ती आसानी से उनका कहा मानकर अपने मैके चली जाय। अतः उन्होंने सोचा कि मौका मिलते ही दमयन्ती को अकेली छोड़कर चला जाऊँ। तब लाचार हो वह अपने आप अपने पिता के घर चली जायगी। यह सोचकर राजा नल दमयन्ती को विदर्भ देश का मार्ग बताने लगे।

चतुर दमयन्ती बड़ी भयभीत हो गई। उसने कहा—"मुझे विदर्भ देश का मार्ग क्यों बता रहे हैं? क्या इस वन में मुझे अकेली छोड़कर आप चले जाना चाहते हैं? नल ने कहा—"नहीं, मेरे कहने का यह मतलब नहीं है।" परन्तु यह बात दमयन्ती के गले नहीं उतरी। अतः उसने पुनः पूछा—"फिर बताइये आपने मुझे विदर्भ देश का मार्ग क्यों बताया? आपकी बुद्धि इस समय स्थिर नहीं है। मैं नहीं समझ सकती कि आपके दिल में क्या है। मुझे छोड़कर नहीं जाना। आप तो इतने कष्ट उठा रहे हैं। मैं आपको अकेला छोड़कर कभी अपने मैके नहीं जाऊँगी। आपके साथ रहकर यहीं आपकी सेवा करती रहूंगी। अकेले पड़ जाने पर आपको और भी अधिक दुःख होगा। यहाँ आपके साथ रहकर मैं आपका दुःख कम करती रहूंगी और आपकी सेवा भी करती रहूंगी। मैं इसीमें अपना परम सौभाग्य समझती हूं। इस सौभाग्य से मुझे वञ्चित न करना। विदर्भ देश को चलना हो तो दोनों चलें।"

एक दिन नल ने देखा कि दमयन्ती गाढ़ निद्रा में सोई हुई है। अगर उसे छोड़कर जाना है तो उसके लिए यही समय सबसे अच्छा है। पर दोनों एक ही वस्त्र पहने हुए थे। नल जाते कैसे ? किन्तु कलि तो उनके पीछे हाथ धोकर पड़ा था। उसने नल के लिये वहाँ एक छुरी भेज दी। नल ने छुरी उठाई और उससे वस्त्र काट लिया। अब क्या था ? आधे को आप पहनकर उस घोर जङ्गल में दमयन्ती को अकेली छोड़कर चल दिए। परन्तु जाते-जाते जरा रुके। एक गहरी प्रेममय दृष्टि से दमयन्ती को निहारा। उसकी आँखें डबडबा आईं। पर जी को कड़ा किया और यह कहकर चल दिए—"पुण्यवती, तू धर्मरूपी भूषण से भूषिता है। बारह आदित्य, आठ वसु, दोनों अश्विनीकुमार और मरुत तेरी रक्षा करेंगे।"

जब नींद खुली तो दमयन्ती ने अपने को अकेली पाया। वह फौरन् समझ गई कि सचमुच प्राणनाथ उसे छोड़कर चले गये। अब तो उसके होश उड़ गये। पगली की तरह रोती हुई वह उस घने जंगल में नल को ढूँढ़ने यहाँ-वहाँ भटकने लगी। उसे अपने शरीर की सुध नहीं थी। पैरों में काँटे चुभते जाते थे। रो-रोकर आँखें आग की तरह लाल हो गई थीं। शरीर जहाँ-तहाँ से वृक्षों के तीखे पत्तों और काँटों से छिल गया था और उसमें से खून की धाराएँ वह रही थीं। कभी ठोकर खाकर औंधे मुँह गिरती, कभी आँसुओं के कारण सामने की राह को भली-भाँति न देख पाने से गड्ढे में लुढ़क जाती, कभी गहरी झीलों में उतरती, कभी घाटियों में छिप जाती तो कभी पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर खड़ी रहकर आस-पास के प्रदेश में अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को दूर-दूर तक फेंककर प्राणनाथ को ढूँढ़ती। कभी शेर का सामना हो जाता तो कभी साँप से बाल-बाल बचकर निकल

जाती। कभी भेड़ियों का गुर्राना सुनकर भागती तो कभी रीछ से पीछा छुड़ाकर अपनी जान बचाती। कहीं-कहीं वृक्षों की ऐसी घनी झाड़ी थी कि मार्ग तक रुक गया था। आम, इमली, नीम, सेमल आदि की डालियों से बचती तो उसके पैर लताओं में अटक जाते। उसके मुक्त केश भी जहाँ-तहाँ वृक्षों की डालियों में उलझते जाते थे। इस तरह उसने न दिन देखा न रात, पूरे तीन दिन तक बिना कहीं बैठे वह बराबर नल को उस अरण्य में ढूँढ़ती रही और जो भी सजीव-निर्जीव पदार्थ दिखाई देता वृक्ष, लता, पहाड़, नदी, सरोवर, जीव-जन्तु सबसे अपने स्वामी का पता पूछती।

इस तरह अपने शरीर की सुधि-बुधि भूलकर उन्मादिनी की तरह घूमते-घूमते अचानक उसका पैर एक विशाल अजगर के मुँह में पड़ गया। इत्तफ़ाक़ से ठीक वक्त पर एक शिकारी वहाँ पर आ पहुँचा और उसने उस अजगर को मार डाला। परन्तु मृत्यु के मुँह से छूटना था कि दमयन्ती पर एक दूसरा सङ्कट आया। उसके प्राणों को बचाने वाला शिकारी उसके रूप पर मोहित हो गया। विनती और मामूली आग्रह से जब काम न चला तब वह दमयन्ती पर बलात्कार करने पर उतारू हो गया। दमयन्ती आग-बबूला हो गई, उसकी आँखों से आग झरने लगी। उसने क्रोधपूर्वक शिकारी की ओर देखकर कहा—"पापी, तेरी यह हिम्मत! चल हट यहाँ से! खबरदार मेरे शरीर को स्पर्श किया तो?" सती के तेज और उसके अलौकिक प्रभाव से शिकारी भयभीत होकर गिर पड़ा और उसी समय उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

पुनः दमयन्ती नल को खोजती हुई वन-वन और गाँव-गाँव घूमने लगी। बदन पर एक फटा हुआ वस्त्र तथा शरीर और

बालों पर धूल छाई हुई, वह पागल की तरह दौड़ती-फिरती थी। कोई उसे सचमुच पागल समझकर दया का व्यवहार करते तो कोई क्रोध करते। जब वह गाँवों में जा निकलती तो आवारा बच्चे उसके पीछे हो लेते और उसे बेहद सताते। इस तरह घूमते-घूमते उसे व्यापारियों का एक दल मिला जो चेदि राज्य की ओर जा रहा था। दमयन्ती भी उसके साथ हो ली और चेदि राज्य चली गई।

एक दिन जब वह राजमहल के पास से गुजर रही थी, तब महल के झरोखे में बैठी राजमाता की नज़र उसपर पड़ी और उन्होंने दासी को भेजकर दमयन्ती को अन्तःपुर में बुला लिया। ज्यों ही दमयन्ती अन्दर पहुँची, राजमाता ने उसे बड़े प्रेमपूर्वक आसन पर बैठाया और उसकी पूर्व-कथा पूछी।

दमयन्ती ने कहा—"माँ, मैं बड़ी दुःखी हूँ। मैंने ऊँचे कुल में जन्म-ग्रहण किया है और योग्य स्वामी को वरा है। पर द्यूत में सर्वस्व हारकर मेरे स्वामी राह के भिखारी बन गये हैं। हम दोनों लाचार हो वन को चल दिये थे पर मेरे स्वामी मुझे एक दिन नींद में सोती हुई छोड़कर एकाएक न जाने कहाँ चले गये। बस, तबसे मैं उन्हें खोजती फिरती हूं।"

यह करुण-कहानी सुनकर राजमाता को दया आई। उन्होंने कहा—"बेटी, तू अकेली है। इस तरह तू कहाँ-कहाँ पति को ढूंढ़ेगी? तू मेरे पास रह। मेरे सेवक तेरे स्वामी को खोज लायेंगे। यह भी सम्भव है कि किसी दिन घूमते-घामते वेही इस नगरी में आ निकलें।"

दमयन्ती ने कहा—"माँ, तुमने मुझपर बड़ी दया की है। सौरन्ध्री बनकर मैं तुम्हारे यहाँ रहूंगी। पर मैं कभी किसीकी जूठन नहीं खाऊँगी, किसीके पैर नहीं धोऊँगी और किसी

पर-पुरुष से बातचीत नहीं करूँगी। यदि कोई पुरुष मेरा अपमान करेगा तो तुम्हें उसे उचित सजा देनी पड़ेगी।"

राजमाता ने सब स्वीकार कर उसे वहीं रख लिया और अपनी कन्या सुनन्दा को बुलाकर कहा—"बेटी, इस दुःखी सौरन्ध्री ने मेरा आश्रय लिया है, आज से तू इसे अपनी सखी समझना, कभी इसका अपमान न करना।"

सुनन्दा स्नेहपूर्वक दमयन्ती को अपने भवन में ले गई। राजमाता दमयन्ती की मौसी होती थी। पर दमयन्ती को देखे उसे वर्षों हो गये थे और तब दमयन्ती निरी बालिका थी, इसलिए इस बार वह उसे पहचान नहीं सकी, न दमयन्ती ने ही अपना परिचय दिया। खैर! सुनन्दा के साथ-साथ दमयन्ती चेदि राजा की नगरी में निवास करने लगी।

इधर दमयन्ती के पिता विदर्भ-राज भीम ने जब नल-दमयन्ती के वनवास के समाचार सुने तो उसी समय उन्हें ढूंढ़ने के लिये उसने चारों दिशाओं में ब्राह्मणों को भेज दिया। उनमें से सुदेव नामक एक ब्राह्मण घूमता-घामता कहीं चेदि राज्य में आ पहुँचा। चेदि राजा के महल में दमयन्ती को देखते ही उसने दमयन्ती को पहचान लिया। दमयन्ती का परिचय होते ही राजमाता भी बड़ी प्रसन्न हुई। वे तो पहले ही से दमयन्ती को अपनी बेटी के समान प्यार करती थीं। ज्यों ही उन्होंने सुना कि दमयन्ती तो उनकी सगी बहिन की लड़की है, त्यों ही राजमाता ने उसे बड़े प्रेम से अपने हृदय से लगा लिया। शीघ्र ही अनेक क़ीमती वस्त्राभूषण मँगाकर दमयन्ती को पहनायें और उसे एक सुन्दर रथ में बैठा रक्षकों के साथ अपने पिता के यहाँ विदा कर दिया।

अनेक दुःख और आपत्तियां झेलती हुई दमयन्ती आखिर अपने पिता के यहाँ पहुँच गई। बरसों से बिछुड़े हुए अपने बालकों

को देखकर वह क्षणभर अपने आपको भूल गई। पर ज्योंही उसे होश आया, पति-विरह की अग्नि फिर जल उठी। "प्राणनाथ कहाँ होंगे? उनकी क्या अवस्था होगी?" बस, इसी चिन्ता में वह दिन-रात जली जा रही थी।

कन्या के दुःख से दुःखी हो राजा भीम ने फिर राजा नल को खोजने के लिये विद्वान् और चतुर ब्राह्मणों को भेजा। दमयन्ती ने उन्हें बुलाकर कहा—"आप सब देश-देशों में घूमिए और जहाँ-जहाँ मनुष्यों की भीड़ देखें, ऊँचे स्वर से इस श्लोक को पढ़िये। जो कोई इस श्लोक का उत्तर दे उसकी खबर मुझे देना।"

श्लोक का भावार्थ यह है—'शठ, अपनी पतिव्रता स्त्री को जंगल में अकेली छोड़कर तुम कहाँ घूम रहे हो? आधा वस्त्र पहनकर वह केवल तुम्हारे लिये दिन-रात रोती रहती है। तुम उसके प्रश्नों का जवाब दो। स्वामी को अपनी स्त्री की हमेशा रक्षा एवं प्रतिपालन करना चाहिये। फिर तुम ऐसे धर्मज्ञ होकर भी अपनी धर्म-पत्नी को उस निराधार अवस्था में छोड़कर चले गये? दयालु होकर आपसे यह निर्दयता का व्यवहार कैसे हो गया? अब तो दया करो। अपनी दुखिया विरहिणी स्त्री को अधिक कष्ट न दो। अब तुम्हारे बिना वह अधिक दिन नहीं जी सकेगी?"

दमयन्ती की आज्ञानुसार ब्राह्मण भिन्न-भिन्न दिशाओं में गये, राजा नल इस समय अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ सारथी का काम करते थे। रथ चलाने में वे असाधारण निपुण थे, इसलिए उन्होंने यह काम स्वीकार कर लिया था।

दमयन्ती को छोड़कर ज्योंही नल आगे बढ़े, त्योंही उन्होंने देखा कि अरण्य में आग लगी हुई है और कोई जोर-जोर से उन्हें पुकारकर रक्षा के लिए प्रार्थना कर रहा है, "कहीं पुण्यश्लोक नल है? अरे, मुझे बचाओ!" यह पुकार सुनकर नल वेधड़क

दावानल में घुस गये। अन्दर जाकर देखा तो एक महान् कर्कोटक नाग पड़ा हुआ है। इसी भुजंग ने नल से सहायता की याचना की थी। नल इसे उठाकर दावानल से बाहर ले आये। पर बाहर आते ही कर्कोटक ने जोर से नल के हाथ में काट लिया। नल चिल्लाकर बोले, "ऐ दुष्ट धिक्कार है तुझे। अरे, मैंने तो तेरी जान बचाई और उसका बदला तूने यों दिया?" कर्कोटक ने कहा—'महाराज, मैंने आपका कोई अहित नहीं किया है। जरा अपने शरीर पर नजर डालिए।" नल ने अपने शरीर की ओर देखा तो वह सिर से पैर तक काला-कलूटा और बदसूरत हो गया था। यह देख नल बड़े अचम्भे में पड़ गया। किन्तु कर्कोटक फिर बोला—"महाराज, मैंने आपका भला ही किया है। अभी कुछ काल आपको गुप्त रूप से ही रहना पड़ेगा। मेरे काटने से आपकी वह जरूरत अनायास पूर्ण हो गई। मेरे विष से आपको और किसी तरह का कष्ट न होगा। हाँ, जबतक आपके शरीर में कलि छिपा हुआ है, वह इस विष से जलता रहेगा। लीजिए, मैं यह वस्त्र आपको देता हूँ जब आप इसे पहनकर मेरा स्मरण करेंगे उसी समय आपको अपना पूर्वरूप प्राप्त हो जायगा। आप जाकर अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के सारथी हो जाइए। वह द्यूत विद्या में बड़ा प्रवीण है। आप उसे अपनी अश्व-विद्या देकर उससे अक्ष-विद्या सीख लीजिए और पुनः द्यूत खेलकर अपना पुराना राज्य प्राप्त कर लीजिए।" तभी से कर्कोटक की सलाह के अनुसार बदसूरत बनकर राजा नल ऋतुपर्ण के यहाँ सारथी बनकर रहने लगे थे।

दमयन्ती के भेजे ब्राह्मण चारों दिशाओं में नल की खोज में घूम रहे थे। घूमते-घूमते वही सुदेव नामक ब्राह्मण संयोगवश राजा ऋतुपर्ण की राजसभा में आ निकला और दमयन्ती की आज्ञानुसार वही श्लोक उसने जोर से बोला। यह गूढ़ श्लोक-

सुनकर राजसभा के सभी लोग आश्चर्य-चकित हो गये। ब्राह्मण सब जगह घूमा, पर किसीने उत्तर नहीं दिया। अन्त में वह ऋतुपर्ण की अश्वशाला में गया। वहाँ उस श्लोक के सुनते ही बाहुक नामधारी नल एकाएक बाहर निकल पड़ा। वह ब्राह्मण को एकान्त में ले गया और रोते-रोते उसने ब्राह्मण से ये शब्द कहे—"अच्छे कुल की स्त्रियां विपत्ति आ पड़ने पर भी धीरज नहीं खोतीं। धर्म के बल से वे अपनी रक्षा करती हैं। स्वामी उनका परित्याग कर दे तो भी वे उससे गुस्सा नहीं होतीं, स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेती हैं। अत्यन्त मनोव्यथा से दमयन्ती के हित के लिए ही नल ने उसका परित्याग किया था। इसलिये सुशीला दमयन्ती को चाहिए कि वह नल को क्षमा करे। नल राज्य-भ्रष्ट है, लक्ष्मीहीन है, यह सोचकर दमयन्ती उसे जरूर क्षमा करेगी ?" अधिक पूछताछ करने पर सुदेव को यह भी मालूम हुआ कि बाहुक पाक-विद्या में भी बड़ा निपुण है। अश्व-विद्या में तो इसकी बराबरी करने वाला संसार भर में कोई नहीं है। सुदेव वहाँ से सीधा विदर्भ पहुँचा और दमयन्ती को सारा हाल कह सुनाया।

दमयन्ती समझ गई कि बाहुक ही नल है। किसी आकस्मिक घटना के कारण वह इतना बदसूरत हो गया है। माता की सलाह लेकर उसने पुनः सुदेव को अयोध्या भेजा। जाते समय उसे कहा कि तुम अयोध्या जाकर ऋतुपर्ण राजा से कहो कि "परि-त्यक्ता दमयन्ती कल सुबह पुनः स्वयंवर करनेवाली है, अतः यदि उसे प्राप्त करने की इच्छा हो तो जितनी शीघ्रता से हो सके कल सुबह विदर्भ पहुँच जाइए।" दमयन्ती जान गई कि सिवा नल के ऐसा कोई आदमी नहीं जो ऋतुपर्ण को एक दिन में अयोध्या से विदर्भ पहुँचा दे, अगर पहुँचा दे तो निःसन्देह समझ लेना चाहिये कि वही नल है।

सुदेव अयोध्या पहुँचा और उसने ऋतुपर्ण से ये समाचार कह सुनाये। बाहुक के अश्व-विद्या-कौशल के कारण ऋतुपर्ण उसी दिन शाम को विदर्भ पहुँच गया। उसकी अश्व-विद्या से प्रसन्न होकर ऋतुपर्ण ने उसे अपनी अक्ष-विद्या सिखा दी और आप उससे अश्व-विद्या सीख गया। इधर नल के शरीर में कर्कोटक के विष के कारण कलि जलते-जलते अत्यन्त दुर्बल और कायर हो गया था, वह फौरन नल के शरीर से भागो निकला।

दमयन्ती ने ऋतुपर्ण को जो सन्देश भेजा था, राजा भीम को उसका पता भी नहीं था। एकाएक राजा ऋतुपर्ण को आया हुआ देखकर आदर-सत्कार के बाद उसने ऋतुपर्ण से आने का प्रयोजन पूछा। इधर स्वयंवर की तैयारी न देखकर ऋतुपर्ण भी चकित हो गया था। उसने कहा—"महाराज यों ही आपके दर्शन के लिये मैं चला आया हूँ।" भीम को उसके उत्तर पर विश्वास नहीं हुआ। फिर भी राजा ने उसके रहने-ठहरने की यथायोग्य व्यवस्था कर दी! बाहुक रथ-शाला में अपना रथ ले गया और वहीं उसने आराम किया।"

राजमहल की अटारी पर से दमयन्ती ने बाहुक को देख लिया। परन्तु उसकी सूरत-शक्ल देखकर उसका सारा विश्वास जाता रहा। फिर भी उसने अधिक जाँच करने लिये केशिनी नामक अपनी एक सखी को बाहुक के पास भेजा। केशिनी ने बाहुक के पास जाकर कई भेद की बातें पूछना शुरू कीं, कई सवाल पूछे; फिर उसने कहा—"दमयन्ती ने अयोध्या में एक ब्राह्मण को भेजा था, उसके श्लोक के उत्तर में आपने जो कहा था उसे जरा फिर से तो कह जाइए।

अश्रुपूर्ण नयनों से बाहुक ने पुनः वह उत्तर सुना दिया।

केशिनी ने आकर सारा हाल दमयन्ती से कह सुनाया। दमयन्ती ने फिर उसे यह कहकर बाहुक के पास भेजा कि अब की बार तू उससे बिना ही कुछ कहे-सुने उसके सारे काम-काज देखती रह। कोई अलौकिक बात दिखाई दे तो मुझे खबर करना।

केशिनी पुनः बाहुक के पास लौट आई। बाहुक ऋतुपर्ण के लिए रसोई बना रहा था। ऋतुपर्ण के आहार के लिए विदर्भ-राज ने तरह-तरह की चीजें भेजी थीं। उनको धोने के लिए जब पानी की आवश्यकता हुई तो बाहुक की इच्छानुसार फौरन एक खाली लोटा पानी से अपने-आप भर गया। खाना पकाने के लिए जिन लकड़ियों को बाहुक लाया था उन्हें चूल्हे में रखते ही वे धक्-धक् जल उठीं। (स्वयंवर के बाद देवताओं के दिये वरों के कारण ये सब अलौकिक शक्तियाँ नल को प्राप्त हो गई थीं) केशिनी ने आकर दमयन्ती को ये सब बातें सुना दीं। परन्तु फिर भी अधिक परीक्षा करने के लिये दमयन्ती ने बाहुक का पकाया हुआ थोड़ा भोजन मँगाया दमयन्ती ने उसे चखकर देखा तो उसका स्वाद आश्चर्यजनक था और यह स्वाद तो उसका चिर-परिचित था। सिवा नल के और किसीके पकाये अन्न में यह स्वाद हो ही नहीं सकता था। इन सब लक्षणों से दमयन्ती को निश्चय हो गया कि बाहुक ही नल है।

परन्तु नल का वह मनमोहक स्वरूप कैसे बदल गया? इस शंका का समाधान किसी प्रकार नहीं हो सका। तब आखिर जाँच के लिए दमयन्ती ने अपने पुत्र और पुत्री को केशिनी के साथ नल के पास भेज दिया।

वर्षों से बच्चों को नहीं देखा था, इसलिये नल अपने हृदय के आवेग को नहीं रोक सका। रोते हुए उसने दोनों बच्चों को अपनी गोद में लेकर उन्हें बड़े प्रेम से हृदय से लगाकर उन्हें बार-बार

चूमा। परन्तु फ़ौरन वह चेत गया और केशिनी से कहने लगा—"मेरे भी ऐसे ही दो बच्चे हैं। इनको देखते ही मुझे एकाएक उनका स्मरण हो आया। इसलिये मेरा हृदय भर गया। तुम इस बात का कोई और ख़याल न करना।"

यह सब केशिनी ने दमयन्ती से आकर कह दिया। अब तो दमयन्ती को किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह गया। उसे निश्चय हो गया कि किसी दैवी घटना के कारण नल का रूप बदल गया है। उसने स्वयं एक बार बाहुक से मिलने की अपनी इच्छा माता-पिता से जाहिर कर उसे अन्तःपुर में बुलाने की आज्ञा प्राप्त कर ली।

भीम राजा की आज्ञा से बाहुक अन्तःपुर में गया। दूसरी बार स्वयंवर करने की बात सुनकर दमयन्ती पर से नल की श्रद्धा बिलकुल उठ गई थी। 'क्या मुझको छोड़कर दमयन्ती दूसरा पति करने को तैयार हो गई है?' इस विचार से उसे इतना दुःख हो रहा था कि उसने उसे पहले-पहल अपना परिचय तक न दिया। परन्तु उसने जब देखा कि दमयन्ती के शरीर पर अभी तक वही आधा फटा हुआ वस्त्र है, उसके केश मलीन हैं, शरीर निस्तेज हो रहा है, त्योंही उसका समाधान हो गया। उसे विश्वास हो गया कि वह तो ढूँढ़ने के लिये इसकी युक्ति होगी।

नल को देखते ही दमयन्ती उसके चरणों पर गिर पड़ी। दोनों ने एक-दूसरे को पहचान लिया।

अपना परिचय देने पर नल ने दूसरे स्वयंवर की बात पर दमयन्ती को बड़ा उपालम्भ दिया, तब दमयन्ती ने रोते हुए बाहुक को यह सारा हाल कह सुनाया। नल के दिल से अब तो सारे सन्देह जाते रहे। उसने कर्कोटक का दिया वस्त्र धारण करके नाग देवता का स्मरण किया। देखते-ही-देखते नल का वह काला-

कलूटा बदसूरत शरीर बदलकर पहले की भाँति सुन्दर तेजपूर्ण शरीर हो गया।

कई दिन बाद हजारों मुसीबतें झेलने के पश्चात् पुनः पति-पत्नी का सम्मिलन हुआ। सारे शहर में आनन्दोत्सव छा गया। ऋतुपर्ण ने बड़े आनन्द के साथ नल को अपने मित्र की हैसियत से आलिंगन दिया। दमयन्ती की अभिलाषा से आये हुए ऋतुपर्ण के अथवा नल के दिल में किसी प्रकार की ईर्ष्या नहीं थी।

एक मास तक ससुराल में रहकर, भीमराज के दिये असीम धन-रत्न और दास-दासियों को लेकर नल दमयन्ती सहित निषध देश में आ पहुँचा और पुष्कर को अपनी अक्ष-विद्या के बल से द्यूत में हराकर अपने पहले राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया। पराजित पुष्कर से नल ने कहा, "पुष्कर, तू मेरा छोटा भाई है, तूने जो कुछ भी किया हो, पर मेरा स्नेह तुझपर से कम नहीं हुआ है। मैं तेरी पहली सभी सम्पत्ति लौटाए देता हूं। तू मेरे राज्य में सुख से किन्तु सदाचारपूर्वक रह।"

———

दुष्यन्त की पत्नी

शकुन्तला

प्राचीन काल में जिस प्रकार स्त्रियाँ स्वामी के चरणों में ही सम्पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करने में अपना नारी-जीवन सार्थक समझती थीं, स्वामी को देवता समझकर उसकी सेवा करना ही अपने जीवन का मुख्य कर्त्तव्य समझती थीं, उसी प्रकार आर्यपुरुष भी स्त्री को सहधर्मिणी और गृहिणी के उच्च आसन पर बैठाकर गृहदेवी की भाँति उसका सम्मान किया करते थे। क्षत्रिय राजे साधारणतः अपनी रानी को देवी कहकर सम्बोधन किया करते थे। यद्यपि स्त्रियाँ अपने स्वामी की सेवा दासी की भाँति किया करती थीं तथापि सहधर्मिणी और गृहिणी के रूप में वे अपना गौरव भी भली-भाँति जानती थीं। स्वामी यदि स्त्री का उचित सम्मान न करता तो प्राचीन तेजस्वी आर्य स्त्रियाँ अपने स्वामी से उच्च आसन और प्रतिष्ठा की याचना किया करती थीं। शकुन्तला का जीवन नारी-प्रतिष्ठा का उत्कृष्ट उदाहरण है।

एक समय की बात है, महर्षि विश्वामित्र घोर तपस्या में निमग्न थे। उनकी तपस्या देखकर इन्द्र का आसन हिल गया। देवराज को यह शङ्का होने लगी कि कहीं ऋषि अपनी तपस्या से मेरा आसन ही न छीन लें। इसलिये उन्होंने ऋषि की तपस्या में

विघ्न डालने के लिये स्वर्ग से मेनका नामक एक अप्सरा को उनके पास भेजा। उन्होंने मेनका को आज्ञा दी कि तुम ऋषि के पास जाकर अपने रूप, यौवन, हाव-भाव, कटाक्ष, हास्य और मधुर वचनों के बाणों से मुनि के तप में विघ्न डालो। इन्द्र की आज्ञा मानकर मेनका ऋषि के तपोवन में गई। उस समय मुनि आँखें बन्द करके परमात्मा के ध्यान में निमग्न थे। मुनि का तेज देखकर अप्सरा डर गई और भक्तिपूर्वक उन्हें नमस्कार करके वन में इधर-उधर घूमने लगी।

मेनका की सहायता करने के लिये इन्द्र ने वायु-देवता और कामदेव को भी भेजा था। उन दोनों के वहाँ पहुँचते ही वन की शोभा कुछ और ही हो गई। चारों ओर वसन्त ऋतु व्याप्त हो गई। ऐसा सुन्दर अवसर देखकर मेनका ने बहुत ही मीठे स्वर से गाना आरम्भ किया। कोयल को भी लज्जित करने वाला उसका मधुर स्वर ध्यान-मग्न ऋषि के कानों में पहुँचा। उनकी समाधि टूट गई और उन्होंने वसन्त की शोभा और अद्भुत रूप-लावण्य वाली मेनका को देखा। ऋषि के मन में काम-विकार उत्पन्न हुआ। उन्होंने मेनका को आदरपूर्वक अपने पास बुलाया और प्रेमपूर्वक उससे बातें करना आरम्भ किया। अब ऋषि का मन वश में न रहा। उनकी तपस्या खण्डित हो गई। इन्द्र की मनोकामना पूरी हुई। संसार-त्यागी मुनि ने मेनका को पत्नी-रूप में ग्रहण किया। वह निर्जन वन इन दोनों का क्रीड़ास्थल बन गया। धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। यह नवीन दम्पती सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे। कुछ दिनों बाद मेनका गर्भवती हुई। अब जब नौ मास पूरे हो गये तब उसने एक बहुत ही सुन्दर कन्या को जन्म दिया। अपनी तपस्या के भङ्ग होने का यह परिणाम देखकर मुनि बहुत ही दुःखी हुए और इस अनुचित कृत्य

के लिए उन्हें बड़ा पश्चात्ताप होने लगा। परन्तु अब हो ही क्या सकता था?

एक दिन मेनका ने बालिका को मुनि के सुपुर्द करके स्वर्ग में जाने का विचार किया। इसी विचार को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए वह कन्या को गोद में लिए हँसती हुई ऋषि के पास पहुँची और अपना सब समाचार कहकर अन्त में बोली—"महाराज! आप अपनी यह कन्या लीजिए और इसका पालन-पोषण कीजिए। मैं अब स्वर्गलोक जाती हूं।"

मेनका की यह बात सुनते ही मुनि की लज्जा और ग्लानि और भी बढ़ गई। वे बहुत पश्चात्ताप करने लगे और बोले—"मेनका! यह ठीक है कि दुर्भाग्यवश मैं इस बालिका का पिता हुआ हूं, परन्तु इसके लालन-पालन का भार तो तुम्हें अपने ही ऊपर रखना चाहिये। तुम इसकी माता हो, माता का कर्त्तव्य तुम्हींको पूरा करना चाहिए। मैं यह नहीं जानता था कि देवराज इन्द्र ने मेरी तपस्या भङ्ग करने के लिए यह चाल चली थी। खैर, जो कुछ होना था वह तो हो ही चुका। पर अब तुम इस कन्या को लेकर मेरे सामने से चली जाओ, नहीं तो सम्भव है कि क्रोध के आवेश में आकर मैं तुम्हें शाप दे बैठूं और तुम्हारा कुछ अनिष्ट हो जाय।"

ऋषि को क्रोध में देखकर मेनका अपने साथ उस कन्या को लेकर वहाँ से चली गई और हिमालय के पास मालिनी नदी के किनारे जा पहुँची। वहीं नवजात बालिका को छोड़ दिया और आप स्वर्ग को चली गई।

उसी समय तपोवन से निकलकर महामुनि कण्व मालिनी नदी में स्नान करने के लिए आये हुए थे। जब वे स्नान करके अपने आश्रम को जाने लगे तब उन्होंने देखा कि बहुत-से पक्षी

किसी चीज पर बैठे हुए हैं ! वे उन पक्षियों की ओर बढ़े । उन्हें आते देखकर सब पक्षी वहाँ से उड़ गये और मुनि को वहाँ एक सुन्दर छोटी बालिका पड़ी हुई दिखाई दी ।

मुनि के हृदय में दया उत्पन्न हुई और वे उसे गोद में उठा कर अपनी कुटी में ले आये और बहुत प्रेम के साथ उस कन्या का पालन करने लगे । शकुन्त पक्षियों ने उसकी रक्षा की थी, इसलिए मुनि ने शकुन्तला ही उसका नाम रखा ।

शुक्ल पक्ष की चन्द्रकला की भाँति शकुन्तला दिन-पर-दिन बढ़ने लगी । मुनि-कन्याएँ भी उसे बहुत अधिक प्यार करती थीं, और अच्छी तरह उसका लालन-पालन किया करती थीं । शकुन्तला स्वादिष्ट फल खाती थी, मीठा स्वच्छ जल पीती थी और शुद्ध वायु का सेवन करती थी । इस प्रकार वह बड़े सुख में अपना समय बिताती थी । रात-दिन तपोवन में तपस्विनियों के साथ रहने के कारण उसके प्रत्येक कार्य और बात में सरलता, पवित्रता, आडम्बरशून्यता और निष्कलङ्कता दिखाई देती थी । सादगी की तो वह मानो मूर्त्ति ही थी । परन्तु सच्चे और वास्तविक सौन्दर्य के लिए अलंकारों या सजावट आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती । अपने असाधारण सौन्दर्य तथा हृदय की निर्दोषिता के कारण शकुन्तला अनेक राजकन्याओं की अपेक्षा भी अधिक लावण्यवती जान पड़ती थी ।

इस प्रकार शकुन्तला की बाल्यावस्था बीत गई और उसने यौवन में प्रवेश किया । अब मुनिराज को उसके विवाह की बहुत अधिक चिन्ता होने लगी । उन्होंने स्वयं ही उसे बहुत अच्छी शिक्षा दी थी । इसलिए वे चाहते थे कि यह कन्या किसी बहुत ही योग्य तथा उपयुक्त वर को सौंपी जाय ।

जिस समय की बात हम कह रहे हैं उस समय भारतवर्ष में

दुष्यन्त नाम के एक बहुत बड़े और प्रतापी चक्रवर्ती राजा राज्य करते थे। वे बहुत धर्मात्मा और न्यायी थे। उनके राज्य में अपराध आदि का कहीं नाम भी न सुनाई देता था। सब लोग बहुत ही सुखी तथा समृद्धिशाली थे।

एक बार राजा दुष्यन्त अपने सैनिकों और सामन्तों को लेकर शिकार खेलने गये। शिकार खेलते हुए वे एक बहुत ही रमणीय वन में जा पहुँचे। उस समय राजा ने अपने साथ के अधिकांश आदमियों को पीछे छोड़ दिया, उनके साथ बहुत थोड़े आदमी रह गये थे।

उस वन में एक हिरन को देखकर राजा ने उसके पीछे अपना घोड़ा छोड़ा। वे उसका शिकार करना चाहते थे, इसलिए वे उसका पीछा करते हुए मालिनी नदी के तट तक जा पहुँचे। हिरन बहुत ही चंचल था। यद्यपि राजा न उसे मारने के लिए बहुत-से बाण छोड़े, पर उनमें से एक भी उस चंचल हिरन को न लगा। परन्तु अब ऐसा अवसर आ गया था कि वह हिरन किसी प्रकार बच नहीं सकता था। राजा उसके बहुत ही पास पहुँच गये थे। उन्होंने हिरन पर एक और तीर चलाने के लिए धनुष की डोरी चढ़ाई। अचानक दूर से दो तपस्वी चिल्लाये, "महाराज! शान्त हों। इस आश्रम के पास पशु-वध न करें। यहाँ अहिंसा का साम्राज्य है। यहाँ जीवों का वध करने की आज्ञा नहीं है।" राजा ने तीर रोक लिया और अपना रथ भी वहीं रोक दिया। इतने में एक तपस्वी वहाँ आ पहुंचा और उनसे नम्रतापूर्वक कहने लगा, "महाराज! आपको इस प्रकार बाण का प्रहार करना शोभा नहीं देता। इन हिरणों के कोमल शरीर पर बाणों का प्रहार वैसा ही होगा जैसे कोमल फूलों पर आग बरसाना। भला कहाँ ये कोमल शरीर वाले हिरन और कहाँ

आपका कठोर बाण! यह शस्त्र तो दूसरों की रक्षा करने के लिए है। इससे आप निरीह पशुओं की हत्या न करें। आप यह बाण अपने तरकश में रख लें।"

ऋषियों की आज्ञा के अनुसार राजा ने बाण तरकश में रख लिया और उस तपोवन में शिकार करने का विचार छोड़ दिया। यह देखकर तपोवन में रहने वाले ऋषि बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे, "राजन्! आप धन्य हैं। आपने ऐसा ही काम किया है जो पुरुकुल के राजाओं को शोभा देता है। इसलिए हम आप को आशीर्वाद देते हैं कि आपके एक पुत्र हो, जो बहुत ही गुण-वान् हो और साथ ही चक्रवर्ती राजा भी हो।"

इसके उपरान्त ऋषियों ने राजा से प्रार्थना की कि "आप तपोवन में कण्व मुनि के आश्रम में चलें। वहाँ हम लोग आपका सत्कार करेंगे और आप देखेंगे कि आपके राज्य में ऋषि लोग किस प्रकार सुखपूर्वक रहकर ईश्वर का भजन करते हैं।"

राजा ने पूछा, "क्या आप लोगों के गुरु पूज्यपाद कण्वमुनि इसी आश्रम में विराजमान हैं?"

उत्तर में मुनि के शिष्यों ने कहा—"नहीं, वे इस समय आश्रम में नहीं हैं, पर उनकी कन्या शकुन्तला इसी आश्रम में है। वही अतिथियों का आदर-सत्कार करती है। आप किसी बात की चिन्ता न करें और आनन्दपूर्वक पधारें। आजकल ऋषि सोम-तीर्थ की ओर गये हुए हैं। शकुन्तला के जन्मान्तर में कोई खराब योग दिखाई पड़ता है। वे उसीकी शान्ति के लिये वहां गये हैं।"

राजा ने कहा—"अच्छा, चलिए। मैं भी आपके आश्रम के दर्शन करके अपनी आत्मा को पवित्र करलूँ।"

इतना कहकर राजा ने अपना रथ आगे बढ़ाया और आश्रम के पास पहुँचे। अपना धनुष-बाण रथ में ही छोड़कर वे पैदल आश्रम की ओर बढ़े।

तपोवन में प्रवेश करते ही राजा की दाहिनी भुजा फड़कने लगी। राजा को यह देखकर बहुत ही आश्चर्य हुआ कि तपोवन में मङ्गल शकुन हो रहे हैं! वे और आगे वढ़े। वहां उन्होंने देखा कि एक स्थान पर तीन कन्याएँ छोटे-छोटे कलश लिये वृक्षों की जड़ में पानी डाल रही हैं। उनका रूप-लावण्य देखकर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। वे मन-ही-मन कहने लगे, "हैं तो ये जङ्गल में रहनेवाली ऋषि-कन्याएँ, परन्तु इनकी सुन्दरता और कोमलता इतनी अनुपम है कि मेरे अन्तःपुर में भी इनके समान कोई सुन्दरी नहीं है। मैं तो देखता हूं कि वन की ये लताएँ उद्यान की लताओं को भी मात कर रही हैं।"

शकुन्तला का प्रकृति-प्रेम देखकर वे और भी अधिक मुग्ध हुए, क्योंकि उसने एक सखी के प्रश्न के उत्तर में कहा था कि 'मैं इन वृक्षों में केवल इसलिये पानी नहीं सींचती हूँ कि पिताजी ने मुझे इस काम के लिये आज्ञा दी है बल्कि इन सबपर स्वयं मेरा इतना अधिक प्रेम हो गया है कि मैं इन्हें अपने सगे भाई के समान समझती हूँ।"

अनसूया और शकुन्तला में जो ये सब बातें हुई थीं, उनसे राजा ने समझ लिया कि कण्वमुनि-कन्या कौन है। उसकी सरलता देखकर राजा बहुत चकित हुए और मन-ही-मन सोचने लगे कि मुनि तो बहुत अधिक विचारवान् हैं। उन्होंने इस कोमलांगी को वल्कल क्यों पहना रखा है? परन्तु फिर भी वल्कल इसके सौन्दर्य को जरा भी बिगाड़ नहीं सका है। यह तो इस वेश में भी परमसुन्दरी दिखाई देती है। यद्यपि चन्द्रमा में कलङ्क है, फिर

भी वह परम सरस और कान्तिमान जान पड़ता है। इसी प्रकार यह भी वल्कल में परमसुन्दरी दिखाई देती है।

उधर शकुन्तला अपनी सखी प्रियम्वदा और अनसूया के साथ निर्दोष विनोद कर रही थी और इधर वृक्षों की आड़ में छिपे हुए राजा दुष्यन्त उसकी बातें सुन-सुनकर आनन्द अनुभव कर रहे थे। इतने में एक भौंरा गूंजता हुआ आया और शकुन्तला के मुख पर भिनभिनाने लगा। शकुन्तला ने हाथ से उसे उड़ाने का बहुतेरा प्रयत्न किया, पर वह किसी तरह वहाँ से हटता ही न था, बल्कि वह और भी आगे बढ़कर उसके अधर पर बैठने का प्रयत्न करने लगा। शकुन्तला घबरा गई और बोली, "सखी! देखो, यह भौंरा मुझे सता रहा है।"

दोनों सखियों ने हँसते-हँसते कहा, "सखी! भला हम अबलाओं की क्या सामर्थ्य है जो तुम्हें इस दुष्ट भौंरे से बचा सकें? तुम राजा दुष्यन्त को बुलाओ। वे इससे तुम्हारी रक्षा करेंगे। पापियों को दण्ड देना राजा का ही काम है।"

भौंरे का उत्पात बढ़ता ही गया। शकुन्तला ने फिर सखियों से कहा कि "किसी प्रकार मुझे इस भौंरे से बचाओ तो।" पर फिर भी सखियों ने उसे यही उत्तर दिया, "तुम राजा दुष्यन्त को बुलाओ। वे तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

वृक्षों की आड़ में बैठे हुए राजा दुष्यन्त ने सोचा कि अब मुझे प्रकट होकर इन लोगों के सामने चलना चाहिए। वे झट शकुन्तला के पास जा पहुँचे और बोले, "जबतक पुरुवंशी दुष्यन्त के शरीर में प्राण हैं तबतक कोई दुष्ट इस भोली बालिका को सता नहीं सकता।"

इस प्रकार एकाएक अनजान आदमी को सामने आते देखकर तपस्विनी-कन्याएँ पहले तो बहुत लज्जित हुईं, परन्तु फिर अनसूया

ने कुछ सम्भलकर कहा, "महाराज ! ऐसा तो कष्ट नहीं है, जो हमारी सखी को सता सके। पर यह भौंरा इसे बहुत दिक़ कर रहा है, इससे यह घबरा गई है !"

राजा ने हँसते हुए शकुन्तला से तपोवन का कुशल-समाचार पूछा। शकुन्तला अतिथि का सत्कार करने के लिये कुटी में से अर्घ्य-पात्र ले आई और पास रखे हुए कलश से उसने राजा के पैर धोये। इसके उपरान्त उनके बैठने के लिये चटाई बिछा दी। राजा के बहुत आग्रह करने पर शकुन्तला भी वहाँ बैठ गई।

राजा के हृदय में शकुन्तला के प्रति प्रेम का संचार हो चुका था। राजा को देखते ही शकुन्तला का मन भी चंचल हो गया था। जहां तक हो सका उसने अपने-आपको सम्भालने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उसका कोई फल न हुआ। अनजान और नये पुरुष के प्रति उसका मन आप-से-आप आकृष्ट होने लगा और वह उसका वास्तविक परिचय प्राप्त करने लिये उत्कंठित होने लगी। अन्त में उसने अपनी सखी द्वारा राजा का परिचय प्राप्त कर लिया।

राजा ने अपना वास्तविक परिचय छिपाते हुए कहा—"मैं पुरुवंशी राजा दुष्यन्त के राज्य का एक कर्मचारी हूं। उनके राज्य में तपस्वी लोग किस प्रकार रहते हैं इसी बात की जाँच करना मेरा काम है।" इसके उपरान्त राजा ने शकुन्तला का वास्तविक परिचय प्राप्त करने के विचार से पूछा, "पर तुम यह तो बताओ कि कण्वऋषि तो बाल-ब्रह्मचारी हैं, फिर तुम्हारी सखी उनकी कन्या कैसे हुई ? मैं इनके जन्म का वृत्तान्त जानने के लिये बहुत उत्सुक हूँ।"

इसपर अनसूया ने राजा को शकुन्तला के जन्म की सारी कथा कह सुनाई और उन्हें बतलाया कि कण्वऋषि इसके जन्म-दाता नहीं हैं, बल्कि पालक-पिता हैं।

अब राजा की समझ में यह बात आ गई कि शकुन्तला का इतना अधिक रूप-लावण्य क्यों है। इसके उपरान्त राजा दुष्यन्त के साथ शकुन्तला और उसकी सखियों की बहुत-सी बातें हुईं। शकुन्तला का मन राजा के पास से हटने को चाहता ही न था। मुनि-कन्याओं के साथ राजा की बात-चीत हो ही रही थी कि इतने में अचानक कुछ कोलाहल मचा। कुछ लोग जोर-जोर से चिल्लाकर यह कहते हुए सुनाई पड़े; "हे तपस्वियो! आज राजा दुष्यन्त अपने सैनिकों और सामन्तों को साथ लेकर यहाँ शिकार खेलने के लिये आये हैं। इसलिये आप लोग अपने आश्रम के पशुओं की रक्षा का प्रबन्ध कर लीजिए। अभी राजा का रथ देखकर एक जङ्गली हाथी भड़का है और वह उत्पात मचाकर तपस्वियों की तपस्या में विघ्न डाल रहा है।"

अन्त में उन कन्याओं को राजा का वास्तविक परिचय मिल गया। उस जङ्गली हाथी का उपद्रव शान्त करने के लिये राजा वन की ओर चला गया और शकुन्तला अपनी सखियों के साथ आश्रम में चली गई।

थोड़ी देर बाद जङ्गली हाथी का उपद्रव शान्त करके राजा अपने मित्रों-सहित फिर वहीं आ पहुँचे और कुछ दिनों तक उस वन के पास ही रहे। इतने में एक दिन तपस्वियों ने आकर राजा से प्रार्थना की कि "आजकल महर्षि कण्व यहाँ नहीं हैं, इसलिये राक्षस हम लोगों को बहुत तङ्ग कर रहे हैं। जब आप यहाँ पधारे हैं तब और कुछ दिनों तक यहाँ रुक जायें और हम लोगों को दानवों से बचावें।" राजा ने तुरन्त ही उन लोगों को वचन दिया कि मैं अभी धनुष-बाण लेकर आप लोगों की सहायता के लिये चलता हूं। उन्होंने सोचा, चलो इसी बहाने से हमें बहुत समय तक तपोवन में रहने का अवसर मिलेगा और शकुन्तला के

साथ रहने का सुख प्राप्त होगा। यह सोचकर राजा के आनन्द का पार न रहा। उनकी माता अपने किसी व्रत का उद्यापन करना चाहती थीं और उसके लिये उन्होंने राजा को बुला भेजा था। परन्तु राजा स्वयं राजधनी में नहीं गये। हाँ, उन्होंने मित्रों को सेना-सहित वहाँ भेज दिया और आप वहीं राक्षसों से तपोवन-भूमि की रक्षा करने लगे।

रात-दिन शकुन्तला की चिन्ता में रहने के कारण राजा दुष्यन्त दिन-पर-दिन दुर्बल होने लगे। उनके चेहरे का रंग फीका पड़ने लगा। उनका मन किसी काम में लगता ही न था। सदा उनकी यही इच्छा बनी रहती थी कि मैं हरदम शकुन्तला को देखा करूँ। परन्तु तपस्वियों के डर से वे अपनी यह आशा पूरी न कर सकते थे। अन्त में शकुन्तला को बिना देखे उन्हें अपना जीवन नीरस और असह्य जान पड़ने लगा। इसलिये वे एक दिन उससे मिलने की आशा से मालिनी नदी के किनारे गये।

राजा दुष्यन्त को देखने के उपरान्त उधर शकुन्तला की भी वही दशा हो गई थी और वह भी उन्हें देखने के लिये दिन-रात विह्वल रहा करती थी। वह मन-ही-मन राजा के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पित कर चुकी थी। उसके चित्त की व्याकुलता कुछ कम करने के अभिप्राय से एक दिन उसकी सखियाँ उसे नदी के किनारे एक कुंज में ले गईं। वहाँ उन्होंने एक ठंडी शिला पर नये-नये कोंपल और जल में भीगे हुए कमल-पत्र बिछाये और उनपर उसे लिटाकर आप उसकी सेवा करने लगीं।

थोड़ी देर में राजा दुष्यन्त भी वहाँ जा पहुँचे। वे वहीं वृक्षों की आड़ में रुक गये और छिपकर उन लोगों की बातें सुनने लगे। उस बात-चीत में उन्होंने शकुन्तला को यह कहते हुए सुना— 'जिस समय से मैंने राजर्षि को देखा है, उसी समय से मेरे मन

में उनके प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया है और इसीसे मेरी यह दशा हो गई है। अब जिस प्रकार हो सके तुम लोग कोई ऐसा उपाय करो, जिससे राजर्षि मुझसे आकर मिलें। यदि यह न हो सके तो फिर तुम लोग मेरे जीवन की आशा छोड़ दो।"

सखी अनसूया और प्रियम्वदा ने बहुत प्रसन्न होकर कहा, "भला, इसमें शरमाने और संकोच करने की कौनसी बात है ? जिस प्रकार चातक पक्षी स्वाति के जल के सिवा और किसी जल की इच्छा नहीं करता, चकोरी चन्द्रमा के सिवा और किसीको नहीं चाहती, कमलिनी केवल सूर्य भगवान् को ही देखकर प्रसन्न होती है, नदियाँ सागर में ही जाकर मिलती हैं, उसी प्रकार तुम्हारे मन में भी योग्य पुरुष के प्रति ही अनुराग उत्पन्न हुआ है। भला रूप, गुण, शील और स्वभाव आदि में उनके समान और कौन राजा है ?"

अन्त में सखियों के परामर्श से यही निश्चय हुआ कि शकुन्तला एक पत्र लिखकर राजा के प्रति अपना प्रेम प्रकट करे। इसलिए शकुन्तला ने कमल-पत्र पर नाखूनों से एक प्रेम-पत्रिका लिखी और वह पत्रिका सखियों को पढ़ सुनाई। उस पत्र में उसने अपनी सारी विरह-कथा बहुत ही संक्षेप में लिख दी थी। राजा ने भी वृक्षों की आड़ से वह पत्र सुन लिया। अब वह अपने मन को वश में न रख सके। उन्होंने भी तुरन्त वृक्षों की आड़ से प्रकट होकर उसके उत्तर में अपना पूर्ण प्रेम प्रकट किया। उन्होंने कहा "मदन तुम्हें तो केवल ताप ही पहुँचा रहा है, पर मुझे तो दिन-रात जलाया करता है।"

शकुन्तला की सखियों ने राजा का आदर करने के लिए उनको उसी शिला पर बैठाया। अब तो प्रियम्वदा ने अपनी सखी के इष्ट-विषय की चर्चा स्पष्ट-रूप से आरम्भ करदी। उसने कहा,

"यह तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि आप दोनों में एक दूसरे के प्रति बहुत अधिक प्रीति उत्पन्न हो गई है, परन्तु अपनी सखी के खयाल से मैं आपसे दो-एक बातें कहने की आज्ञा माँगती हूँ।" राजा ने कहा, "तुम्हें जो कुछ कहना हो, वह निःसंकोच भाव से कहो।" इसपर प्रियंवदा ने कहा—"काम के वश होकर आपके कारण ही हमारी सखी की यह दशा हुई है। अब इसकी जान बचाना आपके ही हाथ है।"

राजा ने उसे विश्वास दिलाया कि हम दोनों में परस्पर जो प्रेम है वह एकसमान है।

शकुन्तला ने प्रियम्वदा को सम्बोधन करके कहा—"सखी प्रियम्वदा! अन्तःपुर की रानियों से बहुत दिनों से बिछुड़े होने के कारण राजा फिर उनसे मिलने के लिए आतुर हो रहे होंगे। तुम क्यों इस प्रकार की बातें करके उनके जाने में और भी विलम्ब कर रही हो?"

शकुन्तला के इस कथन में जो मर्म था, उसे समझने में राजा को देर न लगी। इसलिए उन्होंने तुरन्त ही उत्तर दिया—"मैं तो योंही मृत के समान हो रहा हूँ। तुम इस प्रकार की बातें कहकर क्यों मुझे और दुःखित करती हो। तुम कभी भी मेरे सम्बन्ध में इस प्रकार की उलटी भावना न रखना।"

परन्तु अनसूया इससे भी बढ़कर अपनी कुछ और तसल्ली करना चाहती थी। साथ ही वह अपनी सखी का काम भी बनाना चाहती थी। इसलिये उसने कहा—"महाराज! मैंने सुना है कि राजाओं के यहाँ बहुत-सी ऐसी रानियाँ हुआ करती हैं, जिनके साथ वे प्रेम करते हैं। इसलिये मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप हमारी सखी के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया कीजिएगा जिसमें इसके बन्धुजनों को इसके लिये कभी किसी प्रकार का संताप न हो।"

राजा ने कहा, "भला इस सम्बन्ध में अधिक कहने से क्या लाभ ? मेरी अनेक रानियाँ हैं। पर फिर भी मैं दो रानियों को ही सबसे अधिक चाहता हूँ। एक तो समुद्र-मेखलावाली पृथ्वी और दूसरी तुम्हारी सखी।"

अब इन लोगों को राजा की ओर से पूरा-पूरा सन्तोष हो गया और अधिक कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता न रह गई। सखियों ने सोचा कि अब इन दोनों को एकान्त में बैठकर बात-चीत करने का अवसर देना चाहिए। इसलिये दोनों सखियाँ किसी बहाने वहाँ से उठकर चली गईं। उस एकान्त में राजा काम के बहुत अधिक वश में हो गये। उनकी यह दशा देख-कर तपोवन में पली हुई संयमी शकुन्तला ने एक सच्ची आर्यबाला के समान राजा से कहा—"हे पुरुवंश के राजा, आप अपने आपे में रहें। इसमें सन्देह नहीं कि मैं भी काम के वश हो रही हूँ और मैं काम के लिए ही बनी हूँ। परन्तु अभी आप मेरे शरीर के स्वामी नहीं हुए हैं। इसलिए मैं अभी इस योग्य नहीं हूँ कि आपका मनो-रथ पूर्ण कर सकूं।"

राजा ने कहा—"प्रिये, तुम मन में किसी प्रकार का भय न करो। गुरुजी की ओर से किसी प्रकार की चिन्ता न करो। वे कुलपति धर्म-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि गान्धर्व-विवाह आर्यों में प्रचलित आठ प्रकार के विवाहों में से एक प्रकार का विवाह है। यह जानकर वे तुमपर कभी न बिगड़ेंगे कि तुम्हारे इस विवाह में किसी प्रकार का दोष है। इस प्रकार गान्धर्व विवाह करके अनेक राजर्षियों की कन्याएँ अपने पतियों से मिली हैं।"

परन्तु शकुन्तला तुरन्त ही इस बात पर सम्मत नहीं हुई। उसने कहा, "मैं पहिले अपनी सखियों को बुलाकर उनसे इस विषय

में परामर्श करलूँ और तब कुछ निर्णय करूँगी।" थोड़ी ही देर वाद साध्वी गौतमी भी वहाँ आ पहुँचीं और वह उनके साथ अपने आश्रम को चली गई।

इसी प्रकार वहुत दिन बीत गये। शकुन्तला और राजा दुष्यन्त में परस्पर प्रेम बढ़ता ही गया। नित्य हास्य-विनोद होने लगा। अब शकुन्तला की चिन्ता दूर हो गई। दुष्यन्त का दारुण दुःख भी मिट गया। दोनों सुख-सरिता में स्नान करने लगे।

इसी बीच में उसी तपोवन में राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के साथ गान्धर्व-रीति से विवाह कर लिया। मनचाहा वर प्राप्त करके शकुन्तला के आनन्द का पार न रहा। राजा भी अपने मन में समझने लगे कि मैंने एक अलौकिक रत्न प्राप्त किया है।

सुख के दिन बीतते देर नहीं लगती। विवाहित जीवन के कई मास राजा ने उसी तपोवन में आनन्दपूर्वक विताये। इतने में एक दिन राजधानी से समाचार आया कि "आपकी अनुपस्थिति के कारण राज-कार्य में कुछ गड़बड़ी हो रही है, इसलिए जहाँ तक शीघ्र हो सके आप राजधानी में पधारें।" उस समय राजा का कर्त्तव्य-ज्ञान जाग्रत हुआ। वे राजधानी में जाने की तैयारी करने लगे। उनके विदा होने के समय शकुन्तला ने आँखों में आँसू भरकर पूछा—"आप मुझे राजधानी में कब ले चलेंगे?" इसके उत्तर में राजा ने उसके हाथ में अपने नाम की एक अँगूठी पहना दी और वचन दिया कि मैं बहुत शीघ्र लौटकर तुम्हारे पास आऊँगा। राजा ने उसे यह भी विश्वास दिला दिया कि मैं अब तुम्हारे सिवा और किसी स्त्री को अपने हृदय में स्थान न दूंगा। और तुम्हारे गर्भ से जो पुत्र होगा, उसीको मैं युवराज-पद पर अभिषिक्त करूँगा।"

राजा दुष्यन्त तो वहाँ से चले गये, पर इधर शकुन्तला की

सखियों के मन में यह शङ्का होने लगी कि कहीं ऐसा न हो कि राजा राजधानी में पहुँचकर राज-कार्य में लग जायँ और हमारी सखी को बिलकुल भूल जायँ। परन्तु राजा की सब बातों का स्मरण कर उन्होंने यह समझ लिया कि हमारी यह शंका निरर्थक ही है। पर साथ ही उन्हें इस बात का भी भय हो रहा था कि जब कण्व ऋषि आवेंगे और सब समाचार सुनेंगे, तब वे हम लोगों पर बहुत नाराज होंगे। परन्तु अन्त में उन्हें इस विचार से कुछ धैर्य और सन्तोष हुआ कि कण्व ऋषि यह समझकर हम लोगों पर क्रोध न करेंगे कि उनकी कन्या ने एक योग्य और गुण-वान् प त को वरा है।

इसी बीच में एक दुर्घटना हो गई। एक दिन सखियाँ शकुन्तला के सौभाग्य के लिए फूल चुन रही थीं और शकुन्तला आतिथ्य-सत्कार करने के लिए अपनी कुटी पर बैठी थी। उस समय अपने पति के ध्यान में वह इतनी मग्न थी कि अपने आपको बिल-कुल भूल गई। इतने में महाक्रोधी दुर्वासा ऋषि अतिथि बनकर वहाँ पहुँचे और उन्होंने अपने आने का समाचार भेजा। परन्तु पति के ध्यान में मग्न शकुन्तला को ऋषि के आने की खबर ही न हुई। इसलिए ऋषि ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि "तूने अतिथि का अपमान किया है। इसलिए मैं तुझे शाप देता हूं कि जिस प्रियतम के ध्यान में मग्न होकर तूने समीप आए हुए तपस्वी को पहचाना तक नहीं, तेरा वह प्रियतम इसी तरह तुझे भी भूल जायगा और तेरे बहुत-कुछ स्मरण दिलाने पर भी उसे तेरी एक भी बात याद न आवेगी।" परन्तु पति के विचार में निमग्न शकुन्तला ने ऋषि का यह शाप भी न सुना। उसकी सखियों के कानों में किसी प्रकार ऋषि के ये शब्द पड़ गये और उन्होंने समझ लिया कि यह तो भारी अनर्थ हो गया। प्रियम्वदा ने

ऋषि के पैरों पड़कर उनसे बहुत क्षमा मांगी और उनसे प्रार्थना की कि आप हमारी सखी के इस अपराध पर ध्यान न दें और उसे क्षमा कर दें। इसपर महर्षि ने कहा, "मेरा वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। परन्तु तुम इतनी विनती और पश्चात्ताप कर रही हो, इसलिए मैं कहता हूँ कि जब तुम्हारी सखी राजा को कोई ऐसी चीज दिखलावेगी जो चिह्नस्वरूप हो तब उस राजा को इसका स्मरण हो आवेगा।" इतना कहकर ऋषि वहाँ से चले गये। सखियाँ यह बात जानती थीं कि राजा दुष्यन्त चलते समय शकुन्तला को अपने नाम की अँगूठी पहना गये थे। इसलिए उन्होंने सोचा कि इस शाप से मुक्त होने का उपाय तो शकुन्तला के पास ही है। इसीलिए वे अपने मन में किसी प्रकार चिन्तित या भयभीत नहीं हुईं, न शकुन्तला को ऋषि के उस शाप की सूचना देकर चिन्तित करना ही उन्होंने ठीक समझा।

इस बीच में महर्षि कण्व भी सोम-तीर्थ से लौट आये। जिस समय महर्षि हवन करने के स्थान में प्रवेश करने लगे उस समय उन्होंने एक आकाशवाणी सुनी। उस आकाशवाणी के द्वारा ऋषि ने जाना कि राजा दुष्यन्त के साथ शकुन्तला का विवाह हो गया है और उसे उन्हींका गर्भ भी रह गया है। कण्व ने शकुन्तला को बुलाकर उससे सब हाल पूछा; परन्तु वह मारे लज्जा के कुछ भी उत्तर न दे सकी और चुपचाप सिर नीचा किये बैठी रही।

शकुन्तला के विवाह का समाचार सुनकर कण्वमुनि अप्रसन्न नहीं हुए, क्योंकि उन दिनों गान्धर्व-विवाह अनुचित नहीं समझा जाता था। राजर्षि विश्वामित्र और मेनका से उत्पन्न कन्या का दुष्यन्त-जैसे प्रतापी क्षत्रिय राजा के साथ विवाह होना भी किसी प्रकार अनुचित नहीं था। उनकी अनुपस्थिति में जो यह विवाह हुआ था उसपर अप्रसन्नता प्रकट करने के बजाय उन्होंने संतोष

प्रकट किया, और कहा—"शकुन्तला का पालन-पोषण करके बड़ा करने का मेरा प्रयत्न आज सफल हो गया। मुझे सदा इसी बात की चिंता लगी रहती थी कि ऐसी रूपवती और गुणवती कन्या के लिए उपयुक्त वर मिलेगा या नहीं? इसका विवाह एक सुपात्र के साथ हो गया है, यह जानकर मेरे आनन्द की सीमा नहीं है।"

विवाहिता कन्या का बहुत दिनों तक मायके में रहना ठीक नहीं होता, इसलिए ऋषि ने शकुन्तला को उसकी ससुराल भेजना निश्चित किया।

देखते-देखते शकुन्तला के ससुराल जाने का समय भी समीप आ पहुँचा। बुआ गौतमी और ऋषि के शार्ङ्गरव तथा शारद्वत नामक दो शिष्य शकुन्तला के साथ जाने को तैयार हुए। उस दिन प्रियम्वदा और अनसूया दोनों सखियाँ बहुत ही प्रेम और चिंतापूर्वक अपनी सखी शकुन्तला का शृंगार करने लगीं। आश्रम में रहने-वाली ऋषि-पत्नियाँ आकर शकुन्तला को आशीर्वाद देने लगीं। एक ने कहा, 'तुम पति की परमप्रिय पटरानी बनो!' दूसरी ने कहा, 'बेटी! तुम वीर पुत्र की जननी हो!' तीसरी ने कहा, 'तुम पति की परम-प्रिय बनो!' उसकी और सखियों ने भी उसके पास जाकर उसे आशीर्वाद देते हुए कहा, 'बहिन, आज के मङ्गल-स्नान से तुम्हारा सौभाग्य अटल-अचल हो!' इधर सुन्दर शकुन्तला के शृंगार में भी किसी बात की कमी न रह गई। वन की वनस्पतियों ने ऐसी अच्छी-अच्छी सामग्रियाँ दीं, जिससे उसका सौन्दर्य और भी बढ़ गया। सोने-चांदी के अलङ्कार तो स्वाभाविक पदार्थों के अनुकरणमात्र हैं, परन्तु प्रियम्वदा और अनसूया जैसी कुशल और रसिक सखियों ने स्वयं उन्हीं स्वाभाविक या प्राकृतिक पदार्थों से शकुन्तला के सुन्दर और नव-यौवन में खिले हुए शरीर का शृङ्गार किया, जिससे उसका स्वरूप सचमुच अद्भुत

लावण्य से युक्त हो गया। प्रियम्वदा ने उसे देखकर व्याजरूप से कहा—"सखी! वनस्पति और वनदेवता के प्रसाद से तुम अपने पति के घर राजलक्ष्मी के समान भोग करोगी।"

जब सब तैयारियाँ हो चुकीं तब महर्षि वहाँ आये। वे यह सोचकर बहुत ही दुःखी हो रहे थे कि जिस कन्या को हमने बचपन से ही पाल-पोसकर इतना बड़ा किया, वह आज हमसे विदा हो रही है। उनका मन और किसी काम में लगता ही न था। उसी विह्वल अवस्था में ऋषि कहने लगे—"जब मैं यह सोचता हूं कि आज शकुन्तला हमारे घर से चली जायगी तब उसके वियोग का ध्यान करके मारे चिन्ता के मेरा कलेजा जलने लगता है। मेरा गला भरा आता है और आँखों से आँसुओं की धारा बही चली जाती है। इसी चिन्ता और शोक में मुझे आँखों से कुछ भी दिखाई नहीं देता। जब स्नेह के कारण मुझ वनवासी को इतना अधिक दुःख हो रहा है, तब संसार में रहने वाले उन गृहस्थों की क्या दशा होती होगी, जो अपनी पाली-पोसी हुई कन्या को ससुराल भेजते होंगे? सचमुच पुत्री का यह वियोग बहुत ही दुःखदायी होता है।

शकुन्तला के प्रस्थान करने का समय बराबर समीप आता जाता था, इसलिए गौतमी ने शकुन्तला से कहा, "बेटी! तुम कण्व ऋषि से मिल लो।" बुआ की आज्ञा पाकर शकुन्तला ने वैसा ही किया। कण्वमुनि ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा—"जिस प्रकार ययाति को शर्मिष्ठा प्रिय थी उसी प्रकार तुम भी अपने पति की प्रिय हो और पुरु के समान चक्रवर्ती सम्राट् पुत्र उत्पन्न करो।"

गौतमी ने यह आशीर्वाद सुनकर कहा—"बेटी यह केवल आशीर्वाद ही नहीं है। इसे तुम अपने प्रति भगवान् का वरदान ही समझो।"

इसके उपरान्त शकुंतला को होमाग्नि की प्रदक्षिणा कराकर ऋषि ने कहा—"यह यज्ञ की अग्नि और इसकी पवित्र सुगन्ध तुम्हारे पापों को नष्ट करके तुम्हें पवित्र करे।"

शकुंतला के साथ ऋषि के जो दो शिष्य जाने को थे, उन्हें और गौतमी को बुलाकर ऋषि ने हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान करने की आज्ञा दी। वे स्वयं भी कुछ दूर तक उसे पहुँचाने के लिए उसके साथ गये। शकुंतला की सखियाँ भी उस समय मुनि के साथ हो गई थीं।

इस प्रकार ये लोग चलते-चलते अपने आश्रम से बहुत दूर निकल आये थे। सब लोग अन्तिम विदा के लिए एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। थोड़ी देर तक चुप रहने के उपरान्त कण्व मुनि ने शार्ङ्गरव से कहा—"बेटा, जिस समय तुम शकुंतला को राजा दुष्यन्त के सुपुर्द करो उस समय उनसे मेरी ओर से कह देना कि ऋषि का यही तप और धन है। अतः जिस प्रकार आप आदरपूर्वक अपनी और रानियों को रखते हैं उसी प्रकार आप इसे भी आदर और सम्मानपूर्वक रखिएगा। यदि ईश्वर चाहेगा तो इससे आपके यश और गौरव आदि की बहुत अधिक वृद्धि होगी। बस, इससे और अधिक आपसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।"

ससुर की ओर से दामाद को जैसा संदेशा दिया जाना चाहिए, वैसा संदेशा देने के उपरान्त ऋषि ने शकुंतला से कहा—"बेटी, तुमसे अलग होने के पहले मैं तुम्हें उपदेश की दो-एक बातें बतला देना चाहता हूँ। मैं तो अबतक वनवासी साधू ही रहा। तो भी मैंने अबतक संसार का जो-कुछ रंग-ढंग देखा है, उसके आधार पर मैं तुमसे दो-चार बातें कहता हूँ। तुम इन बातों को ध्यानपूर्वक सुनना और सदा अपने ध्यान में रखना।

'राज-प्रासाद में तुम्हारी जो बड़ी-बूढ़ी हों उनकी सदा तन-मन से और बहुत अच्छी तरह सेवा-सुश्रूषा किया करना। वहाँ तुम्हारी जो पत्नियाँ हों, उनके साथ वैसा ही स्नेहपूर्वक व्यवहार करना, जैसा प्रिय सखियों के साथ किया जाता है। यदि कभी किसी कारण से तुम्हारे पति तुमपर नाराज़ हों तो उनके सामने कुछ न बोलना और दास-दासियों आदि के साथ बहुत ही अच्छी तरह बात-चीत और व्यवहार करना। जिस समय तुम्हारे भाग्य का उदय हो और तुम बहुत उच्च पद पर पहुँचो उस समय यह समझकर कभी अभिमान न करने लग जाना कि मैं बड़ी और मान्य रानी हूँ। सदा इसी प्रकार व्यवहार करने से तुम सुखी रहोगी और तुम्हारा शुभ रानी नाम सार्थक होगा।' "

ये उपदेश-वचन सुनकर शकुन्तला ने गद्गद् स्वर से कहा, "पिताजी! वहाँ मैं आपको बिना देखे किस प्रकार रह सकूंगी ?" इतना कहते-कहते उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उसे गले से लगाकर कण्वऋषि कहने लगे, "बेटी तुम इतना घबड़ाती क्यों हो ? मैं यह जानता हूँ कि आज तुम मुझसे बिछुड़ने के कारण बहुत अधिक दुःखी हो रही हो, परन्तु कल को गृहिणी-पद पर पहुँचकर रानी के सिंहासन पर विराजने के उपरान्त तुम संसार के काम धन्धों में पड़कर इतनी बदल जाओगी कि तुम्हें मेरे वियोग के लिये दुःखी होने का अवसर ही न मिलेगा। तुम यह जानती हो कि कन्या को ससुराल भेजते समय माता-पिता का हृदय विदीर्ण हो जाता है। अपने आदर के धन, सदा के लाड़-प्यार से पाल-पोसकर बड़ी की हुई कन्या को सदा के लिये अनजान पराये पुरुष के हाथ में सौंपते समय कलेजा फट जाता है। परन्तु मनुष्य-जाति के कल्याण के लिये, पृथ्वी में अलौकिक

प्रेम का आदर्श उपस्थित करने के लिये और उसे देवी बनने का अवसर देने के लिये प्रत्येक माता-पिता को यह आत्म-त्याग करना ही पड़ता है। स्त्रियां अपने मैके में नहीं रह सकतीं। उनके लिये यह उचित नहीं है कि वे अपना सारा जीवन अपने पति के घर में ही व्यतीत करें। क्योंकि सदा मैके में रहने से स्त्रियों के यश, चाल-चलन और धर्म में दाग़ लगता है।"

ऋषि के पैरों में पड़कर शकुन्तला ने कहा, "पिताजी, आप मुझे फिर इस तपोवन में कब बुलावेंगे?"

महर्षि ने कहा, "बेटी! ससागरा पृथ्वी के राजाधिराज दुष्यन्त की पटरानी बनने के उपरान्त असामान्य पराक्रमवाले अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर और उसके हाथों में राज्य का भार सौंपकर तुम अपने पति के साथ वानप्रस्थ-आश्रम का भोग करने के लिये इस आश्रम में आना।"

ऋषि की यह बात सुनकर शकुन्तला रोने लगी, परन्तु गौतमी ने उसे ऐसा करने से रोका और वहाँ से चलने के लिये जल्दी मचाने लगी। अब शकुन्तला सब लोगों से और विशेषतः अपनी प्रिय सखियों से अन्तिम बार विदा हुई। दोनों सखियाँ एकसाथ ही उसके गले लिपट गईं और तीनों मिलकर जोर-जोर से रोती हुई आँसुओं की त्रिवेणी बहाने लगीं। थोड़ी देर तक शान्त रहने के उपरान्त, सखियों ने शकुन्तला से कहा, "सखी, यदि किसी कारणवश राजा तुम्हें पहचान न सकें तो तुम इन्हें उनके नामवाली वही अंगूठी दिखला देना, जो उन्होंने तुम्हारे हाथ में पहनाई थी।" यह सुनकर शकुन्तला के हृदय में चोट-सी लगी और वह पूछने लगी, "यह क्या? तुम लोगों को इस प्रकार की बुरी आशंका क्यों हो रही है? इस बात का विचार करते ही मेरा तो कलेजा काँप उठा है।"

सखियों ने कहा, "नहीं-नहीं, कोई बात नहीं है। स्नेही-जनों को अक्सर अनिष्ठ का डर रहता है।"

अन्त में शकुन्तला उन सब लोगों से अलग हो गई और गौतमी तथा कण्वऋषि के दोनों शिष्यों के साथ अपने पति के पास जाने के लिए आगे बढ़ी। उसका हृदय बहुत अधिक स्नेहार्द्र और कोमल था। कण्व-ऋषि के प्रति उसका प्रेम बहुत अधिक और असाधारण था। कुछ दूर आगे बढ़कर वह फिर पीछे लौट पड़ी और ऋषि से कहने लगी, "पिताजी, तपस्या के कारण आपका शरीर बहुत अधिक क्षीण हो गया है। मेरे चले जाने के उपरान्त आप मेरी बहुत अधिक चिन्ता करके अपना शरीर और भी कृश मत कर लीजिएगा।" मुनि ने कहा, "जाओ, बेटी, जाओ। अब बहुत अधिक विलम्ब न करो। तुम्हें बहुत दूर जाना है। ईश्वर मार्ग में तुम्हारा कल्याण करेगा।"

प्रियंवदा और अनसूया को अपने साथ लेकर कण्वऋषि आश्रम को लौटे। रास्ते में वे कहने लगे "शकुन्तला को ससुराल भेजते समय मेरे तो मानो प्राण निकलने लगे थे। लड़की पराया धन है, पराई अमानत है। परन्तु अब मैं यह सोचकर प्रसन्न हो रहा हूँ कि वह धन जिसका था उसे मैंने सौंप दिया।"

बात भी ठीक ही है। सदाचार और सद्धर्म की शिक्षा देकर सयानी की हुई कन्या को सुयोग्य वर के हाथ में सौंपने से बढ़ कर माता-पिता का और क्या सौभाग्य हो सकता है?

गौतमी और कण्व के वे दोनों शिष्य अपने साथ शकुंतला को लिए हुए यथासमय महाराज दुष्यन्त के दरबार में जा पहुँचे। राजा ने अपने आसन से उठकर और आगे बढ़कर ऋषि के शिष्यों का स्वागत किया और उनसे तपोवन का कुशल-समाचार पूछा।

परन्तु दुर्वासाऋषि ने शकुंतला को जो शाप दिया था, उसके कारण दुष्यन्त पास ही खड़ी हुई शकुंतला को न पहचान सके। वे ऋषिकुमारों से पूछने लगे कि "कण्व-ऋषि ने मेरे लिए क्या आज्ञा की है ?" शाङ्गरव ने कहा, "महर्षि ने कहलाया है कि आपने जो मेरी कन्या के साथ गान्धर्व-विवाह किया है, उससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ और उस विवाह को मैं स्वीकार करता हूँ। उनकी सम्मति में दोनों का यह योग बहुत ही उचित और उपयुक्त हुआ है। जब समान गुणवाली कन्या और वर का योग होता है तब किसीको कुछ कहने के लिए स्थान नहीं रह जाता। उस समय कोई विधाता की निन्दा नहीं करता। शकुंतला इस समय गर्भवती है। आप इसे ग्रहण करके धर्माचरण में प्रवृत्त हों।"

राजा दुष्यन्त का उत्तर सुनने के लिए शकुंतला बहुत अधिक व्याकुल हो रही थी। परन्तु राजा तो उस समय पिछली सभी बातें भूल गये थे, इसीलिए वे बहुत ही चकित होकर पूछने लगे, "आप लोग यह क्या बात कर रहे हैं ? मेरी तो समझ में ही कुछ नहीं आता !"

राजा के इन वचनों ने शकुन्तला को आग के समान जला दिया। शाङ्गरव ने कहा, "राजा ! आप लौकिक व्यवहार बहुत अच्छी तरह जानते हैं। फिर आप इस प्रकार की बात क्यों कर रहे हैं ? क्या आप यह बात नहीं जानते कि स्त्री चाहे कितनी ही अधिक सदाचारिणी और धर्मात्मा क्यों न हो, परन्तु विवाह हो चुकने के उपरान्त वह अधिक समय तक अपने पिता के घर नहीं रह सकती; क्योंकि इससे लोक में उसकी निन्दा होती है। इसीलिए चाहे पति उसके साथ प्रेम करे चाहे न करे पर फिर भी माता-पिता उसे उसके पति के घर भेज ही देते हैं।"

राजा ने कहा, "आप जो धर्म-वचन कह रहे हैं वह बिलकुल

ठीक है। परंतु आपकी यह सब बातें मुझे तो पहेली-सी जान पड़ती हैं। मुझे यह बात बिलकुल याद नहीं आती कि मैंने कभी इस स्त्री से विवाह किया है।"

राजा की यह बात सुनकर शकुंतला काँपने लगी। शाङ्‌र्गरव ने राजा को बहुत-कुछ समझाया-बुझाया; उन्हें उनके कर्त्तव्य का स्मरण दिलाया; परन्तु राजा को उस गाँधर्व-विवाह का स्मरण ही नहीं होता था। उस समय गौतमी ने शकुंतला के मुंह पर से घूँघट हटाकर राजा को उसका मुंह दिखलाया। परन्तु उस अलौकिक और अप्सरा के समान सौंदर्य को देखकर भी राजा को इस बात का स्मरण न हुआ कि मैं इस अलौकिक सौंदर्य का भोक्ता हो चुका हूँ और इस निर्दोष ऋषि-कन्या को अपना हृदय अर्पित कर चुका हूँ।

राजा पर शाङ्‌र्गरव और गौतमी की बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। इसीलिए ऋषि के दोनों शिष्य लाचार होकर शकुंतला को एकान्त में ले गये और वहां उन्होंने उससे कहा, "शकुन्तला! हम लोगों को राजा से जो कुछ कहना-सुनना था, वह सब हम लोग कह-सुन चुके। परंतु राजा पर इन बातों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। अब तुम्हें उनसे जो कुछ कहना-सुनना हो, वह सब लज्जा का परित्याग करके स्वयं ही उनसे कह-सुन लो और ऐसा काम करो जिससे तुमपर उनका विश्वास उत्पन्न हो और वे अच्छी तरह समझ लें कि हम लोग जो कुछ कह रहे हैं वह सब ठीक है।"

शकुन्तला ने कहा, "भाई, इनके प्रेम की तो यह दशा हो रही है। अब इन्हें गई-गुजरी और पुरानी बातें सुनाने से क्या लाभ होगा? मेरे भाग्य में यही बदा था।" इतना कहकर वह राजा को आर्यपुत्र कहकर उनसे कुछ कहने के लिए आगे बढ़ना ही चाहती थी कि इतने में उसे इस बात का स्मरण हुआ कि इन्हें

तो अभी इसी बात में सन्देह हो रहा है कि मेरे साथ इनका विवाह हुआ भी था या नहीं; ऐसी दशा में इनके प्रति ऐसे पवित्र सम्बोधन का प्रयोग करना ठीक नहीं है। यही सोचकर उसने कहा, "पौरव! तपोवन में तो आप मुझे भोली-भाली समझकर मीठी-मीठी बातें कहकर सुनाया करते थे और उसी दशा में आपने मेरे साथ विवाह भी कर लिया था और अब आप मेरे साथ इस प्रकार कठोरता का व्यवहार करते हैं। भला, क्या ऐसी बात आपको शोभा देती है?"

राजा ने क्रुद्ध होकर शकुन्तला से कहा, "तुम ऐसी बात क्यों कर रही हो, जिससे तुम्हारा कुल भी कलंकित हो और मेरा भी।"

राजा के मुख से यह बात सुनकर शकुन्तला ने बहुत झुंझलाकर कहा, "अच्छा! तो यदि आपको सचमुच इस विषय में संदेह है तो मैं इसका प्रमाण देकर आपको संतुष्ट करती हूँ।"

इतना कहकर उसने अपनी अँगुली में से राजा की दी हुई वह अँगूठी उतार कर राजा को दिखलानी चाही पर वहाँ अँगुली में अँगूठी ही न थी। शकुन्तला का रंग पीला पड़ गया। अब काटो तो खून नहीं। ऐसे मौके पर अँगूठी भी धोखा दे गई। उसने सोचा कि जब दैव ही मेरे प्रतिकूल हो गया तो फिर अब क्या कर सकती हूं? गौतमी ने "कहा, तुम शचीतीर्थ में स्नान करने के लिए उतरी थीं न? वहीं पर कहीं वह अँगूठी गिर गई होगी।"

राजा ने इस सब व्यवहार को 'तिरिया-चरित' ही समझा; परन्तु शकुन्तला निराश न हुई। वह राजा की पुरानी प्रेमपूर्ण बातों का स्मरण कराके राजा की स्मरण-शक्ति को तीव्र करने का प्रयत्न करने लगी। उसने कहा, "एक दिन नवमल्लिका-मंडल में हम दोनों बैठे हुए थे और तुम्हारे हाथ में कमल का एक पत्ता

था। उस समय मेरा पाला हुआ हिरन का बच्चा वहाँ आ पहुँचा था। तुमने उसे पानी पिलाने के लिए अपने पास बुलाया था। पर वह तुम्हें अपरिचित समझकर तुम्हारे पास नहीं आया। फिर उसने मेरे हाथ से पानी पिया था। इसपर तुमने हंसकर कहा था कि प्राणी का स्वजाति पर ही विश्वास होता है। तुम दोनों ही जंगली जीव हो।"

यह सुनकर राजा ने कहा, "अपना मतलब साधने वाली चतुर स्त्रियाँ इसी प्रकार की मीठी-मीठी बातें करके विजयी पुरुषों का चित्त अपनी ओर आकृष्ट करती हैं।"

राजा की यह बात सुनकर शकुन्तला को बहुत ही बुरा मालूम हुआ। उसकी नस-नस में आत्म-गौरव जोश मारने लगा। उसने क्रोध के आवेश में आकर कहा, "अनार्य! तुम सब लोगों को अपने ही समान समझते हो। स्वयं तुम्हारे पेट में पाप है। इसलिए तुम्हें सब जगह पाप-ही-पाप दिखलाई देता है। तुमने मेरे साथ वैसी ही दगाबाज़ी की है जैसी कोई बहुत गहरे कुँए के ऊपर घास-फूस बिछा कर करता है। भला, ऐसे राजा का कोई क्या विश्वास करेगा?"

परन्तु दुष्यन्त ने उसके क्रोध की कुछ भी परवाह नहीं की और कहा, 'दुष्यन्त का चरित्र कैसा है, यह सब लोग जानते हैं।'

शकुन्तला ने कहा, "हाय! तुम्हारे मुख में तो मीठा मधु और हृदय में हलाहल भरा हुआ है। जिसे मैंने पुरुवंशी समझ कर आत्म-समर्पण किया था वही मुझे स्वेच्छाचारिणी और निकृष्ट आचरण वाली कहकर इस प्रकार मेरा तिरस्कार कर रहा है। मैं जो कुछ कहती हूँ वह सच है या झूठ, यह तो तुम्हारा अन्तःकरण ही जानता होगा। जो आदमी मन में कुछ और मुँह से कुछ कहता है, वह प्रपंची कहलाता है। धार्मिक दृष्टि से ऐसा

मनुष्य चोर हुआ करता है, परन्तु इतने हीन तो चोर भी नहीं हो सकते। तुम राजा होकर, मनुष्य-समाज के रक्षक होकर, ऐसे अधम चोर या प्रपंची का-सा व्यवहार किस प्रकार करते हो? क्या तुम्हें धर्म का भय नहीं है? क्या तुम यह समझते हो कि मैं चोरी से छिपकर विवाह कर आया हूँ, इससे किसीको इसकी खबर न होगी? परन्तु तुम यह बात अच्छी तरह समझ लेना कि चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल और धर्म ये सब तुम्हारे इस कार्य के साक्षी हैं। और फिर इन सबसे बढ़कर तुम्हारी अन्तरात्मा ही इस बात की साक्षी है। जो मनुष्य अपनी अन्तरात्मा का अपमान करता है, सत्य बात को छिपाकर झूठी बात कहता है, उस मनुष्य का जीवन असन्तुष्ट आत्मा के रोष और तिरस्कार से दुःखमय हो जाता है। फिर देवता भी उसका भला नहीं करते। देखो मैं पतिव्रता हूँ। मैं तुम्हारी स्त्री हूँ और स्वयं चलकर तुम्हारे पास आई हूँ। तुम इस प्रकार मेरा तिरस्कार मत करो। मैं तुम्हारी स्त्री हूँ, इसलिए सदा तुमसे आदर और सम्मान पाने की अधिकारिणी हूँ। तुम इस भरी सभा में एक साधारण स्त्री की भाँति मेरा अपमान मत करो।"

ये सब बातें सुनकर भी दुष्यन्त कुछ नहीं बोले। शकुन्तला ने और भी अधिक उत्तेजित होकर कहा—"राजन्! आप चुप-चाप क्यों बैठे हुए हैं? आप मेरी बातों का उत्तर क्यों नहीं देते? क्या मेरी ये सब बातें अरण्य-रोदन के समान बिलकुल निष्फल गइ? क्या आपको धर्म का भय नहीं? पुरुष होकर, क्षत्रिय होकर, राजा होकर, आप स्त्री की मर्यादा नहीं जानते? आप भरी सभा में अपनी स्त्री का इस प्रकार अपमान कर रहे हैं। स्त्री धर्म-कार्य में साथी होती है, घर की गृहिणी होती है, असहाय की सहायक होती है, विपत्ति के समय में बल और साहस देने वाली

होती है, पीड़ितों की माता की भाँति रक्षा करती है और पथिक के लिए विश्राम-स्थान के रूप में है। स्त्री अपने स्वामी का आधा अंग होती है और उसकी परम मित्र होती है, स्त्री वाले पुरुष का लोग गृहस्थ की भाँति सम्मान करते हैं और अनेक बातों में उस पर विश्वास रखते हैं। स्त्री के द्वारा ही लोग पुत्र प्राप्त करके पितृ-ऋण से मुक्त होते हैं। पुत्र अपने पिता और पितरों की आत्मा का स्वरूप होता है। पुरुष अपनी स्त्री के गर्भ से आत्मा-स्वरूप पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण करके अपने पितरों की वंश-परम्परा की रक्षा करता है, इसलिए स्त्री को जाया कहते हैं। पुत्रवती स्त्री सब लोगों के लिए माता की भाँति पूजित होने के योग्य हुआ करती है।

"लोग पुत्र का जात-कर्म-संस्कार करने के समय इस आशय के मंत्र का उच्चारण करते हैं—'पुत्र! तू हमारे अंग से और हमारे हृदय में से उत्पन्न हुआ है। तू पुत्र नामधारी मेरी आत्मा है। मेरा जीवन तेरे ही आधार पर है। मेरा अक्षय वंश तेरे ही अधीन है। तू सुखी होकर सौ वर्षों तक जीवित रह।' धर्म साधन के फल-स्वरूप सार्थक जीवन के फल-स्वरूप, पितृ-ऋण चुकाने के लिए देवताओं के उपायस्वरूप, वंश के आधारस्वरूप, आत्म-स्वरूप आत्मज पुत्र जिसके गर्भ में से जन्म लेता हो वह स्त्री वंश की कल्याणकारिणी होने के कारण संसार में सबके आदर और सम्मान की पात्री हुआ करती है। आज आप क्यों मोह में पड़कर अपने कुल के श्रेष्ठ रत्न-स्वरूप पुत्र का और कुल की लक्ष्मी के समान उस पुत्र की माता का त्याग करने के लिए तैयार हो रहे हैं? हे राजन्! आप अपनी धर्म-बुद्धि ठिकाने कीजिए। कुल और वंश के प्रतिष्ठा-स्वरूप पुत्र का और पुत्र को प्रसव करने वाली उसकी माता का आप कदापि त्याग न कीजिए, आप कपट छोड़

दीजिए और सत्य का पालन कीजिए। सत्य बोलने से बढ़कर श्रेष्ठ और कोई धर्म नहीं है। हज़ारों अश्वमेध यज्ञ करने की अपेक्षा एकमात्र सत्य का पालन करना अधिक श्रेष्ठ है। सत्य ही वेद है, सत्य ही ब्रह्म है, सत्य-पालन—प्रतिज्ञा-पालन ही सबसे बढ़कर धर्म है। जो आप जान बूझकर सत्य-भ्रष्ट होते हों, असत्य के वश होकर मेरी बात न मानते हों तो मैं आपसे आश्रय नहीं मांगती। मैं इसी समय यहाँ से चली जाऊँगी। परन्तु इस बात का आप पूरा विश्वास रखिएगा कि पुरु वंश में उत्पन्न मेरा यह पुत्र इस संसार में कभी तुच्छ होकर न रहेगा। एक दिन ऐसा आवेगा जब कि मेरा यह पुत्र समुद्र सहित पृथ्वी का अधीश्वर होकर बहुत बड़ा यशस्वी होगा।"

जो ऋषिकुमार शकुन्तला को यहाँ तक पहुँचाने के लिए आये थे, वे उसे छोड़कर चले गये, क्योंकि उन्होंने सोचा था कि यदि राजा दुष्यन्त का कहना ही ठीक है तो उस दशा में शकुन्तला दुराचारिणी है और वह त्यक्त करने के योग्य है और यदि शकुन्तला ही सच्ची है और राजा दुष्यन्त धोखेबाज हैं तो फिर पतिव्रता स्त्री का यही धर्म है कि चाहे कितना ही अधिक अपमान क्यों न हो, पर उसे यह सब सहन करके अपने पति के घर ही रहना चाहिए।

शकुन्तला का जो कुछ अपमान हुआ था, वह उसके लिए नितान्त असह्य था, इसलिए वह वहाँ से चलने के लिए तैयार हुई। उधर राजा यह सोच रहे थे कि अब मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इतने में उनके पुरोहित ने आकर कहा कि 'ज्योतिषियों ने पहले से ही यह भविष्यद्वाणी कर रखी है कि आपका जो पहला पुत्र होगा उसमें चक्रवर्ती के सब लक्षण होंगे। अतः यदि शकुन्तला के गर्भ से ऐसा बालक उत्पन्न हो तो

आप उसे आदरपूर्वक अपने घर में रखें और उसे अपनी रानी बना लें और नहीं तो फिर आप इसे इसके पिता के आश्रम में भेज दें। जबतक इसके सन्तान नहीं होगी तबतक मैं इसे सम्मानपूर्वक अपने घर में रखूंगा।' दुष्यन्त को भी यह बात ठीक जान पड़ी। शकुन्तला पुरोहित के साथ जाने को तैयार हुई। परन्तु जाते-जाते रास्ते में एक विलक्षण घटना हो गई। अप्सरा तीर्थ के पास पहुँच कर शकुन्तला अपने दुर्भाग्य का विचार करके रोने लगी। इतने में एक ज्योतिर्मयी दैवी मूर्ति वहाँ प्रकट हुई और उसे उठाकर वहां से अन्तर्धान हो गई।

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला को अपने प्रेम के चिह्न-स्वरूप जो अँगूठी दी थी वह नदी में स्नान करते समय निकलकर गिर पड़ी थी और पानी में एक बड़ी मछली उसे निगल गई थी। एक दिन वह मछली एक मछवाहे के जाल में फँसी और उसके पेट में से वह बहुमूल्य अँगूठी निकली। उसे बेचने के लिये वह मछवाहा जौहरी की दूकान पर ले गया। जौहरी ने उस अँगूठी पर राजा दुष्यन्त का नाम अंकित देखा, इसलिये उस मछवाहे को कोतवाल के सुपुर्द कर दिया। कोतवाल ने वह अँगूठी राजा की सेवा में उपस्थित की। उस अँगूठी को देखते ही दुर्वासामुनि के शाप का निवारण हो गया। अब राजा को सब बातें स्मरण हो आई और वे सोचने लगे कि सचमुच मैंने शकुन्तला से बहुत अधिक प्रेम किया था। ऐसी सदाचारिणी, निर्दोष और सरल स्वभाव की पतिव्रता स्त्री का उसने भरी सभा में जो अपमान किया था उसका स्मरण करके उसे बहुत अधिक पश्चात्ताप होने लगा। अब उसके दुःख और चिन्ता का ठिकाना न रहा। वह रात-दिन शकुन्तला की ही चिन्ता करने लगा। इसी प्रकार बरसों बीत गये। परन्तु राजा को अपनी पत्नी का कोई समाचार नहीं मिला।

एक दिन राजा शकुन्तला की चिन्ता में बैठे हुए थे कि इतने में इन्द्र के एक दूत ने आकर कहा कि राक्षस लोग देवताओं को बहुत अधिक दुःख दे रहे हैं। अतः देवेन्द्र ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप देवताओं की सहायता कीजिए। राजा देवताओं की सहायता के लिये गये। वहाँ उन्होंने राक्षसों को परास्त किया और अपनी राजधानी की ओर लौटने लगे।

रास्ते में हेमकूट पर्वत पड़ता था। राजा ने सोचा कि चलो यहाँ चलकर कश्यपमुनि के दर्शन करलें। इसलिये वे उनके आश्रम की ओर बढ़े। वहाँ पूछने पर उन्हें पता लगा कि ऋषि इस समय अपनी पत्नी अदिति तथा दूसरी ऋषि-पत्नियों को पातिव्रत-धर्म का उपदेश दे रहे हैं। राजा ने सोचा कि ऐसे शुभ काम में इस समय विघ्न डालना उचित नहीं है, इसलिये वह एक अशोकवृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। थोड़ी देर में उन्होंने देखा कि एक छोटा-सा बालक एक सिंह के बच्चे को तंग कर रहा है और दो तपस्विनियाँ पास ही खड़ी हुई उसका यह कौतुक देख रही हैं। बालक उस सिंह को धमका और डरा रहा है। राजा को यह देखकर बहुत अधिक 'आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा कि यह तपोवन का ही प्रभाव है कि एक बालक सिंह-जैसे हिंसक पशु को इस प्रकार छेड़ रहा है और वह सिंह का बच्चा उसके सामने बिल्ली की तरह दबा जा रहा है और चूँ भी नहीं करता। तपस्विनियों ने उस बालक को बहुतेरा समझाया कि इस आश्रम में सब लोग पशुओं के साथ वैसा ही प्रेम रखते हैं जैसा बालकों के साथ रखा जाता है, तुम इस बेचारे को व्यर्थ क्यों तंग कर रहे हो? पर वीर बालक इन बातों की कुछ भी परवाह नहीं करता था। उलटे वह उस सिंह के बच्चे का मुँह फाड़कर कहने लगा,

"अरे सिंह, ज़रा अपना मुँह तो खोल! मैं तेरे दाँत गिनूँगा।" तपस्विनियों ने उस बालक को यह कहकर डराना चाहा कि अभी सिंहनी आवेगी और तुम्हें मार डालेगी, परन्तु बालक ने उनकी इस बात की भी कोई परवाह नहीं की। अन्त में उन तपस्विनियों ने उस बालक से कहा कि आओ, हम तुम्हें एक बहुत सुन्दर खिलौना देंगे। खिलौने के लालच से उस बालक ने उस सिंह के बच्चे को तंग करना छोड़ दिया। जब खिलौना लेने के लिये बालक ने हाथ बढ़ाया तब राजा ने उसके हाथ में राज-चिह्न देखे। उस बालक और तपस्विनियों के साथ बातचीत करने पर राजा को मालूम हुआ कि इस बालक का नाम सर्वदमन है। यह ऋषिकुमार नहीं, बल्कि शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न राजा दुष्यन्त का पुत्र है। जब और कई प्रमाणों से भी राजा को इस बात का विश्वास होगया तब उन्हें बहुत अधिक आनन्द हुआ।

बालक को खेलने के लिये निकले बहुत देर हो गई थी, इसलिये थोड़ी देर में शकुन्तला भी उसे ढूँढ़ती-ढूँढ़ती वहाँ आ पहुँची। अकस्मात् अपने पति के दर्शन करके उसकी आँखों में आँसू भर आये। बालक माँ-माँ करता हुआ दौड़कर उसके पास जा पहुँचा और पूछने लगा, "माँ! ये कौन हैं? तुम इन्हें देखकर रोने क्यों लगीं?"

बालक की भोली-भाली बात सुनकर शकुन्तला ने कहा, "बेटा! तुम यह बात मुझसे मत पूछो। यह बात अपने भाग्य से पूछो।" सचमुच इधर शकुन्तला अपने दिन बहुत ही दुःख में बिताया करती थी। वह सौभाग्यवती होकर भी विधवाओं की भाँति बहुत ही सादा और दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी। उसका उस समय का रूप देखकर राजा दुष्यन्त अपने मन में कहने लगे

कि विधवाओं की भाँति रहने और तप करने तथा संयमपूर्वक रहने के कारण इसका शरीर सूखकर काँटा हो गया है। इस सुशीला स्त्री के मस्तक पर एक ही वेणी है। मैं बड़ा ही निर्दयी हूँ, क्योंकि मेरे ही कारण इसे यह विरहपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

अब राजा दुष्यन्त से न रहा गया। अपने पूर्व कृत्यों के लिये पश्चात्ताप करते हुए उन्होंने शकुन्तला से कहा, "प्रिये! मैंने तुम्हारे साथ जो अन्याय किया है, वह इतना अधिक है कि उसका कोई वर्णन ही नहीं हो सकता। कोई सज्जन पुरुष अपनी धर्मपत्नी के साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं कर सकता। परन्तु मैं क्या करूँ। उस समय मेरी मति ही मारी गई थी। मैं भ्रम के कारण फूलों की माला को साँप समझ रहा था। कुछ दिनों बाद मुझे सब बातों का स्मरण हुआ। तब से अबतक मैं जिस प्रकार कष्टपूर्वक अपने दिन बिता रहा हूँ और किस प्रकार मैं सदा चिन्तित रहता हूँ, यह मेरी अन्तरात्मा ही जानती है। स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि जिस प्रिय पत्नी को मैंने तिरस्कार करके घर से बाहर निकाल दिया था वह फिर से मुझे मिलेगी। परन्तु परमात्मा की कृपा से आज तुम मुझे फिर मिल गई। इस शुभ अवसर पर तुम वे सब पुरानी बातें भूल जाओ और उनके लिये मुझे क्षमा करो।"

भला, ऐसी कौनसी आर्य स्त्री होगी जो अपने स्वामी के क्षमा-याचना करने पर पिघल न जायगी। शकुन्तला ने तुरन्त ही अपने स्वामी का हाथ पकड़ लिया और उन्हें सांत्वना देकर कहने लगी, "आर्यपुत्र, शोक न करो; इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं था। मेरे पूर्व जन्म के पाप से ही ये सब बातें हुई हैं।"

इसके उपरान्त शकुन्तला ने अपने स्वामी से पूछा कि 'तुम्हें किस प्रकार मेरा स्मरण हुआ?' इसपर दुष्यन्त ने उसे अपने

नामवाली अंगूठी दिखलाते हुए कहा, "इस अंगूठी को देखते ही मुझे सब पुरानी बातें स्मरण हो आईं।" इसके उपरात राजा ने फिर से वह अँगूठी शकुन्तला की अँगुली में पहना दी और कहा, कि "अब तुम सदा इस अँगूठी को अपनी अँगुली में रखना। अब मुझे इसका विश्वास नहीं रह गया।"

राजा अपनी पत्नी और पुत्र को लेकर कश्यपऋषि के दर्शन करने गये। कश्यप और अदिति ने राजा को आशीर्वाद दिया। कश्यप ने शकुन्तला को आशीर्वाद देते हुए कहा, "जिसका इन्द्र के समान स्वामी और जयन्त के समान पुत्र है उसी पौलोमी* के समान तुम भी होगी। बस इसके सिवा और कोई आशीर्वाद नहीं है।" अदिति ने भी उसके माथे पर हाथ फेरते हुए कहा, "तुम अपने पति की बहुत अधिक प्रीति-पात्र होगी।" जब सब लोग बैठ गये तब कश्यपऋषि ने कहा, "आज का दिन बहुत ही शुभ है। प्रत्येक कार्य के अनुष्ठान के लिये श्रद्धा, धन और कर्म–इन तीन समागमों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार परमात्मा ने भी कोई भारी काम करने के लिये साध्वी शकुन्तला, उसके सुयोग्य पुत्र और महाराज दुष्यन्त का मिलाप कराया है।"

राजा मुनि के बहुत अधिक अनुगृहीत हुए। उन्होंने उनके दर्शन से होने वाली प्रसन्नता प्रकट की और तब त्रिकालज्ञमुनि से विनयपूर्वक पूछा, "महाराज, आप कृपा कर यह बतलावें कि मेरी मति उस समय क्यों इतनी खराब हो गई थी?" इसके उत्तर में महर्षि ने उन्हें दुर्वासामुनि के शाप का सब समाचार कह सुनाया। अब शकुन्तला को भी इस बात का पूरा-पूरा विश्वास

*पौलोमी इन्द्र की स्त्री का नाम है।

हो गया कि पति ने मेरा जो त्याग किया था, वह शाप के वश होकर ही किया था, इसमें उनका कोई दोष नहीं था। बालक के सम्बन्ध में ऋषि ने कहा, "राजन्! यह बालक भी तुम्हारी ही तरह चक्रवर्ती होगा। तुम्हारा यह पुत्र समुद्र पार करके सातों द्वीपों पर विजय प्राप्त करेगा। इस वन में यह सब प्राणियों को अपने बल से वश में रखता था, इसीलिए इसका नाम सर्वदमन पड़ा है। परन्तु आगे चलकर यह सब लोगों का भरण-पोषण करेगा, इसलिए लोग इसे भरत कहा करेंगे। अब बतलाओ कि तुम और क्या चाहते हो?"

राजा ने कहा, "महाराज! भला, अब कौनसी बात बाकी रह गई है, जिसकी मैं आकाँक्षा करूँ?" परन्तु यदि आपकी इतनी ही कृपा है तो मैं यह प्रार्थना करता हूं कि परम यत्नपूर्वक प्रजा का कल्याण करता हुआ राज्य कर सकूं, सदा सरस्वती और विद्वानों की पूजा किया करूँ और अन्त में मुझे मोक्ष प्राप्त हो।"

मुनि ने कहा, "तथास्तु"।

मुनि तथा मुनिपत्नी से आज्ञा लेकर राजा अपनी स्त्री तथा पुत्र के साथ अपनी राजधानी में गया और वहाँ बहुत अच्छी तरह प्रजा का पालन करने लगा। शकुन्तला ने भी गृहस्थी का सारा भार अपने ऊपर ले लिया। यही नहीं बल्कि वह राज-कार्य में भी अपने पति को सब प्रकार से सहायता देने लगी।

दुष्यन्त मूर्तिमान् राजधर्म थे और शकुन्तला भी सत्कार्यों की मूर्ति थी; मानो साम्राज्य के प्रभाव और तपोवन की शान्ति—दोनों का विलक्षण मिलाप हुआ था। और इन्हीं दोनों के मिलाप से भरत का जन्म हुआ था। भरत ने ऐसे पिता और ऐसी माता

से शिक्षा प्राप्त की थी। इसी भरत ने भारतवर्ष की स्थापना की थी। इस भारतवर्ष के साम्राज्य का बल और राजसी ठाठ किसी समय सारे संसार में सबसे बढ़ा-चढ़ा था। परन्तु साथ-ही-साथ तपस्वियों की शान्ति की धारा भी इसमें निरन्तर बहती रहती थी। यह कहें तो अनुचित न होगा कि यह तापसी शकुन्तला और राजर्षि दुष्यन्त के अपूर्व मिलन का परिणाम था।

जनक से तर्क करने वाली

सुलभा

यह नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी राजा जनक के समय में जीवित थी। राजा जनक बड़े भारी विद्वान् और तत्त्व-जिज्ञासु थे। राज-काज में लगे रहने पर भी वे पूरे वैरागी थे। उनकी राजसभा में देश-देशान्तर के पण्डित एकत्र होकर धर्मशास्त्र सम्बन्धी चर्चा किया करते थे। सुलभा भी परम विदुषी और शास्त्र-चर्चा की अभिलाषिणी थी। योग की अनेक क्रियाओं और साधनों में तो यह पूरी तौर पर पारङ्गत ही थी। उपयुक्त पति न मिलने के कारण जीवन-पर्यन्त यह कुँआरी ही रही थी; और चूंकि उस समय स्त्रियों को विवाह से पहले भी सन्यास ले लेने का अधिकार था, इससे यह सन्यासिनी हो गई थी।

जब इसने सुना कि राजा जनक मोक्ष-धर्म में बड़े प्रवीण हैं, तो इसके मन में उनके ज्ञान को कसौटी पर कसने की इच्छा हुई। तब योग-विद्या द्वारा यह सन्यासिनी से एक अति सुन्दर युवती बन गई और विदेह नगरी जा पहुँची। वहाँ पर भीख माँगने के बहाने राजा जनक के पास गई। राजा ने जब इसे देखा तो इसके सुकुमार शरीर को देखकर उन्हें बड़ा अचरज हुआ। वे सोचने लगे कि भला यह सुकुमारी कौन है, किसकी

है और कहाँ से आई है? पश्चात् आदर-सत्कार करके बैठने को उत्तम आसन दिया, पाँव धोकर पूजा की तथा उत्तम-उत्तम भोजन कराकर तृप्त किया।

भोजन से निवृत्त हो जाने पर सुलभा ने राजा से मोक्ष-धर्म के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। पर इतने से ही उसका सन्तोष न हुआ। उसके मन में यह संशय हो रहा था कि राजा जनक भी मुक्त हैं या नहीं? तब उसने अपने योग-बल से राजा के मस्तिष्क में प्रवेश किया। तब तो राजा जनक कहने लगे—"हे पूज्यदेवी! तू क्या खेल खेल रही है? तू किसकी लड़की है, किसकी स्त्री है, कहाँ से आई है और कहाँ जायगी? बिना पूछे किसीको दूसरे की जाति, विद्या, आयु आदि का पता नहीं लगता; इसीसे मैं तुझसे यह सब पूछ रहा हूं। मैं तुझे अपना परिचय भी दिये देता हूँ। सुन, मैं राज-मद से मुक्त हूं। तेरे साथ में वैराग्य-सम्बन्धी चर्चा करना चाहता हूं। ऐसा और कोई नहीं जो तुझसे इस विषय में प्रश्न कर सके। परम बुद्धिमान् महात्मा पंचशिख का मैं शिष्य हूं। मेरी सारी शंकाओं को उन्होंने निवारण कर दिया है। योग और सांख्य-शास्त्र में मैं पारंगत हूं और मोक्ष के कर्म, उपासना तथा ज्ञान—इन तीनों साधनों को जानता हूं। महात्मा पंचशिख ने चातुर्मास मेरे ही यहाँ बिताया था। उन्होंने मुझे योग-विद्या की शिक्षा तो दी, पर राज्य छोड़ने की आज्ञा नहीं दी। उन्होंने तो मुझसे मोक्ष के लिए निष्काम कर्म करने के लिए ही कहा है। योग से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान की सहायता से ही सारे सुख-दुःखों से मुक्ति मिलती है। मुझे यही ज्ञान मिला है। इस सांसारिक जीवन से मुझे कुछ लेना-देना नहीं। जिस प्रकार भीगी हुई जमीन पर बोया हुआ बीज उग जाता है, वही हाल मनुष्य के कर्मों की उत्पत्ति का है। गुरुजी ने ज्ञान देकर

मेरे वासना-रूपी बीज का नाश कर दिया है, जिससे अब उसमें अंकुर ही नहीं फूटते। सुख और दुःख को मेरा मन समान समझता है। यदि कोई मेरे एक हाथ पर चन्दन लगावे और दूसरे हाथ को बाँस से छीलने लगे तो मेरे लिए तो ये दोनों कर्म बराबर ही हैं। मेरे लिए मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण सब एकसा हैं। मैं सब तरह के संगों को छोड़कर राज्य कर रहा हूँ; अतः मैं त्रिदण्डी सन्यासियों से भी बड़ा हूँ। शास्त्र में ज्ञान, उपासना और कर्म—ये तीन स्थितियाँ बताई गई हैं। महात्मा पंचशिख ने मुझे यह शिक्षा दी है कि कर्म से भला होता हो तो उसकी चिन्ता न रखनी चाहिये और कर्मों का प्रयोजन चाहे न रहा हो तो भी उनका त्याग न किया जाय। ऐसी वृत्ति रखने वाले व्यक्ति यम, नियम, काम, द्वेष, परिग्रह, मान, दम्भ, स्नेह—इन सब विषयों में समान बुद्धि रखते हैं। गेरुए वस्त्र पहनने, सिर मुँडाने, दण्ड धारण करने, कमण्डलु लेने आदि को मैं बाहरी चिह्न समझता हूँ। मेरे विचार से तो ये मोक्ष के हेतु नहीं; क्योंकि मुक्ति के लिए किसी वस्तु के त्याग अथवा स्वीकार को ही मैं आवश्यक नहीं मानता; मैं तो ज्ञान को ही आवश्यक समझता हूँ। इसीलिए धर्म, अर्थ, काम और राज्य-वैभव आदि बन्धनों में जकड़ा हुआ होने पर भी मैं मुक्त हूँ। स्नेह-रूपी बन्धन से बँधे हुए राज्य-प्रभुता के पाश को मैंने पत्थर पर घिसकर तेज किये हुए अपने त्याग-रूपी खड्ग से काट डाला है। यद्यपि मैं इस प्रकार जीवन-मुक्त हूँ, फिर भी तुझे योग के प्रभाव वाली देखकर तेरे प्रति मेरे मन में आदर का भाव पैदा हुआ है। हे भिक्षुकी! मुझे अचरज यही मालूम होता है कि तेरी सुन्दरता और अवस्था अभी योग के काबिल नहीं; फिर भी तुझमें सन्यासियों के योग-यम-नियम और आत्म-संयम भी स्पष्ट दीख पड़ते हैं। अतः मुझे शक होता है कि तूने

कहीं ढोंग तो नहीं रचा है ? तू ऐसी क्यों है और तेरा आन्तरिक उद्देश्य क्या है ? तुझे मेरी यह सलाह जरूर है कि अब तू अपने इस सन्यस्तधर्म को मत छोड़ना। मालूम तो ऐसा होता है कि इस गुप्त वेश में तूने जो कुछ किया वह सब यह जानने की इच्छा से ही कि जनक मुक्त है या नहीं। ख़ैर, अब तू अपने आप ही अपने आने का कारण, अपनी जाति, अपना अध्ययन आदि बातें बतला।"

सुलभा ने राजा को समझाया कि वाणी किस प्रकार की होनी चाहिये, उसमें किस प्रकार के शब्दों का व्यवहार करना चाहिये और वाणी के अन्दर दूसरे क्या-क्या गुण समाविष्ट हैं। उसने बताया कि वाणी को दूषित करने वाले नौ दोष होते हैं और नौ ही दोष बुद्धि को दूषित करने वाले होते हैं। इन अठारह दोषों से रहित और इनके विपरीत अठारह प्रकार के गुणों से युक्त जो वाणी हो, उसे वाक्य कहते हैं। वाक्य का और खुलासा करते हुए उसने बताया कि जिस वाक्य का अर्थ साफ़ तौर पर समझ में न आवे, उसे 'उपेतार्थ वाक्य' कहते हैं। जिस वाक्य के कई अर्थ न होते हों, उसे 'अभिन्नार्थ वाक्य' कहते हैं। जिस वाक्य में प्रशंसा करने वाले विशेषण हों, उसे 'न्यायवृत्त वाक्य' कहते हैं। संक्षेप में लिखा हो, उसे 'संक्षिप्त वाक्य' कहते हैं। जिसमें श्लेष, साम्य, कान्ति, ओज, आर्जव उदारता, रीति और गति—यह आठ गुण हों उसे 'कोमल' या 'श्लक्ष्ण' कहते हैं; और इसके विपरीत, इन आठ गुणों से रहित वाक्य को 'अश्लक्ष्ण' या 'अकोमल' कहते हैं। जिससे सन्देह पैदा न हो, उसे 'असंदिग्ध' कहते हैं। बुद्धि के दोषों में उसने काम, क्रोध, भय, लोभ, नम्रता, गर्व, लज्जा, दया और मान को गिनाया और कहा कि बुद्धि के इन नौ दोषों के साथ मैं कभी नहीं बोलती। राजन्!

सच्चा वक्ता तो उसीको जानना चाहिए जो किसी बात को इस प्रकार कह सके कि जिसमें अपने और दूसरे के अर्थ में फ़र्क न पड़े।

जैसे लाख और काष्ठ अथवा रज और जल की बूंदें स्वभावतः ही एक-दूसरे से मिली रहती हैं, वही हाल प्राणियों के शरीरों का भी है; शरीर से भिन्न आत्मा से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध---ये पांच इन्द्रियाँ मिली हुई हैं। अतः यही बात ठीक है कि इस विषय में पूछने के काबिल कुछ भी नहीं है।

तुमने मुझसे पूछा है कि 'तू कौन है?' पर यह प्रश्न ही व्यर्थ है, क्योंकि लाख और काष्ठ के संयोग की भांति जड़ और चेतन के संयोग से मैं बनी हूं। इसमें यदि तुम जड़ का प्रश्न करते हो तो जो जड़ तुममें है वही मुझमें भी है और समुदाय का करते हो, तो समुदाय भी जो तुममें है वही मुझमें है। अतः तुम्हारे प्रश्न व्यर्थ ही हैं।

रहीं इन्द्रियाँ, सो इन्द्रियों को कोई नहीं पूछता। तू कौन है? आँख अपने को नहीं देख सकती, कान अपने को सुन नहीं सकता, इसी प्रकार इन्द्रियां भी एक-दूसरे को नहीं जान सकतीं। दूसरी वस्तुओं को देखने के लिए आँखों को जैसे सूरज के उजाले की जरूरत पड़ती है वैसे ही इन्द्रियों को भी अन्य पदार्थों का प्रकाश करने के लिए बाहर के दूसरे गुणों की जरूरत पड़ती है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों के उपरान्त ग्यारहवां मन है, जिसके द्वारा मनुष्य भला-बुरा सोच सकता है। बारहवां गुण 'बुद्धि' है जिससे जानने योग्य बातें मालूम पड़ती हैं और शङ्काओं का निवारण होता है। तेरहवां गुण 'सत्व' है जिसके द्वारा यह मालूम पड़ता है कि प्राणी कहां तक सत्वगुणों वाला है। चौदहवां गुण 'अहङ्कार' है, जिसके द्वारा प्राणी यह मानता है कि 'मैं

कर्त्ता हूँ।' यह मेरा नहीं, ऐसा भान कराने वाला पन्द्रहवां है। सोलहवाँ 'अविद्या'। 'प्रकृति' और 'व्यक्ति' ये दो गुण सत्रहवें और अठारहवें हैं। सुख-दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय ऐसे जोड़ों का योग उन्नीसवां गुण है। तदुपरान्त 'काल' नाम का बीसवाँ गुण है, जिससे प्राणीमात्र की उत्पत्ति और संहार होते हैं। इस प्रकार बीस और सात (सत्ताईस) गुण कहे गये हैं, जिनमें विधि, वीर्य और बल को भी मिलाने से कुल तीस गुण हो जाते हैं। जिसमें ये तीसों गुण हों, वही शरीर नाम को प्राप्त करता है। हे राजेन्द्र! जो अव्यक्त प्रकृति इन कलाओं से व्यक्त हुई है वही मैं हूँ। तुम और दूसरे सब शरीरधारी भी वही हो। इसलिए ऐसे प्रश्न करने की जरूरत नहीं कि 'तू कौन है?'

स्त्री के गर्भ में बूंद का स्थापित होना और उससे शुरू होकर वीर्य और रुधिर से उत्पन्न होने वाली जो-जो अवस्थाएँ हैं उन्हें 'कलल' कहते हैं। इस कलल से बुदबुदे पैदा होते हैं। बुदबुदों से अण्डा बनता है और अण्डे से भिन्न-भिन्न अङ्ग नाखून और बाल पैदा होते हैं। नवां महीना समाप्त होने पर बच्चा पैदा होता है, तब अपने नाम के समान रूप उसे प्राप्त होता है और उसकी लाल अँगुलियां को देखकर उसे कुमार कहते हैं। समय के साथ यह कुमारावस्था चली जाती है और फिर वापस नहीं आती। इसके बाद वह युवावस्था और फिर वृद्धावस्था पाता है। क्रम-क्रम से इस प्रकार उसके पहले रूप का नाश हो जाता है और फिर से वह प्राप्त नहीं होती। बाद में, शरीर की जो सोलह कलाएँ बताई गई हैं, धीरे-धीरे उनमें परिवर्त्तन होता है, पर अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यह भेद किसीको मालूम नहीं पड़ता। जैसे बढ़िया घोड़ा दौड़ते समय हर एक पल में अपना स्थान बदलता रहता है वैसे ही यह शरीर भी हर पल में बदलता

रहता है। सब लोगों की निरन्तर यही गति है, तब ऐसे प्रश्न कहां सम्भव, कि कौन आया और कहां से आया? तुम मुझसे जो पूछते हो कि 'तू किसकी है और कहां से आई है।' वह प्रश्न ही बिलकुल फिजूल है। जिस प्रकार तुम अपने बारे में आत्मा को देखते हो, वैसे ही दूसरों के बारे में भी आत्मा को क्यों नहीं देखते? हे मैथिल! यदि तुम इस झगड़े से मुक्त हो कि 'यह मेरा है, यह मेरा नहीं है', तो ऐसी बातें पूछने से क्या प्रयोजन कि 'तू कौन है? किसकी है? और कहां से आई?'

इस प्रकार सुलभा ने तत्व-ज्ञान की अनेक बातें समझाकर राजा जनक का भ्रम दूर कर दिया। उसने यह सिद्ध कर दिया कि राज्य-वैभव को भोगते हुए, राज्य के बन्धनों से बँधे रहकर और संसार की सारी जिम्मेदारियों को अपने सिर पर लादकर मोक्ष का अधिकारी बनना बड़ा कठिन है। उसने कहा कि गृहस्थाश्रम में मुक्ति का पाना दुर्लभ है, इसके लिए तो त्याग-संन्यास ही श्रेष्ठ है।

अपने परिचय में उसने कहा—"जाति से मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न वैश्य, न शूद्र, तुम्हारी ही भांति क्षत्रिय-कुल में मेरी उत्पत्ति है। 'प्रधान' नामक राजर्षि का नाम तुमने सुना होगा; उनके कुल में मेरा जन्म हुआ है। मेरे पूर्वजों ने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे। मुझे अपने अनुरूप वर न मिलने से मैं कुँवारी हूँ और मोक्ष धर्म में प्रवृत्त हो साधुओं का व्रत धारण करके पृथ्वी पर अकेली ही घूमती फिरती हूं। मुझमें न तो छल-कपट है, न मैं दूसरों का धन हरण करती हूं। मैं तो अपने धर्म पर दृढ़ रहने वाली हूं। बिना सोचे-समझे मैं कुछ नहीं बोलती, तुम्हारे पास भी मैं बिना किसी उद्देश्य के नहीं आई हूँ। मैंने तुम्हारी बड़ी प्रशंसा सुनी थी, परन्तु अब मालूम हुआ कि तुम्हारे मोक्ष-सम्बन्धी विचार भ्रम से भरे हुए

हैं। तुम्हारे विचार जानने और अपने विचार तुमपर प्रकट करके तुम्हें उचित मार्ग पर लाने के लिए ही मैं आई थी। अपने पक्ष का समर्थन तथा दूसरे का खण्डन करने के लिए पक्षपात से काम लेकर नहीं, किन्तु तुम्हारे भले के लिए, मैं कहती हूं कि मैं तो जीवन्मुक्त हूं, इसलिए मुझे तो तुम्हारे उपदेश की ज़रूरत नहीं है। पर जो पुरुष अपनी जीत के लिए पहलवान की भांति वाद-विवाद रूपी कसरत नहीं करता और जो ब्रह्म के बारे में चुप है, वही मुक्त है; किन्तु तुम तो अपने पक्ष को सच्चा सिद्ध करने के लिए वाद-विवाद करते हो, इसलिए तुम मुक्त नहीं और इस लिए तुम्हें मेरी बातों का आदर करना चाहिए।"

राजा जनक जैसे परमज्ञानी से शास्त्र के गूढ़ तत्त्वों की चर्चा में टक्कर लेना कोई छोटी बात न थी। पर जनक और सुलभा का यह सारा वार्त्तालाप पढ़ने ही योग्य है। इससे इस प्राचीन आर्य-महिला की गम्भीर विद्वत्ता का अनुमान सहज ही हो जाता है।

———